

## चौथे कर्मग्रन्थका शुद्धिपत्र.



अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
भेद अपर्याप्तिरूपस	भेद पर्याप्त अपर्याप्तिरूपस	९	१०
होती है	होती है <sup>१</sup>	१९	७
ममुदायो	ममुदायको	२८	३
अन्तर्मुहूर्तप्रमाण	अन्तर्मुहूर्तप्रमाण <sup>१</sup>	२८	१०
समयकी	समयकी <sup>१</sup>	२९	७
नौ वर्ष	आठ वर्ष	३०	७
द्व्यमुयामोव	द्व्यमुयामावे	४५	१८
ममाइ छेय अपरिहार	सामाइअ छेय परिहार	५७	१३
अदत्ताय	अदत्ताय	५७	१३
बादर	स्थावर	६७	१२
ईगवे	गावे	६४	१८
आकार	आकर	८८	३
भव्यमिति	भव्यमति	९५	१७
धीमुनिमत्रसुरि	धीमुनिचत्रसुरि	१५०	१९
करार	कर	१५३	५
मिध्यात्व <sup>१</sup>	मिध्यात्व <sup>३</sup>	१७६	८
सयागिनि	सयागिनि	१८५	१५
नियही	नियही	१९७	७
मिध्यात्वनि	मिध्यात्वाति	१९४	३
प्रया	प्रयो	१९६	७
पइटिइ सम	पइटिइ अमख	२२३	१२
अन्य	अन्यत्र	२४६	२७





## सूचना

य-ता विज्ञान सभ्यता प्रामाण्य और चरित्र प्रभावों तथा तात्त्विक प्रभावों में अतिसूक्ष्म, तब या स्वतंत्र निष्पत्ति प्राप्त होने और विज्ञान प्रामाण्य में उत्तम प्रकार निष्पत्ति है कि यह हममें परस्पर प्रभाव करें, अगर यह चाहेगा तो वह यह कि यह प्रभाव उन्हीं पुरस्कार भी होगा अनुवादक निम्न य प्रभाव अभी निम्न जा सकते हैं—सन्धान नैतिकता का शास्त्रज्ञान समुच्चय प्रामाण्य समुच्चय योग प्राप्त अर्थात् महतीरूपविधि आदि ।

ए-ता धनिक मद्रास हिन्दी में गादिना नाम प्रेमी है उत्तम प्रकार अनुसंधान है कि वह अगर अपने धन का उपयोग सर्वोत्तमो गादियों करना चाहे तो मद्रास सभाया दत्त वैसा कर सकते हैं मद्रास मुख्य पक्ष हिन्दी में जैन साहित्य तैयार करने का है अभी तकमें यह ज्ञात प्रकाशित प्रभावों पर विचार सुधीय मगकर किया जा सकता है प्रामाण्य जैसे कमप्रभाव उत्तर य प्रभाव निम्न तैयार है

- |   |   |   |     |
|---|---|---|-----|
| १ | प्रकाश रात्र प्रनिष्पन्न हिन्दी अनुवाद सह पत्रप्रनिष्पन्न हिन्दी अनुवाद सह              | } | भेद |
| २ | पानपत्र योगदान तथा दालिनी योगविधिरा (यामनिष्पत्ति की कृति प्रति तथा हिन्दी गार मन्त्रि) |   |     |

वि० द १॥)

तो महामय अपने किसी पक्ष व्यक्ति के स्वरूप या शास्त्र प्रकाश को सामान्य प्रभाव तैयार कराना चाहें और तदर्थ पूरा सब उपाय करें उन्हीं इच्छा अनुवाद महल प्रभाव कर सकेंगा परन्तु सुनिश्चित कर लेना चाहिए

निवेदन—

परी आम्मानन्द जैनपुस्तकप्रचारक महल

श्रीमद्विजयानन्दसूरिभ्यो नमः ।

श्रीदेवेन्द्रसूरि-विरचित—

‘पडशीति’-अपरनामक—

चौथा कर्मग्रन्थ ।

पं० सुखलालजी-कृत—

हिन्दी अनुवाङ् और टीका टिप्पणी आदि सहित ।

श्रीआत्मानन्द-जैन-पुस्तक प्रचारक-मण्डल,  
रोशनमुहल्ला, आगरा द्वारा प्रकाशित ।

श्रीलक्ष्मीनागवण प्रेस काजीमें मुद्रित ।



वीर स० २४४८, विक्रम स० १९७८ }  
आम स० २७ }  
शक स० १८४३, इस्वी स० १९२१ }

मूल्य २)

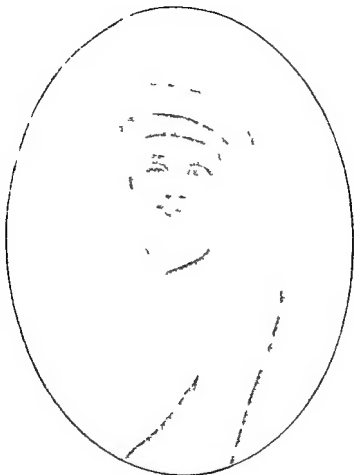


प्रवेशक—

श्रीकाशीप्रान्त-जैन पुस्तक-संस्कारक संघटन  
रोगनमुद्रता कागरी ।

मुद्रक—

गणपति कृष्ण गुप्त  
श्रीवत्समीनामयण दम,  
मलनबड़ कागरी : १४-२२



सठ गजमणिस हम्

## विषयानुक्रमणिका ।

विषय ।	पृष्ठ ।
मङ्गल और विषय	१
जीवस्थान आदि विषयोंकी व्याख्या	३
विषयोंके क्रमका अभिप्राय	७
[ १ ] जीवस्थान अधिकार	६
जीवस्थान	६
जीवस्थानोंमें गुणस्थान	११
जीवस्थानोंमें योग	१५
जीवस्थानोंमें उपयोग	२०
जीवस्थानोंमें लेश्या यन्त्र आदि	४
प्रथमाधिकारके परिशिष्ट	३३
परिशिष्ट "क"	३३
परिशिष्ट "ख"	३६
परिशिष्ट "ग"	३८
परिशिष्ट "घ"	४०
परिशिष्ट "च"	४३
परिशिष्ट "छ"	४५
[ २ ] मार्गणास्थान अधिकार	४७
मार्गणाके मूल भेद	४७
मार्गणाओंकी व्याख्या	४७
मार्गणास्थानके अघान्तर भेद	५१





विषय	पृष्ठ
गतिमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५१
इन्द्रियमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५२
कायमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५२
योगमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५२
वृद्धमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५३
कषायमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५५
ज्ञानमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५६
सयममार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५७
दशनमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	६२
लक्ष्यमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	६३
भयत्वमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	६५
सम्बन्धमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	६५
सञ्जीवमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	६७
मार्गणाओंमें जीवस्थान	६८
आहारमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	६८
मार्गणाओंमें गुणस्थान	८०
मार्गणाओंमें याग	८०
मनोयोगके भेदोंका स्वरूप	८०
ध्यानयोगके भेदोंका स्वरूप	८१
काययोगके भेदोंका स्वरूप	८२
मार्गणाओंमें योगका विचार	८४
मार्गणाओंमें उपयोग	१०५
मार्गणाओंमें लक्ष्य	११४
मार्गणाओंका अल्प बहुत्व	११५
गतिमार्गणाका अल्प बहुत्व	११५



## विषय

पृष्ठ

इन्द्रिय और काय मार्गणाका अल्प बहुत्व

१८२

योग और वेद मार्गणाका अल्प बहुत्व

१८४

कषाय, क्षान, सयम और दर्शन मार्गणाका अल्प बहुत्व

१८६

लेश्या आदि पाँच मार्गणाओंका अल्प बहुत्व

१८८

## द्वितीयाधिकारके परिशिष्ट

१३४

परिशिष्ट "ज"

१३४

परिशिष्ट "झ"

१३६

परिशिष्ट "ट"

१४१

परिशिष्ट "ठ"

१४३

परिशिष्ट "ड"

१४६

परिशिष्ट "ढ"

१४८

परिशिष्ट "त"

१४९

परिशिष्ट "थ"

१५४

परिशिष्ट "द"

१५५

परिशिष्ट "ध"

१५७

## [ ३ ] गुणस्थानाधिकार

१६१

गुणस्थानोंमें जीवस्थान

१६१

गुणस्थानोंमें योग

१६३

गुणस्थानोंमें उपयोग

१६५

सिद्धान्तके कुछ मन्तव्य

१६८

गुणस्थानोंमें लेश्या तथा बन्ध हेतु

१७२

बन्ध हेतुओंके उत्तरभेद तथा गुणस्थानोंमें मूल बन्ध हेतु

१७५

एक सौ बीस प्रकृतियोंके यथासमय मूल बन्ध हेतु

१७६

# वक्तव्य ।

—\*—

प्रस्तुत पुस्तकको पाठकोंके समक्ष उपस्थित करते हुए मुझे थोड़ा-सा निवेदन करना है । पहले तो इस पुस्तकके लिये आर्थिक मदद देनेवाले महानुभावोंका नाम स्मरण करके, सस्थाकी ओरसे उनका सप्रेम धन्यवाद देना मैं अपना फर्ज समझता हूँ ।

एक हजार रुपये जितनी बड़ी रकम तो सेठ हेमचन्द अमरचन्द मागरोलवालेकी है । जो उनके स्वर्गवासी पुत्र सेठ नरोत्तमदास, जिनका फोटो इस पुस्तकके आरम्भमें दिया गया है, उनके स्मरणार्थ सेठ हेमचन्द भाईकी भ्रातृजाया श्रीमती मणी बहनने महाराज श्रीवल्लभविजयजीकी सम्मतिसे मण्डलकी सस्थाको भेंट की है । आमतौर मणी बहनकी कुलक्रमगत उदारता और गुणमाहकता कितनी प्रशंसनीय है, यह बात एक बार भी उनके परिचयमें आनेवाले स्वजनको विदित ही है । यहाँ तक सेठकी विशेष जीवनी न लिख कर सिर्फ कुछ वाक्योंमें उनका परिचय कराया जाता है ।

सेठ हेमचन्दभाई काठियावाड़में मागरोलक निवासी थे । वे वम्बईमें कपड़ेके एक अच्छे व्यापारी थे । उनकी विद्यारसिकता इसीसे सिद्ध है कि उन्होंने देश तथा विदेशमें उद्योग, दुस्तर आदिकी शिक्षा पानेवाले अनेक विद्यार्थियोंको मदद दी है । महाराज श्री-वल्लभविजयजीको वम्बई आमन्त्रित करने और महावीरजैनविद्यालय-सस्थाकी स्थापनाकी कल्पनामें सेठ हेमचन्द भाईका उत्साह

विषय	पृष्ठ
गुणस्थानोंमें उत्तर य अ हतुओंका सामान्य तथा विशेष ध्यान	१८१
गुणस्थानोंमें शत्रु	१८७
गुणस्थानोंमें सत्ता तथा उदय	१८६
गुणस्थानोंमें उदीरणा	१८०
गुणस्थानोंमें अत्य बहुत्व	१८२
सह भाव और उनका भेद	१८६
कर्मक और धर्मास्तिकाय आदि अज्ञाय द्रव्योंक भाव	२०४
गुणस्थानोंमें मूल भाव	२०६
सत्पात्रा विचार	२०८
सहयोग के भेद प्रभेद	२०८
सहयोग नीति भेदोंका स्वरूप	२०८
पर्योक्त नाम तथा प्रमाण	२१०
पर्योक्त मरण आदिकी विधि	२१२
सर्वपरिपूर्ण पर्याप्त ब्रह्मयोग	२१७
असत्यात और अनन्तका स्वरूप	२१८
असत्यात तथा अनन्तके भेदोंके विषयमें कर्मग्रन्थिक मत	२२१
तृतीयाधिकारके परिशिष्ट	२२७
परिशिष्ट 'घ'	२२७
परिशिष्ट 'फ'	२२६
परिशिष्ट 'ब'	२३१
परिशिष्ट न० १	२३३
परिशिष्ट न० २	२३६
परिशिष्ट न० ३	२४०

कारण था। उक्त सेठकी धार्मिकताका परिचय तो उनकी जैन धार्मिक परीक्षाकी इनामी योजनासे जैन समाजको मिल ही चुका है, जो उन्होंने अपने पिता सेठ अमरचन्द तलकचन्दके स्मरणार्थ की थी। उक्त सेठसे जैन समाजको बड़ी आशा थी, पर वे पैंतीस वर्ष जितनी छोटी उम्रमें ही अपना कार्य करके इस दुनियासे चले गये। सेठ हेमचन्द भाईके स्थानमें उनके पुत्र नरोत्तमदास भाईके ऊपर लोगों की दृष्टि ठहराई थी, पर यह बात कराल कालको मान्य न थी। इन लिये उसने उनका भी धार्मिक कार्य जितनी छोटी उम्रमें ही अपना अतिथि बना लिया। नि सन्देह ऐस होनहार व्यक्तियों की कमी बहुत खटखटी है, पर दैवकी गतिके सामने किसका उपाय।

ठाई सौ रुपयेकी मदद बसाई निवासी सेठ दीपचन्द तलाजी सादहीवालन प्रवर्तक श्रीकान्तिविजयजी महाराजकी प्रेरणासे दी है। इसकेलिये वे भी मण्डलकी ओरसे धन्यवादके भागी हैं।

दो सौ रुपयेकी रकम अहमदाबादवाले सेठ हरिचन्द कक्कलके यहाँ निम्नलिखित तीन व्यक्तियोंकी जमा थी, जो सन्मित्र कर्पूरविजयजी महाराजकी प्रेरणासे मण्डलको मिली। इसलिये इन तीन व्यक्तियों की उदारताको भी मण्डल कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता है।

- १ कच्छवाले सेठ आशली आजीमवानजी रु० १०० (साध्वीजी गुणशीलके ससारी पुत्र)
- २ श्रीमती गंगाबाई रु० ५० (अहमदाबादवाले सेठ लालभाईकी माता)
- ३ श्रीमती शृंगारबाई रु० ५० (अहमदाबादवाले सेठ वमाभाई इठीभाईकी विधवा)

## गस्तावनाका शुद्धिपत्र.



अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पक्ति
ग्रन्थमें	ग्रन्थमें	३	१
पर्यायनियोग	पर्यायनियोग	३	११
नर्पल	नदीनमें		१९
दी	दो	७	२१
उद्गार	उद्गार	८	१
किमी	किन्	४	४
कोई कोई	कोई कोउ विषय	५	१०
शुद्ध, अशुद्ध	शुद्ध स्वरूपका और दूसरे अशुद्ध	९	१६
पर आत्माका	आत्माका	१०	१३
रमक	पर उसने	१०	१४
शोस	होस	१३	१९
विधायार्ह	विधायार्ह	१३	२१
जह पा विग्या	जह बहुविग्या	१	१३
दा दे	मेता दे	१४	२०
जतठनियह	जतठविपह	१५	९
यत्ता	यत्ता	१५	१०
यटिनियत्ता	यटिनियत्ता	१५	११
टिई यदो	टिई पदो	१५	१३
रागदोसा	रागदोसा	१५	१४
पिपासव	यियासव	१५	१८
मति	मित	१६	६
चौरद्वस्तु	चौरद्वस्तु	१६	१७
कणदीप्र	कणदीप	१७	१८



यह पुस्तक लिखकर तो बहुत दिनोंसे तैयार थी, पर छापेखानेकी सुविधा ठीक न होनेसे इसे प्रकाशित करनेमें इतना विलम्ब हुआ। जल्दी प्रकाशित करनेके इरादेसे बम्बई, पूना, आग्रा और कानपुरमें खास तजवीज की गई। बड़ा खर्च उठानेके बाद भी उक्त स्थानोंमें छपाईका ठीक मेल न बैठा, अन्तमें काशीमें छपाना निश्चित हुआ। इसलिये ५० सुखलालजी गुजरातसे अपने सहायकोंके साथ काशी गये और चार महीन ठहरे। फिर भी पुस्तक पूरी न छपी और तबीयत बिगड़नेके कारण उनको गुजरातमें वापिस जाना पड़ा। छापेका काम काशीमें और ५० सुखलालजी हजार मील जितनी दूरीपर, इसलिये पुस्तक पूर्ण न छपनेमें बहुत अधिक विलम्ब हुआ, जो क्षम्य है।

ऊपर जिस मददका उल्लेख किया गया है, उसको देखकर पाठकोंके दिलमें प्रश्न हो सकता है कि इतनी मदद मिलनेपर भी पुस्तकका मूल्य इतना क्यों रक्खा गया? इसका सच्चा समाधान करना आवश्यक है। मण्डलका उद्देश्य यह है कि जहाँ तक हो सक कम मूल्यमें हिंदी भाषामें जैन धार्मिक ग्रन्थ सुलभ कर दिये जायें। ऐसा उद्देश्य होनेपर भी, मण्डल लेखक पण्डितोंस कभी ऐसी जल्दी नहीं कराता, जिसमें जल्दीके कारण लेखक अपने इच्छानुसार पुस्तकको न लिख सकें। मण्डलका लेखक पण्डितोंपर पूरा भरोसा है कि वे खुद अपने शौकमें लेखनकार्यको करते हैं, इसलिये वे ने तो समय ही बूया बिता सकते हैं और न अपनी जानिवसे लिखनेमें कोई कसर ही छोड़ा रखते हैं। अभीर्तिक लेखनकार्यमें मण्डल और लेखकका व्यापारिक सम्बन्ध न होकर साहित्यसेवाका नाता रहा है, इसलिये यथेष्ट वाचन, मनन आदि करनेमें लेखक स्वतन्त्र रहते हैं। यही कारण है कि पुस्तक तैयार होनेमें अन्य सस्याओंकी अपेक्षा अधिक विलम्ब होता है।

विषयो	विषयो	१८	१५
विश्व्यापति	विश्व्यापति	१९	२१
		१९	२२
प्रकार द्वेषणी	प्रकार रागद्वेषणी	१	८
और अन्तमे	अन्तमे	२६	०
मन्त्र १ ला	मन्त्र अभात् न तो	२९	१३
बुद्धि	बुद्धि	३३	३
सामाधि	सामाधिक	३६	३
स्त्वात्मनैषाणु	स्त्वात्मनैषाणु	३७	१३
मन्त्रियदु अ	मन्त्रियदु अ	३८	१८
वर्थाया	वर्थाया	३८	१९
विचारणा	विचारणा	३८	३
सदाऽपि	मन्त्रयोऽपि	४३	७
ओ शास्त्र	पा जैनशास्त्र	४८	१
परानर्त्तिके जैन	परानर्त्तिके	४८	१
भाषात् धर्म	भाषातधर्म	०	१४
भयाभिनन्द	भयाभिनन्द	५१	५
भोगसमन्वितम्	भोगसमन्वितम्	५२	२०
	बौद्ध शास्त्रमे पाया जानेवाला		
	गुणस्थान जैना विचार—	५३	१३
सम्पादित मराठि—			
गाथांतरित—	सम्पादित	५३	१३
अविनिपात धर्मानिषत्	अविनिपातधर्मा नियत	५४	८
विचिकिञ्छा	विचिकिञ्छा	५५	२०
मन्त्रिमन्त्रिकाय	दीपनिकाय	५	२४



## निवेदन ।

इस पुस्तकका लेखक मैं हूँ, इसलिये इसके सम्बन्धमें दो-चार आवश्यक बातें मुझको कह देनी हैं । करीब पाँच साल हुए यह पुस्तक लिखकर छापनेको दे दी गई, पर कारणवश वह न छप सकी । मैं भी पूनासे लौटकर आगरा आया । पुस्तक न छपी देखकर और लेखनविषयक मेरी अभिरुचि कुछ बढ जानेके कारण मैंने अपने मित्र और मण्डलके मन्त्री बाबू डालचंदजीसे अपना विचार प्रकट किया कि जो यह पुस्तक लिखी गई है, उसमें परिवर्तन करने का मेरा विचार है । उक्त बाबूजीने अपनी उदार प्रकृतिके अनुसार यही उत्तर दिया कि समय व स्रुच की परवा नहीं, अपनी इच्छाके अनुसार पुस्तकको नि सकोच भावसे तैयार कीजिये । इस उत्तरसे उत्साहित होकर मैंने थोड़ेसे परिवर्तनके स्थानमें पुस्तकको बिलकुल दुबारा ही लिख डाला । पहले नोटें नहीं थीं, पर दुबारा लेखनमें कुछ नोटें लिखनेके उपरांत भावार्थका क्रम भी बदल दिया । एक तरफ छपाईका ठीक सुभीता न हुआ और दूसरी तरफ नवीन वाचन तथा मनन का अधिकाधिक अवसर मिला । लेखन कार्यमें मेरा और मण्डलका सम्बन्ध व्यापारिक तो था ही नहीं, इसलिये विचारने और लिखनेमें मैं स्वस्थ ही था और अब भी हूँ । इतनेमे मेरे मित्र राम णलाल आगरा आये और सहायक हुए । उनके अवलोकन और अनुभवका भी मुझे सविशेष सहारा मिला । चित्रकार चित्र तैयार कर उसके ग्राहकको जबतक नहीं देता, तबतक उसमें कुछ न कुछ नयापन लानेकी चेष्टा करता ही रहता है । मेरी भी वही दशा हुई ।

यद्यपि इस ग्रन्थमें ग्रन्थकारने भावोंका और सत्त्याका भी विचार किया है ।

यह प्रश्न हो ही नहीं सकता कि तीसरे कर्मग्रन्थकी संगतिके अनुसार मार्गणास्थानोंमें गुणस्थानों मात्रका प्रतिपादन करना आवश्यक होने पर भी, जैसे अन्य अन्य विषयोंका इस ग्रन्थमें अधिक वर्णन किया है, वैसे और भी नये नये कई विषयोंका वर्णन इसी ग्रन्थमें क्यों नहीं किया गया ? क्योंकि किसी भी एक ग्रन्थमें सब विषयोंका वर्णन असम्भव है । अतएव कितने और किन विषयों का किन क्रमसे वर्णन करना, यह ग्रन्थकारकी इच्छा पर निर्भर है, अर्थात् इस धातमें ग्रन्थकार स्वतन्त्र है । इस विषयमें नियोग पर्यं नियोग करनेका किसीको अधिकार नहीं है ।

## प्राचीन और नवीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ ।

‘पडशीतिक’ यह मुख्य नाम दोनोंका समान है, क्योंकि गाथाओं की सत्त्या दोनोंमें बराबर लियासी ही है । परन्तु नवीन ग्रन्थकारने ‘सूत्रमार्थ विचार’ ऐसा नाम दिया है और प्राचीनकी टीकाके अन्तमें टीकाकारने उसका नाम ‘आगमिक वस्तु विचारसार’ दिया है । नवीनकी तरह प्राचीनमें भी मुख्य अधिकार जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान ये तीन ही हैं । गौण अधिकार भी जैसे नवीन क्रमश आठ, छह तथा दस हैं, वैसे ही प्राचीनमें भी हैं । गाथाओंकी सत्त्या समान होते हुए भी नवीनमें यह विशेषता है कि उसमें वर्णनशैली सन्निवृत्त करके ग्रन्थकारने दी और विषय विस्तारपूर्वक वर्णन किये हैं । पहला विषय ‘भाव’ और दूसरा ‘सत्त्या’ है । इन दोनोंका स्वरूप नवीनमें सविस्तर है और प्राचीनमें यत्कुल नहीं है । इसके सिवाय प्राचीन और नवीनका विषय साम्य तथा क्रम साम्य बराबर है । प्राचीन पर टीका, टिप्पणी,

छपाईमें जैसे जैसे विलम्ब होता गया, वैसे वैसे कुछ न कुछ सुधारने-का, नवान भाव दाखिल करनेका और अनेक स्थानोंमें क्रम बदलते रहनेका प्रयत्न चालू ही रहा । अन्य कार्य करते हुए भी जब कभी नवीन कल्पना हुई, कोई नई बात पढ़नेमें आई और प्रस्तुत पुस्तकके लिये उपयुक्त जान पड़ी, सभी उसको इस पुस्तकमें स्थान दिया । यही कारण है कि इस पुस्तकमें अनेक नोटें और अनेक परिशिष्ट विविध प्रासङ्गिक विषयपर लिख गये हैं । इस तरह छपाईके विलम्बसे पुस्तक प्रकट होनेमें बहुत अधिक समय लग गया । मण्डलको स्वर्ण भी अधिक उठाना पड़ा और मुद्रकों भ्रम भी अधिक लगा, फिर भी वाचकोंको तो फायदा ही है, क्योंकि यदि यह पुस्तक जल्दी प्रकाशित हो जाती तो इसका रूप वह नहीं होता, जो आज है ।

दूसरी बात यह है कि मैंने जिन ग्रन्थोंका अवलोकन और मनन करके इस पुस्तकके लिखनमें उपयोग किया है, उन ग्रन्थोंकी सहायता साथ दे दी जाती है, इससे मैं बहुभुव होनेका दावा नहीं करता, पर पाठकोंका ध्यान इस ओर खींचता हूँ कि उन्हें इस पुस्तकमें किन और कितने ग्रन्थोंका कम से कम परिचय मिलेगा । मूल ग्रन्थके साधारण अभ्यासियोंकेलिये अर्थ और भावार्थ लिखा गया है । कुछ विशेष जिज्ञासुओंकेलिये साथ ही माथ उपयुक्त स्थानोंमें नोटें दी हैं, और विशेषदर्शी विचारकोंकेलिये आस-स्रास विषयोंपर विस्तृत नोटें लिखकर उनको ग्रन्थगत सीना अधिकारके बाद क्रमशः परिशिष्टरूपमें दे दिया है । कुछ छोटी और बड़ी नोटों में क्या क्या बात है, उसका सकलन खतौनीके तौरपर आखिरी चार परिशिष्टोंमें किया है । इसके बाद जिन पारिभाषिक शब्दोंका मैंने अनुवादमें उपयोग किया है, उनका तथा मूल ग्रन्थके शब्दोंका इस तरह

विशेष जिज्ञासुओंको एक दूसरेके समान विषयक ग्रन्थ भ्रमशय देसने चाहिएँ । इसी अभिप्रायसे अनुवादमें उस उस विषयका साम्य और वैयर्थ्य दिखानेके लिये जगह जगह गोमटसारके अनेक उपयुक्त स्थल उद्धृत तथा निर्दिष्ट किये हैं ।

## विषय-प्रवेश ।

जिज्ञासु लोग जब तक किसी भी ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयका परिचय नहीं कर लेते तब तक उस ग्रन्थके अध्ययनके लिये प्रवृत्ति नहीं करते । इस नियमके अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थके अध्ययनके निमित्त पाण्य अधिकारियोंकी प्रवृत्ति करानेके लिये यह आवश्यक है कि शुरुमें प्रस्तुत ग्रन्थके विषयका परिचय कराया जाय । इसी को "विषय प्रवेश" कहते हैं ।

विषयका परिचय सामान्य और विशेष दो प्रकारमें कराया जा सकता है ।

(क) प्रथम किस तात्पर्यसे बनाया गया है उसका मुख्य विषय क्या है और यह किनके विभागोंमें विभाजित है, प्रत्येक विभागमें सम्यग्ध रखनवाला ग्रन्थ कितन कितने और कौन कौन विषय है, इत्यादि ध्यान करके ग्रन्थक शब्दात्मक कलधरक साथ विषय रूप आत्माके सम्यग्धका स्पष्टीकरण कर देना अर्थात् ग्रन्थका प्रधान और गौण विषय क्या क्या है तथा यह किस किस प्रामसे परिणत है, इसका निर्देश कर देना, यह विषयका सामान्य परिचय है ।

(ख) लक्षण द्वारा प्रत्येक विषयका स्वरूप बतलाना यह उसका विशेष परिचय है ।

प्रस्तुत ग्रन्थके विषयका विशेष परिचय तो उस उस विषयके ध्यान मानमें ही यथासम्भव मूलमें किया विवेचनमें करा दिया

दो कोष दिये हैं। अनुवादके आरम्भमें एक विस्तृत प्रस्तावना दी है, जिसमें गुणस्थानके ऊपर एक विस्तृत निबन्ध है और साथ ही वैदिक तथा बौद्ध दर्शनमें पाये जानेवाले गुणस्थान सदृश विचारोंका दिग्दर्शन कराया है। मेरा पाठकोसे इतना ही निवेदन है कि सबसे पहले अन्तिम चार परिशिष्टोंका पढ़ें, जिससे उन्हें कौनसा कौनसा विषय, किस किस जगह देखने योग्य है, इसका साधारण खयाल आ जायगा। और पीछे प्रस्तावनाको, खासकर उसके गुणस्थान सम्बन्धी विचारवाले भागका एकाग्रतापूर्वक पढ़ें, जिससे आध्यात्मिक प्रगतिके क्रमका बहुत-कुछ धोष हो सकगा।

तीसरी बात कृतज्ञता प्रकाश करनेकी है। श्रीयुक्त रमणीकलाल मगनलाल मोदी बी० ए० से मुझे बड़ी सहायता मिली है। मेरे सहृदय सखा प० भगवानदास हरप्रचन्द और भाई हीराचन्द देव चन्दने लिखित काफी देखकर उसमें अनेक जगह सुधारणा की है। बदरचेता मित्र प० मामण्डलदेवने संशोधनका बोझा उठाकर उस सम्बन्धकी मेरी चिन्ता बहुत अंशोंमें कम कर दी। यदि उक्त महाशयोंका सहारा मुझे न मिलता तो यह पुस्तक वर्तमान स्वरूपमें प्रस्तुत करनेकेलिये कमसे कम मैं तो असमर्थ ही था। इस कारण मैं उक्त सब मित्रोंका हृदयसे कृतज्ञ हूँ।

अन्तमें थ्रुटिके सम्बन्धमें कुछ कहना है। विचार व मनन करके लिखनेमें भरसक सावधानी रखनेपर भी कुछ कमी रह जानेका अवश्य सम्भव है, क्योंकि मुझे तो दिन व दिन अपनी अपूर्णताका ही अनुभव होता जाता है। छपाईकी शुद्धिकी ओर मेरा अधिक खयाल था, तदनुकूल प्रयास और खर्च भी किया, पर लाचार, बीमार होकर काशीसे अहमदाबाद चले आनेके कारण



गया है। अतएव इस जगह विषयका सामान्य परिचय कराना ही आवश्यक पद्य उपयुक्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ बनानेका तात्पर्य यह है कि सामाजिक जीवोंकी भिन्न भिन्न अवस्थाओंका वर्णन करके यह घतलाया जाय कि अमुक अमुक अवस्थाएँ औपाधिक, वैभाविक किंवा कर्मजन होनेसे अस्वायी तथा हेय हैं, और अमुक अमुक अवस्था स्वाभाविक होनेके कारण स्थायी तथा उपादेय है। इसके सिवा यह भी घतलाना है कि, जीवका स्वभाव प्राय विकास करनेका है। अतएव वह अपने स्वभावके अनुसार किस प्रकार विकास करता है और तद्द्वारा औपाधिक अवस्थाओंको त्याग कर किस प्रकार स्वाभाविक शक्तियोंका आविर्भाव करता है।

इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये प्रस्तुत ग्रन्थमें मुख्यतया पाँच विषय वर्णन किये हैं —

(१) जीवस्थान, (२) मार्गणास्थान, (३) गुणस्थान, (४) भाव और (५) सत्त्वा।

इनमेंसे प्रथम मुख्य तीन विषयोंके साथ अन्य विषय भी वर्णित हैं — जीवस्थानमें (१) गुणस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) वन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा और (८) सत्ता ये आठ विषय वर्णित हैं। मार्गणास्थानमें (१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या और (६) अल्प बहुत्व, ये छ विषय वर्णित हैं। तथा गुणस्थानमें (१) जीवस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) वन्ध हेतु, (६) वन्ध, (७) उदय, (८) उदीरणा, (९) सत्ता और (१०) अल्प बहुत्व, ये दस विषय वर्णित हैं। विद्युत्ते दो विषयोंका अर्थात् भाव और सत्त्वाका वर्णन अन्य अन्य विषयके वर्णनसे मिश्रित नहीं है, अर्थात् उन्हें लेकर अन्य कोई विषय वर्णन नहीं किया है।

तथा प्रस्तावनाका भाग तो बिल्कुल परोक्षतामें छपनेके कारण कुछ गलतियों छपाईमें अवश्य रह गई हैं, जिनका दुःख वाचकोंकी अपेक्षा मुझको अधिक है। इसलिये विचारशील पाठकोंसे यह अनवदन है कि वे त्रुटियों सुधार लेवे, अगर वे मुझको सूचना देंगे तो मैं उनका कृतज्ञ रहूँगा।

भावनगर  
शुबत् १९७८  
फाल्गुन शुक्ल चतुर्थी ।

निवेदक—  
मुखलाल सघवी ।

अध्यात्मसे इस जगद् गुणस्थानका स्वरूप कुछ विस्तारके साथ लिखा जाता है। साथ ही यह भी बतलाया जायगा कि जैन शास्त्रकी तरह वैदिक तथा बौद्ध शास्त्रमें भी आध्यात्मिक विकासका कैसा धर्मेन है। यद्यपि ऐसा करनेमें कुछ विस्तार अग्रश्य हो जायगा, तथापि नीचे निम्ने आगेवाले विचारसे जिज्ञासुओंकी यदि कुछ भी ज्ञान वृद्धि तथा रुचि वृद्धि हुई तो यह विचार अनुपयोगी न समझा जायगा।

गुणस्थानका विशेष स्वरूप ।

गुणों (आत्मशक्तियों) के स्थानोंका अर्थात् विकासकी क्रमिक अवस्थाओंका गुणस्थान कहते हैं। जैनशास्त्रमें गुणस्थान इन पाँच भाषिक शब्दका मतलब आत्मिक शक्तियोंके आविर्भावकी—उनके शुद्ध कार्यरूपमें परिणत होते रहनेकी तर तम भाषाएँ अथवा स्थाओंसे है। पर आत्मा का वास्तविक स्वरूप शुद्ध-चेतना और पूर्णानन्दमय है। उसका लक्षण जड़ता का अन्तर्गत होना या दृष्टी की घटा छाई हो, तब तब स्वच्छ चेतना स्वरूप दिग्भास नहीं देता। किन्तु आप्तगुणोंके प्रमत्त सिधित या नष्ट हात ही उसका असली स्वरूप प्रकट होता है। जब आप्तगुणोंकी रीघता आविरी हुईकी हो, तब आत्मा प्राथमिक अवस्थामें—अविक्सित अवस्थामें पड़ा रहता है। और जब आप्तगुण विकृत हो जाते हैं, तब आत्मा चरम अवस्था—शुद्ध स्वरूपकी पूर्णतामें वर्तमान हो जाता है। जैसे जैसे आप्तगुणोंकी तीव्रता कम होती जाती है, वैसे वैसे आत्मा भी प्राथमिक अवस्थाको छोडकर धीरे धीरे शुद्ध स्वरूपका लाभ करता हुआ चरम अवस्थाकी ओर प्रस्थान करता है। प्रस्थानके समय इन दो अवस्थाओंके बीच उसे अनेक नीची ऊँची अव

# जिन पुस्तकोंका उपयोग प्रस्तुत अनुवाद हुआ है, उनकी सूची ।



ग्रन्थ नाम ।	कर्ता ।
आचाराङ्गनिर्युक्त	भद्रबाहुस्वामी
„ टीका	शीलाङ्गाचार्य
सूत्रकृवाङ्गनिर्युक्त	भद्रबाहुस्वामी
„ टीका	शीलाङ्गाचार्य
भगवतीसूत्र	सुघर्मस्वामी
„ टीका	अभयदेवसूरि
आवश्यकीनिर्युक्त	भद्रबाहुस्वामी
„ टीका	हरिभद्रसूरि
नन्दीसूत्र	दववाचक
„ टीका	मलयगिरि
उपासकदशाङ्ग	सुघर्मस्वामी
औपपातिकोपाङ्ग	आर्ष
अनुयोगद्वार	आर्ष
„ टीका	मलधारी हेमचन्द्रसूरि
जीवाभिगम	आर्ष

स्थाओंका अनुभव करना पड़ता है। प्रथम अवस्थाको अविकास-की अथवा अध पतनकी पराकाष्ठा और चरम अवस्थाको विकास की अथवा उत्क्रान्तिकी पराकाष्ठा समझना चाहिये। इस विकास क्रमकी मध्यवर्तिनी सब अवस्थाओंको अपेक्षासे उच्च भी कह सकते हैं और नीच भी। अर्थात् मध्यवर्तिनी कोई भी अवस्था अपनेसे ऊपरवाली अवस्थाकी अपेक्षा नीच और नीचेवाला अवस्थाकी अपेक्षा उच्च कही जा सकती है। विकासकी ओर अग्रसर आत्मा वस्तुतः उक्त प्रकारकी सख्यातीत आध्यात्मिक भूमिकाओंका अनुभव करता है। पर जैनशास्त्रमें सर्वप्रथम वर्गीकरण करके उनके चौदह विभाग किये हैं, जो "चौदह गुणस्थान" कहलाते हैं।

सब आघरणोंमें मोहका आवरण प्रधान है। अर्थात् जब तक मोह यथाथा और तीव्र हो, तब तक अन्य सभी आघरण पल्लवान् और नीच रहे रहते हैं। इसके विपरीत मोह व निबल होते ही अन्य आघरणोंकी घेसी ही दशा हो जाती है। इसलिए आत्माके विकास करनेमें मुख्य यात्रक मोहकी प्रयत्नता और मुख्य सहायक मोहकी निर्मलता समझनी चाहिये। इसी कारण गुणस्थानोंकी—विकास सम्भूत अवस्थाओंकी कल्पना मोहशक्तिकी उत्कटता, मन्दता तथा अभाव पर अवलम्बित है।

मोहकी प्रधान शक्तियाँ दो हैं। इनमेंसे पहली शक्ति, आत्माको दृश्य अर्थात् स्वरूप पररूपका निर्णय बिना जड़ चेतना विभाग या विज्ञान-रूप में ही रहती, और दूसरी शक्ति आत्माको विज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति अर्थात् अध्यास—पर परिणतित छुटकर स्वरूप लाभ नहीं करने देती। व्यवहारमें पैर पैरपर यह देखा जाता है कि किसी वस्तुका यथार्थ दर्शन धोव कर लेने पर ही उस वस्तुको पाने या त्यागनेकी चेष्टा की जाती है और वह सफल भी होती है। आध्यात्मिक विकास गामी आत्माके लिये भी मुख्य दो ही

ज्ञानविन्दु	यशोविजयोपाध्याय
धर्मसमूह	मानविजयोपाध्याय
विशेषशतक	समयसुन्दरोपाध्याय
द्रव्यगुणपर्यायरास	यशोविजयोपाध्याय
नयचक्रसार	देवचन्द्र
आगमसार	"
जैनतत्त्वादर्श	विजयानन्दसूरि
नियमसार	कुन्दकुन्दाचार्य
छान्दिसार	नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती
त्रिलोकसार	"
गोष्मटसार	"
द्रव्यसमूह	"
षट्पाहुड	कुन्दकुन्दाचार्य
प्रमेयकमलमार्तण्ड	प्रभाचन्द्राचार्य
मङ्गिमनिकाय मराठीभाषान्तर	श्री० सि० वी० राजवाडे
दीपनिकाय	"
सांख्यदर्शन	कपिलर्षि
पातञ्जलयोगदर्शन	पतञ्जलि
" भाष्य	व्यासर्षि
" श्रुति	वाचस्पति
" "	यशोविजयोपाध्याय
योगवासिष्ठ	पूर्वर्षि
महाभारत	महर्षि व्यास
श्वेताश्वतरोपनिषद्	पूर्व ऋषि

भी होते हैं जो करीब करीब ग्रन्थिभेद करने लायक बल प्रकट करके भी अन्तमें राग द्वेषके तीव्र प्रहारोंसे आहत होकर व उनसे हार खाकर अपनी मूल स्थितिमें आ जाते हैं और अनक बार प्रयत्न करने पर भी राग द्वेष पर जयलाम नहीं करते । अनेक आत्मा ऐसे भी होते हैं, जो न तो हार ग्राहक पीछे गिरते हैं और न जय लाम कर पाते हैं, किन्तु वे चिरकाल तक उस आध्यात्मिक युद्धके मैदानमें ही पड़े रहते हैं । कोई कोई आत्मा ऐसा भी होता है जो अपनी शक्तिका यथोचित प्रयोग करके उस आध्यात्मिक युद्धमें राग द्वेष पर जयलाम कर ही लता है । किसी भी मानसिक विकार की प्रतिवृत्तिनामें इन तीनों अवस्थाओंका अर्थात् कभी हार खाकर पीछे गिरनेका, कभी प्रतिस्पर्धामें डटे रहनेका और जयलाम करने का अनुभव हमें अकसर नित्य प्रति हुआ करता है । यही सधर्ष पहचानता है । सधर्ष विकासका कारण है । चाहे विद्या, चाहे धन, चाहे कीर्ति, कोई भी लालक वस्तु इष्ट हो, उसका प्राप्त करत समय भी अद्यात्मक अनक विघ्न उपस्थित होत हैं और उनका प्रतिवृत्तिनामें उक्त प्रकारकी तीनों अवस्थाओंका अनुभव प्रायः सबको हाता रहता है । कोई विद्यार्थी कोई वनार्थी या कोई कीर्ति वाटशी जब अपने इष्टक लिय प्रयत्न करता है । तब या तो वह बीचमें अनेक कठिनाइयोंको देखकर प्रयत्नका छोड़ ही देता है या कठिनाइयोंको पारकर इष्ट प्राप्तिक मार्गकी ओर अग्रसर हो । है । जो अग्रसर हाता है, वह बड़ा विद्वान्, बड़ा धनवान् या बड़ा कीर्तिशाली बन जाता है । जो कठिनाइयोंसे डरकर पीछे भागता है, वह पामर, अज्ञान, निर्धन या कीर्तिहीन बना रहता है । और जो न कठिनाइयोंको जीत सकता है और न उनसे हार मानकर पीछे भागता है, वह साधारण स्थितिमें ही पड़ा रहकर कोई ध्यान

भगवद्गीता

वैशेषिकदर्शन

न्यायदर्शन

सुभाषितरत्नभाण्डागार

काव्यमीमांसा

मानवसंतीतिशास्त्र

चिह्नार्थ पाली अंग्रेजी कोष

महर्षि व्यास

कणाद

गौतम ऋषि

राजशेखर





इस भावको समझानेके लिये शास्त्र\* में एक यह दृष्टान्त दिया गया है कि तीन प्रयासी कहीं जा रहे थे। बीचमें मयानक चोरोंको देखते ही तीनमेंसे एक तो पीछे भाग गया। दूसरा उन चोरोंसे डर कर नहीं भागा, किन्तु उनके द्वारा पकड़ा गया। तीसरा तो असाधारण बल तथा कोशलसे उन चोरोंको हराकर भागे पड़ ही गया। मानसिक विकारोंके साथ आध्यात्मिक युद्ध करनेमें जो जय पराजय होना है, उसका योडा बहुत खयाल उक्त दृष्टान्तसे आ सकता है।

● जइ वा तिन्नि मणुस्सा, जतडवियह सहाव गमणेण ।

बेला इक् मभिया, तुरति यत्तायदो चोरा ॥१०११॥

ददु मग्ग तडत्थे, ते एगे मग्गओ दडिनियत्ता ।

मितिओ गहिओ तइओ, सम इक्कु पुरपत्तो ॥१०१२॥

अडरी भयो मणूसा, जीपा कम्मट्ठीई यहो दाहो ।

गठाय भयट्ठाण, रागदोसा य दा चोरा ॥१०१३॥

भग्गो ठिई परियुद्धो, गहिओ पुण गठिओ गओ तइओ ।

सम्मत्त पुर एव, जो एज्जातिण्णी करणाणि ॥१०१४॥”

—विशेषावश्यक भाष्य ।

यथा जनास्त्रय केऽपि, महापुर पिपासव ।

प्राप्ता इचन कान्तारे, स्थान चौर भयकरम् ॥६१९॥

तत्र द्रुत द्रुत यान्तो, ददुस्तस्करद्वयम् ।

तद्दृष्ट्वा त्वरित पश्चादेको भीत पलायित ॥६२०॥

गृहीतश्चापरस्ताभ्यामन्यस्त्ववगणप्यतौ ।

भयस्थानमतिक्रम्य, पुर प्राप पराक्रमी ॥६२१॥

# प्रस्तावनाका विषयक्रम ।



विषय ।	पृष्ठ ।
ज्ञान	१
संगति	२
प्राचीन और नवीन चतुर्थ कल्प य	३
चौथा कर्मप्रण्य और आगम, पञ्चसमूह तथा गोप्पटसार	४
विषय प्रवेश	६
गुणस्थानका विक्षेप स्वरूप	१०
दशान्तरके साथ जैनस्थानका साम्य	३२
योग सम्बन्धा विचार	४५
योगके भद और जनका आधार	४८
योगके तपाय और गुणस्थानामें योगावतार	४९
पूर्व सवा आदि शब्दोंकी व्याख्या	५२
योगजन्य विमूर्तियों	५३
गुणस्थान जैसा बौद्ध शास्त्रगत विचार	५३



८ शारीरिक और मानसिक दुःखोंकी संवेदनाके कारण अज्ञात रूपमेंहा गिरि-नदी पापाण ८ न्यायसे जब आत्माका आवरण कुछ शिथिल होता है और इसके कारण उसके अनुभव तथा धीमौलतास की मात्रा कुछ बढ़ती है, तब उस विकासगामी आत्माके परिणामों की शुद्धि व कामलता कुछ बढ़ती है। जिसकी वशीलत वह रागद्वेष की तीव्रतम—दुर्मेद प्रथिका तोड़नेकी योग्यता बहुत अंशमें प्राप्त कर लेता है। इस अज्ञानपूयक दुःख संवेदना-जनित अति अल्प आत्म शुद्धिको जैनशास्त्रमें 'यथाप्रवृत्तिकरण' † कहा है। इसके बाद जब कुछ और भी अधिक आत्म शुद्धि तथा धीमौलतासकी मात्रा बढ़ती है तब राग द्वेषकी उस दुर्मेद प्रथिका भेदन किया जाता है। इस अनियमेदकारक आत्म-शुद्धिको 'अप्रवृत्तिकरण' ‡ कहते हैं।

। ॐ यथाप्रवृत्तिकरण, नन्वनाभोगरूपकम् ।

भवत्यनाभोगतश्च, कथं कर्मक्षयोऽङ्गिनाम् ॥६७॥

"यथा भिद्यो धर्पणेन, प्रात्राणोऽद्रिनिदीगता ।

स्युश्चिनाकृतयो ज्ञान, शून्या अपि स्वभावतः ॥६८॥

† तथा यथाप्रवृत्तात्स्यु, -रप्यनाभोगलक्षणात् ।

छपुस्मिदतिकर्माणो, जन्तवोऽत्रान्तरेऽथ च ॥६९॥"

—लोकप्रकाश, सर्ग ३ ।

† इसको दिगम्बरसम्प्रदायमें 'अथाप्रवृत्तिकरण' कहते हैं ।

वे 'अक्षिपे' देखिये, तत्त्वार्थ अध्याय ९ के १ से सूत्रका १३ वाँ

## प्रस्तावना ।

— \* —

### नाम ।

प्रस्तुत प्रकरणका 'चौथा कर्मग्रन्थ' यह नाम प्रसिद्ध है, किन्तु इसका असली नाम पडशीतिक है। यह 'चौथा कर्मग्रन्थ' इसलिये कहा गया है कि छह कर्मग्रन्थोंमें इसका नम्बर चौथा है, और 'पडशीतिक' नाम इसलिये नियत है कि इसमें मूल गाथाएँ छियासी हैं। इसके सिवाय इस प्रकरणको 'सूदमार्थ विचार' भी कहते हैं, सो इसलिये कि ग्रन्थकारने ग्रन्थके अन्तमें "सुदुमर्थ त्रियारो" शब्द का उल्लेख किया है। इस प्रकार देखनेसे यह स्पष्ट ही मालूम होता है कि प्रस्तुत प्रकरणके उक्त तीनों नाम अन्वर्थ—सार्थक हैं।

यद्यपि टकावाली प्रति ओ धीयुत् भीमसी माणिक द्वारा 'निर्णय सागर प्रेस, बम्बई' से प्रकाशित 'प्रकरण रत्नाकर चतुर्थ भाग' में छपी है, वसमें मूल गाथाओंकी सख्या नवासी है, किन्तु यह प्रकाशकी भूल है। क्योंकि वसमें ओ तीन गाथाएँ दूसरे, तीसरे और चौथे नम्बर पर मूल रूपमें छपी हैं, ये वस्तुतः मूल रूप नहीं हैं, किन्तु प्रस्तुत प्रकरणकी विषय-संग्रह गाथाएँ हैं। अर्थात् इस प्रकरणमें मुख्य क्या क्या विषय हैं और प्रत्येक मुख्य विषयसे सम्बन्ध रखनवाले अन्य कितने विषय हैं, इसका प्रदर्शन करानेवाली ये गाथाएँ हैं। अतएव ग्रन्थकारने उक्त तीन गाथाएँ स्वोपज्ञ टीकामें बद्ध की हैं, मूल रूपसे नहीं ली हैं और न उनपर टीका की है।

क्योंकि ऐसा करण—परिणाम \* विकासगामी आत्माकेलिये अपूर्व—प्रथम ही प्राप्त है। इसके बाद आत्म शुद्धि व धीर्योल्लासकी मात्रा कुछ अधिक बढ़ती है, तब आत्मा मोहकी प्रधानभूत शक्ति—दर्शनमोहपर अग्रय विजयलाम करता है। इस विजय कारक आत्म शुद्धिको जैनशास्त्रमें “अनिवृत्तिकरण” † कहा है, क्योंकि इस आत्म शुद्धिके हो जानेपर आत्मा दर्शनमोहपर जय-लाम बिना किये नहीं रहता, अर्थात् वह पीछे नहीं हटता। उक्त तीन प्रकारकी आत्म शुद्धियोंमें दूसरी अर्थात् अपूर्वकरण-नामक शुद्धि ही अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि राग द्वेषके तीव्रतम घेगको

❀ “परिणामविशेषोऽत्र, करण प्राणिना मतम् ॥५९९॥”

—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

† “अयानिवृत्तिकरणेना,—तिस्वच्छाशयात्मना ।

करोत्यन्तरकरण,—मन्तर्मुहूर्त्तसमितम् ॥६०७॥

कृते च तस्मिन्मिथ्यात्व,—मोहस्थितिर्द्विधा भवेत् ।

तत्राद्यान्तरकरणा, दधस्तन्यपरोर्ध्वगा ॥६२८॥

तत्राद्याया स्थितौ मिथ्या,—दृक् स तदलवेदनात् ।

अतीतायामथेतस्या, स्थितायन्तर्मुहूर्त्तव ॥६२९॥

प्राप्नोत्यन्तरकरण, तस्याद्यक्षुण एव स ।

सम्यक्त्वमौपशमिक,—मपौद्रलिकमाप्नुयात् ॥६३०॥

यथा वनद्वो दग्धे,—न्धन प्राप्यातृण स्थलम् ।

स्वय विध्यापति तथा, मिथ्यात्वोपद्रवानल ॥६३१॥

अवाप्यान्तरकरण, क्षिप्र विध्यापति स्वयम् ।

तदौपशमिक नाम, सम्यक्त्व लभतेऽसुमान् ॥६३२॥”

—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

## संगति ।

पहले तीन कर्मग्रन्थोंके विषयोंकी संगति स्पष्ट है । अर्थात् पहले कर्मग्रन्थमें मूल तथा उत्तर कर्म प्रक्रतियोंकी संगति और उनका विपाक वर्णन किया गया है । हमारे कर्मग्रन्थमें प्रत्येक गुणस्थानको लेकर उसमें यथासम्भव बाध, उदय, उद्दीरणा और सत्तागत उत्तर प्रक्रतियोंका भरण घटलाई गई है और तीसरे कर्मग्रन्थमें प्रत्येक मार्गशास्त्रको लेकर उसमें यथासम्भव गुणस्थानोंके विषयमें उत्तर कर्मप्रक्रतियोंका बाधस्वामित्व वर्णन किया है । तीसरे कर्मग्रन्थमें मार्गशास्त्रानोंमें गुणस्थानोंको लेकर बाधस्वामित्व वर्णन किया है सही, किन्तु मूलमें कहाँ भी यह विषय स्वतंत्र रूपसे नहीं कहा गया है कि किस किस मार्गशास्त्रानमें कितने कितने और किन किन गुणस्थानोंका सम्भव है ।

अतएव चतुर्थ कर्मग्रन्थमें इस विषयका प्रतिपादन किया है और वक्तु जिज्ञासाकी पूर्ति की गई है । जैसे मार्गशास्त्रानोंमें गुणस्थानोंकी जिज्ञासा होती है वैसे ही जीवस्थानोंमें गुणस्थानोंकी और गुणस्थानोंमें जीवस्थानोंकी भी जिज्ञासा होती है । इतना ही नहीं, यदि जीवस्थानोंमें योग, उपयोग आदि अर्थात् विषयोंकी और मार्गशास्त्रानोंमें जीवस्थान, योग, उपयोग आदि अर्थात् विषयोंकी तथा गुणस्थानोंमें योग, उपयोग आदि अर्थात् विषयोंकी भी जिज्ञासा होती है । इन सब जिज्ञासामोंकी पूर्तिके लिये चतुर्थ कर्मग्रन्थकी रचना हुई है । इसीसे इसमें मुख्यतया जीवस्थान, मार्गशास्त्रान, और गुणस्थान, ये तीन अधिकार रक्षित गये हैं । और प्रत्येक अधिकारमें क्रमशः आठ, छह तथा दस विषय वर्णित हैं, जिनका निर्देश पहला गाथाक माध्याह्नमें पृष्ठ २ पर तथा स्फुट नोटमें समस्त गाथाओंके द्वारा किया गया है । इसके सिवाय प्रसंग

चतुर्थीसे आगेकी अर्थात् पञ्चमी आदि सब भूमिकाएँ सम्म  
गृष्टिवाली ही समझनी चाहिये, क्योंकि उनमें उत्तरोत्तर विकास  
तथा दृष्टि की शुद्धि अधिकाधिक होती जाती है। चतुर्थ गुणस्थान  
में स्वरूप-दर्शन करनेसे आत्माको अप्रभु शान्ति मिलती है और  
उसकी विश्वास होता है कि अब मेरा साध्य विषयक भ्रम दूर हुआ,  
अर्थात् अब तक जिस पौद्गलिक बन्धन सुखको मैं तरस रहा  
था, वह परिणाम विरस, अस्थिर एवं परिमित है। परिणाम सुन्दर,  
स्थिर व अपरिमित सुख स्वरूप प्राप्तिमें ही है। तब वह विकास  
गामी आत्मा स्वरूप स्थितिकलिये प्रयत्न करने लगता है।

मोहकी प्रधान शक्ति—दर्शनमोहको शिथिल करके स्वरूप  
दर्शन कर लेनेके बाद भी, जब तक उसकी दूसरी शक्ति—चारित्र्य  
मोहको शिथिल न किया जाय, तब तक स्वरूप लाभ किंवा स्वरूप  
स्थिति नहीं हो सकती। इसलिये वह मोहकी दूसरी शक्तिको  
मन्द करनेकेलिये प्रयत्न करता है। जब वह उस शक्तिको  
अशक्त शिथिल कर पाता है, तब उसकी और भी उत्क्रान्ति हो  
जाती है। जिसमें अशक्त स्वरूप स्थिरता या परपरिणति-त्याग  
होनेसे चतुर्थ भूमिकाकी अपेक्षा अधिक शान्ति लाभ होता है।  
यह देशविरति नामक पाँचवीं गुणस्थान है।

इस गुणस्थानमें विकासगामी आत्माको यह विचार होने  
लगता है कि यदि अल्प विरतिसे ही इतना अधिक शान्ति लाभ  
हुआ तो फिर सब विरति—जब भावोंके बन्धन परित्यक्त

समय प्राप्त होता है। जिसमें पौष्टिक भावोंपर मूर्च्छा बिलकुल नहीं रहती, और उसका सारा समय स्वरूपकी अभिव्यक्ति करनेके काममें ही खर्च होता है। यह "सर्वविरति" नामक पष्ठ गुणस्थान है। इसमें आत्मकल्याणके अतिरिक्त लोककल्याणकी भावना और तदनुकूल प्रवृत्ति भी होती है। जिससे कभी कभी थोड़ी बहुत मात्रामें प्रमाद आ जाता है।

पाँचवें गुणस्थानकी अपेक्षा, इस छठे गुणस्थानमें स्वरूप अभिव्यक्ति अधिक होनेके कारण यद्यपि विकासगामी आत्माको आध्यात्मिक शान्ति पहलेसे अधिक ही मिलती है तथापि बीच-बीच में अनेक प्रमाद उसे शान्ति अनुभवमें जो बाधा पहुँचाते हैं, उसको यह सहन नहीं कर सकता। अतएव सर्व विरति जनित शान्तिके साथ अप्रमाद-जनित विशिष्ट शान्तिका अनुभव करनेकी प्रयत्न लालसासे प्रेरित होकर वह विकासगामी आत्मा प्रमादका त्याग करता है और स्वरूपकी अभिव्यक्तिके अनुकूल मनन चिन्तनके लिये अथवा व्यापारोंका त्याग कर देता है। यही 'अप्रमत्त सयत' नामक सातवें गुणस्थान है। इसमें एक ओर अप्रमाद जय वस्तुतः सुख का अनुभव आत्माको उस स्थितिमें बने रहने के लिये उत्तेजित करता है और दूसरी ओर प्रमाद जन्य पुरुष दास नाएँ उसे अपनी ओर खींचती हैं। इस खींचातानीमें विकासगामी आत्मा कभी प्रमादकी तरफ़ा और कभी अप्रमादकी जागृति अर्थात् छठे और सातवें गुणस्थानमें अनेक बार जाता आता रहता है। भँवर या घातभ्रमीमें पड़ा हुआ तिनका इधरसे उधर और उधर से इधर जिस प्रकार चलायमान होता रहता है, उसी प्रकार छठे और सातवें गुणस्थानके समय विकासगामी आत्मा अनवस्थित बन जाता है।

प्रमादके साथ होनेवाले इस आंतरिक युद्धके समय विकास



वाशिष्ठमें \* तथा पातञ्जलयोग सूत्र † में अज्ञानी जीवका वही लक्षण है । जैनशास्त्रमें मिथ्यात्वमोहनीयका समारबुद्धि और दुःखरूप फल वर्णित है ‡ । यही बात योगवाशिष्ठके

“आत्मधिया समुपात्त, पायादि कीर्त्यतेऽत्र बहिरात्मा ।

कावादे समाधिष्ठा, न्यको भवत्यन्तरात्मा ॥५॥”

—योगशास्त्र, प्रकाश १२।

“निर्मलस्फटिकस्यैव, सहज रूपमात्मनः ।

अध्यस्तोपाधिसबन्धा, जडस्तत्र विमुच्यति ॥६॥”

—ज्ञानसार, मोहाष्टक ।

“नित्यशुच्यात्मतारुयाति, रनित्याशुच्यनात्मसु ।

आविद्यात्त्वर्थाविद्या योगाद्याय प्रकाशिता ॥७॥”

—ज्ञानसार, विद्याष्टक ।

“ध्रमवादी बहिर्दृष्टि, ध्रमच्छाया तदीक्षणम् ।

अभ्रान्तस्तत्त्वदृष्टिस्तु, नास्या शते सुखाऽऽशया ॥८॥”

ज्ञानसार, तत्त्वदृष्टि अष्टक ।

“यस्याऽज्ञानात्मनोऽज्ञस्य, देह एवात्मभावना ।

वदितेति रुपैवाक्ष, रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥९॥”

—निर्वाण प्रकरण, पृथार्थ, सर्ग ६।

† “अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखात्मरयातिरविद्या।”

—पातञ्जलयोगसूत्र, साधन पाद, सूत्र ५ ।

‡ “समुदायावयवयोर्बन्धहेतुत्व वाक्यपरिसमाप्तेर्येचित्थ्यात् ।”

—तत्त्वार्थ, अध्याय, ९, सू० १, वार्तिक ३१ ।

“विकल्पचपकैरात्मा, पीतमोहासयो ह्ययम् ।

भवोऽतालमुत्ताल, प्रपञ्चमधितिष्ठति ॥१०॥”

—ज्ञानसार, मोहाष्टक ।

चतुर्थीसे आगेकी अर्थात् पञ्चमी आदि सब भूमिकाएँ सम्म  
दृष्टिवाली ही समझनी चाहिये क्योंकि उनमें उत्तरोत्तर विकास  
तथा दृष्टि की शुद्धि अधिकाधिक होती जाती है। चतुर्थ गुणस्थान  
में स्वरूप-दर्शन करनेसे आत्माको अपूर्व शांति मिलती है और  
सबको विश्वास होता है कि अब मेरा साध्य विषयक भ्रम दूर हुआ,  
अर्थात् अब तक जिस पौद्गलिक बन्धन सुखको मैं तरस रहा  
था, वह परिणाम विरल, अस्थिर एवं परिमित है परिणाम सुन्दर,  
स्थिर व अपरिमित सुख स्वरूप प्राप्तिमें ही है। तब वह विकास  
गामी आत्मा स्वरूप स्थितिकलिये प्रयत्न करने लगता है।

मोहकी प्रभाम शक्ति—दशममोहको शिथिल करके स्वरूप  
दर्शन कर लेनेके बाद भी, जब तक उसकी दूसरी शक्ति—चारित्र्य  
मोहको शिथिल न किया जाए, तब तक स्वरूप लाभ किया स्वरूप  
स्थिति नहीं हो सकती। इसलिये वह मोहकी दूसरी शक्तिको  
मर्द करनेकेलिये प्रयास करता है। जब वह उस शक्तिको  
अशक्त शिथिल कर पाता है, तब उसकी और भी वृत्तान्ति हो  
जाती है। जिसमें अशक्त स्वरूप स्थिरता या परपरिणति-त्याग  
होनेसे चतुर्थ भूमिकाकी अपेक्षा अधिक शांति लाभ होता है।  
यह देशविरति नामक पाँचवाँ गुणस्थान है।

इस गुणस्थानमें विकासगामी आत्माको यह विचार होने  
लगता है कि यदि अल्प विरतिसे ही इतना अधिक शान्ति लाभ  
हुआ तो फिर सर्व विरति—जब भावोंके सबथा परिहारसे  
कितना शान्ति लाभ न होगा। इस विचारसे प्रेरित होकर व  
प्राप्त आध्यात्मिक शांतिके अनुभवसे यत्नवान् होकर वह विका  
सगामी आत्मा चारित्र्यमोहको अधिकांशमें शिथिल करके पहले  
की अपेक्षा भी अधिक स्वरूप स्थिरता व स्वरूप लाभ प्राप्त करने  
की चेष्टा करता है। इस चेष्टामें कृतकृत्य होते ही उसे सर्व विरति



समय प्राप्त होता है। जिसमें पौष्टिक भागोंपर मूर्च्छा विलकुल नहीं रहती, और उसका सारा समय स्वरूपकी अभिव्यक्ति करनेके काममें ही खर्च होता है। यह "सर्वविरति" नामक पष्ठ गुणस्थान है। इसमें आत्मकल्याणके अतिरिक्त लोककल्याणकी भावना और तदनुकूल प्रवृत्ति भी होती है। जिससे कभी कभी थोड़ी बहुत मात्रामें प्रमाद आ जाता है।

पाँचवें गुणस्थानकी अपेक्षा, इस छठे गुणस्थानमें स्वरूप अभिव्यक्ति अधिक होनेके कारण यद्यपि विकासगामी आत्माको आध्यात्मिक शान्ति पहलेसे अधिक ही मिलती है तथापि बीच बीच में अनेक प्रमाद उसे शान्ति अनुभवमें जो बाधा पहुँचाते हैं, उसको वह सहन नहीं कर सकता। अतएव सर्व विरति जनित शान्तिके साथ अप्रमाद-जनित विशिष्ट शान्तिका अनुभव करनेकी प्रयत्न लालसासे प्रेरित होकर वह विकासगामी आत्मा प्रमादका त्याग करता है और स्वरूपकी अभिव्यक्तिके अनुकूल मनन चिन्तनके लिये अथवा व्यापारोंका त्याग कर देता है। यही 'अप्रमत्त लयत' नामक सातवाँ गुणस्थान है। इसमें एक ओर अप्रमाद जय संशुद्ध सुख का अनुभव आत्माको उस स्थितिमें बने रहने केलिये उच्छेजित करता है और दूसरी ओर प्रमाद जन्य पूर्ण धास नापें उसे अपनी ओर खींचती हैं। इस खींचातानीमें विकासगामी आत्मा कभी प्रमादकी तरफ़ा और कभी अप्रमादकी जागृति अर्थात् छठे और सातवें गुणस्थानमें अनेक बार जाता आता रहता है। भँवर या घातभ्रमीमें पड़ा हुआ तिनका इधरसे उधर और उधर से इधर जिस प्रकार चलायमान होता रहता है, उसी प्रकार छठे और सातवें गुणस्थानके समय विकासगामी आत्मा अनवस्थित घन जाता है।

प्रमादके साथ होनेवाले इस आन्तरिक युद्धके समय विकास

बात रूपान्तरसे कही गई है। उसमें जो दृश्यके अस्तित्वको बन्धका कारण कहा है, उसका तात्पर्य दृश्यके अभिमान या अभ्याससे है। (५) जैसे, जैनशास्त्रमें ग्रन्थिमेदका वर्णन है वैसे ही योगवाशिष्ठमें भी है। (६) वैदिक ग्रन्थोंका यह वर्णन कि ब्रह्म, मायाके ससर्गसे क्षीयत्व धारण करता है और मनके ससर्गसे सकल्प विकल्पात्मक पेन्द्रजालिक सृष्टि रचता है, तथा स्यावरजङ्गमात्मक जगत्का कल्पके अन्तमें नाश होता है †, इत्यादि बातोंकी संगति जैनशास्त्रके अनुसार इस प्रकार की जा सकती है। आत्माका अन्यवहार राशिसे व्ययहारराशिमें माना ब्रह्मका जीवत्व धारण करना है।

† “द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताऽङ्गं, बन्ध इत्यभिधीयते।

द्रष्टा दृश्यबलाद्बद्धो, दृश्याऽभावे विमुच्यते ॥२२॥”

—उत्पत्ति प्रकरण, स० १।

“तस्माच्चित्तविकल्पस्थ, पित्राचो बालक यथा।

विनिहन्त्येवमेवान्त, द्रष्टार दृश्यरूपिका ॥२८॥”

—उत्पत्ति प्र० स० ३।

\* क्षमिर्हि ग्रन्थिविच्छेद, स्तस्मिन् सति हि मुक्ता।

मृगवृणान्मुयुद्धादि, शान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ ॥२३॥”

—उत्पत्ति प्रकरण, स० ११८

† “तत्त्वय स्त्रैरमेवाशु, सकल्पयति नित्यश।

तेनेत्यभिन्द्रजाला, विततेय वितन्यते ॥१६॥”

“यदिद दृश्यते सर्व, जगत्स्यावरजङ्गमम्।

वत्सुपुष्पाविव स्वप्न, कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥१०॥”

॥ १

—उत्पत्ति-प्रकरण, स० १।

स तथाभूत एवात्मा, स्वयमन्य इवोहसन्।

जीवतामुपयातीव, भाविनाम्ना कदर्थिताम् ॥१३॥”

गामी आत्मा यदि अपना चारित्र्य-यत्न विशेष प्रकाशित करता है तो फिर वह प्रमादों—प्रलोभनोंको पार कर विशेष अप्रमत्त अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस अवस्थाको पाकर वह ऐसी शक्ति-युद्धि की तैयारी करता है कि जिससे शेष रहे सहे मोह बलको नष्ट किया जा सके। मोहके साथ होनेवाले भावी युद्धकेलिये की जानेवाली तैयारीकी इस भूमिकाको आठवाँ गुणस्थान कहते हैं।

पहले सभी न हुई ऐसी आत्म शुद्धि इस गुणस्थानमें हो जाती है। जिससे कोई विकासगामी आत्मा तो मोहके सत्कारोंके प्रभावको प्रमत्त दयाता हुआ भागे बढ़ता है तथा अन्तमें उसे बिलकुल ही उपशान्त कर देता है। और त्रिशिष्ट आत्म शुद्धिवाला कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा भी दाता है, जो मोहक सत्कारोंको प्रमत्त जड़ मूलसे उखाड़ता हुआ भागे बढ़ता है तथा अन्तमें उन सब सत्कारोंको सर्वथा निमूल ही कर डालता है। इस प्रकार आठवें गुणस्थानसे भागे बढ़नेवाले अर्थात् अन्तरात्म भावके विकासद्वारा परमात्म भाव रूप सर्वोपरि भूमिकाके निकट पहुँचने वाले आत्मा दो श्रेणियोंमें विभक्त हो जाते हैं।

एक श्रेणिवाले तो ऐसे होते हैं, जो मोहको एक बार सर्वथा दबा तो लेते हैं, पर उस निमूल नहीं कर पाते। अतः पर जिस प्रकार किसी घतनमें भरी हुई भाँक कमी कमी अपने घगस उस घतन को बड़ा ल भागती है या नीचे गिरा देती है अथवा जिस प्रकार राजके नीचे दबा हुआ अग्नि हवाका झरोका लगत ही अपना कार्य करने लगता है किंवा जिस प्रकार जलके तलमें बैठा हुआ मल थोड़ासा छोम पावे हा ऊपर उठकर जलको गँदला कर देता है, उसी प्रकार पहले दबाया हुआ भा मोह आन्तरिक युद्धमें थके हुए उन प्रथम श्रेणिवाले आत्माओंको अपने चेगकेद्वारा नीचे पटक देता है। एक बार सर्वथा दबाये जानेपर भी मोह, जिस

कमल सुदम तथा स्थूल मनद्वारा सहित्व प्राप्त करके कल्पना जालमें आत्माका विचरण करना सकल्प विकल्पात्मक ऐन्द्रजालिक सृष्टि है । शुद्ध आत्म स्वरूप व्यक्त होनेपर सासारि पर्यायोंका नाश होना ही कल्पके अन्तमें स्वाधर अद्भुतात्मक जगत्का नाश है आत्मा अपनी सत्ता भूलकर अह सत्ताको स्वभत्ता मानता है, जा अहत्त्व ममत्त्व भावनारूप मोहनीयका उद्भय और बाधका कारण है । यही अहत्त्व ममत्त्व भावना वैदिक धर्मेन शैलिके अनुसार बाधहेतु भूत द्रव्य सत्ता है । उत्पत्ति, वृद्धि, विकास, स्वर्ग नरक आदि जो जीवकी अवस्थाएँ वैदिक ग्रंथोंमें वर्णित हैं, वे ही जैन दृष्टिके अनुसार व्यवहार राशि गत जावके पर्याय हैं । (१) योगशाशिष्टमें † स्वरूप स्थितिको ज्ञानीका और स्वरूप वृद्धको अज्ञानीका लक्षण माना है । जैनशास्त्रमें भी सम्यक्ज्ञानका और मिथ्यादृष्टिका क्रमशः यही स्वरूप ‡ धृतलाया है । (२) योगशाशिष्टमें + जो सम्यक्ज्ञानका लक्षण

• "उत्पद्यते यो जगति, स एव किल वरत ।

स एव मोक्षमाप्नोति स्वर्ग वा नरक च वा ॥७॥"

उत्पत्ति प्रकरण, स० १ ।

† "स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिः, स्वदुःखशोऽहत्त्ववेदनम् ।

एतत् सक्षेपत प्रोक्त, तज्ज्ञात्वाहत्त्वलक्षणम् ॥५॥"

—उत्पत्ति प्रकरण, स० ११७ ।

‡ अहं भवेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्धकृत् ।

अयमेव हि नमपूज्यः, प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित् ॥१॥"

—ज्ञानसार, मोहाष्टक ।

स्वभावलाभसंस्कार, कारण ज्ञानमिष्यते ।

ध्यानध्यभावमतस्त्वन्य, चया चोक्त महात्मना ॥३॥"

—ज्ञानसार, ज्ञानाष्टक ।

+ "अनाद्यन्तावभासात्मा, परमात्मेह विद्यते ।

भूमिकासे आत्माको हार दिलाकर नीचे की ओर पटक देता है, वही ग्यारहवाँ गुणस्थान है। मोहको क्रमशः दबाते-दबाते सर्वथा दवाने तकमें उत्तरोत्तर अधिक अधिक विशुद्धिवाली दो भूमिकाएँ अवश्य प्राप्त करनी पड़ती हैं। जो नौवाँ तथा दसवाँ गुणस्थान कहलाता है। ग्यारहवाँ गुणस्थान अत्र पतनका स्थान है, क्योंकि उसे पाने-वाला आत्मा आगे न बढ़कर एक बार तो अवश्य नीचे गिरता है।

दूसरी श्रेणिवाले आत्मा मोहको क्रमशः निर्मूल करते करते अन्तमें उसे सबथा निर्मूल कर ही डालते हैं। सर्वथा निर्मूल करने की जो उच्च भूमि है, वही बारहवाँ गुणस्थान है। इस गुणस्थानको पाने तकमें अर्थात् मोहको सर्वथा निर्मूल करनेसे पहले बीचमें नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करना पड़ता है। इसी प्रकार देखा जाय तो चाहे पहली श्रेणिवाले हों, चाहे दूसरी श्रेणिवाले, पर वे सब नौवाँ-दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करते ही हैं। दोनों श्रेणिवालोंमें अन्तर इतना ही होता है कि प्रथम श्रेणिवालोंकी अपेक्षा दूसरी श्रेणिवालोंमें आत्मशुद्धि व आत्मबल विशिष्ट प्रकारका पाया जाता है। जैसे—किसी एक दर्जेके विद्यार्थी भी दो प्रकारके होते हैं। एक प्रकारके तो ऐसे होते हैं, जो सो कोशिश करनेपर भी एक बारगी अपनी परीक्षामें पास होकर आगे नहीं बढ़ सकते। परदूसरे प्रकारके विद्यार्थी अपनी योग्यताके बलसे सय षठिनाइयोंका पार कर उस षठिनतम परीक्षाको घेघड़क पास कर ही लेते हैं। उन दोनों दलके इस अन्तरका कारण उनकी आन्तरिक योग्यताकी न्यूनताधिकता है। ऐसे ही नौवें तथा दसवें गुणस्थानको प्राप्त करनेवाले उक्त दोनों श्रेणिगामी आत्माओंकी आध्यात्मिक विशुद्धि न्यूनताधिक होती है। जिसके कारण एक श्रेणिवाले तो दसवें गुणस्थानको पाकर अन्तमें ग्यारहवें गुणस्थानमें मोहसे हार खाकर नीचे गिरते हैं और अन्य श्रेणिवाले दसवें गुण



है; वह जैनशास्त्रके अनुकूल है। (६) जैनशास्त्रमें सम्यक् दर्शनकी प्राप्ति, (१) स्वमात्र और (२) बाह्य निमित्त, इन दो प्रकारसे वर्तलाई है ॥ योगवाशिष्ठमें भी ज्ञान प्राप्तिका वैसा ही क्रम सूचित किया है। (१०) जैनशास्त्रके चौदह गुणस्थानोंके स्थानमें चौदह भूमिकाओंका वर्णन योगवाशिष्ठमें ‡ बहुत रुचिकर ष विस्तृत है। सात भूमि

इत्येको निश्चय स्फार सम्यग्ज्ञान विदुर्वुधा ॥२॥”

—उपशम प्रकरण, स० ७९।

ॐ “तन्निर्गन्धविगमाद् वा ।”

—तत्त्वार्थ अ० १, सू० ३।

† “एकस्तावद्गुरुप्रोक्ता, -दनुष्ठानाच्छने ज्ञाने ।

जन्मना जन्मभिर्यापि, सिद्धिदं ममुदाहृत ॥३॥

द्वितीयस्त्वात्मदैवाशु, किञ्चिद्व्युत्पन्नचेतसा ।

भवति ज्ञानसंप्राप्ति, राकाशफलपातवत् ॥४॥”

—उपशम प्रकरण, स० ७।

‡ “अज्ञानभू सप्तपदा, क्षमू सप्तपदैव हि ।

पदान्तराण्यसख्यानि, मयन्त्यन्यान्यथैतयो ॥२॥”

“तत्रारोपितमज्ञान, सत्य भूमौरिमा शृणु ।

बीजजाग्रत्तथाजाग्रत्, महाजाग्रत्तथैव च ॥११॥

जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्न, स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तकम् ।

इति सप्तविधा मोह, पुनरेव परस्परम् ॥१२॥

श्लिष्टो मधत्यनेकारय, शृणु लक्षणमस्य च ।

प्रथमे चेतन यत्स्या, -दनाय निर्मल चित ॥१३॥

मविष्यच्चित्तजीवादि, नामशन्दार्थभाजनम् ।

बीजरूप स्थित जाग्रत्, बीजजाग्रत्तदुच्यते ॥१४॥

स्नानको पाकर इतना अधिक आत्म बल प्रकट करते हैं कि अन्तमें वे मोहको सर्वथा क्षीण कर धारहवें गुणस्नानको प्राप्त कर ही लेते हैं।

जैसे ग्यारहवाँ गुणस्नान अवश्य पुनरावृत्तिका है वैसे ही बारहवाँ गुणस्नान अपुनरावृत्तिका है। अर्थात् ग्यारहवें गुणस्नानको पानेवाला आत्मा एक बार उससे अवश्य गिरता है और बारहवें गुणस्नानको पानेवाला उससे कदापि नहीं गिरता, बल्कि ऊपरको ही चढ़ता है। किसी एक परीक्षामें नहीं पास होनेवाले विद्यार्थी जिस प्रकार परिश्रम व एकाम्रतासे योग्यता बढ़ाकर फिर उस परीक्षाको पास कर लेते हैं, उसी प्रकार एक बार मोहमें हार खाने वाले आत्मा भी अग्रमत्त भाव व आत्म बल की अधिकतासे फिर मोहका अवश्य क्षीण कर देते हैं। उक्त दोनों श्रेणियोंवाले आत्माओंकी तरतम भाषापत्र आध्यात्मिक विशुद्धि मानों परमात्म भाव रूप सर्वोच्च भूमिकापर चढ़नेकी दो मलिनियाँ हैं। जिनमेंसे एकको जैनशास्त्रमें 'उपशमश्रेणि' और दूसरीको 'क्षपकश्रेणि' कहा है। पहली कुछ दूर बढ़ाकर गिरानेवाली और दूसरी खटानेवाली ही है। पहली श्रेणिसे गिरनेवाला आध्यात्मिक अधःपतनकेद्वारा चाहे प्रथम गुणस्नान तक क्यों न चला जाय, पर उसकी वह अधःपतित स्थिति कायम नहीं रहती। कभी-कभी फिर वह दून बलसे और दूनी सावधानीसे तैयार होकर मोहशत्रुका सामना करता है और अन्तमें दूसरी श्रेणिकी योग्यता प्राप्त कर मोहका सर्वथा क्षय कर डालता है। व्यवहारमें अर्थात् आधिमौनिक क्षेत्रमें भी यह देखा जाता है कि जो एक बार हार खाता है, वह पूरी तैयारी करके हारानवाले शत्रुको फिरसे हरा सकता है।

परमात्म भावका स्वराज्य प्राप्त करनेमें मुख्य बाधक मोह ही है। जिसकी नष्ट करना अन्तरात्म भावके विशिष्ट विकासपर निर्भर है। मोहका सर्वथा नाश हुआ कि अथ आधरण ओ जैन

कार्ये ज्ञानकी और सात अज्ञानकी बातलाई हुई हैं, जो जैन परिभाषाके

एषा शप्तेनैवावस्था, त्व जाग्रत्संस्तुतिं शृणु ।  
 नवप्रसूतस्य परा दयं चाहमिदं मम ॥१५॥  
 इति यं प्रत्ययं स्वस्थं, स्तज्जाग्रत्प्रागभावनात् ।  
 अयं सोऽहमिदं तन्म, इति जन्मान्तरोदित ॥१६॥  
 पीषरं प्रत्ययं प्रोक्ता, महाजाग्रदिति स्फुरम् ।  
 अरूढमथवा रूढं, सर्वथा तन्मयात्मकम् ॥१७॥  
 यज्जाग्रता मनोराज्यं, जाग्रत्स्वप्नं स वक्ष्यते ।  
 द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्यं, मृगतृष्णादिभेदतः ॥१८॥  
 अभ्यासात्प्राप्य जाग्रत्स्वप्नं, स्वप्नोऽनेकविधो भवेत् ।  
 अल्पकालं मया दृष्टं, पृथं नो सत्यामित्यपि ॥१९॥  
 निद्राकाष्ठानुभूतेऽर्थे, निद्राते प्रत्यया हि यः ।  
 स स्वप्नं कथितस्तस्य, महाजाग्रत्स्थितेऽहोदये ॥२०॥  
 चिरसदृशनाभावाद्दप्रकुलवृद्धद् वपुः ।  
 स्वप्नो जाग्रत्स्वप्नारूढो महाजाग्रत्स्वप्नं गतः ॥२१॥  
 अक्षते वा क्षतं दहे, स्वप्नप्राप्तमसौ हि सत् ।  
 पटवस्थापरित्यागे, जहा जीवस्य वा स्थितिः ॥२२॥  
 भविष्यदुल्लेखोपाया, सौषुप्ती सोच्यते गतिः ।  
 एते तस्याभवस्थाया, तृणलोष्ठशिलादयः ॥ २३ ॥  
 पदार्थाः साक्षिताः सर्वे, परमाणुप्रभाणिनः ।  
 सप्तावस्था इति प्रोक्ता, मयाऽज्ञानस्य राक्षसः ॥ २४ ॥”

उत्पात्ति-प्रकरण स० ११७ ।

“ज्ञानभूमिं शुभेच्छाख्या, प्रथमा समुदाहृता ।

विचारणा द्वितीया तु, वृताया वनुमानसा ॥ ५ ॥

शास्त्रमें 'घातिकर्म' कहलाते हैं, वे प्रधान सेनापतिके मारे जानेके बाद अनुगामी सैनिकोंकी तरह एक साथ तितर-बितर हो जाते हैं। फिर क्या देरी, विकासगामी आत्मा तुरन्त ही परमात्म भावका पूर्ण आध्यात्मिक स्वराज्य पाकर अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूपको पूर्णतया व्यक्त करके निरतिशय ज्ञान, चारित्र्य आदिका लाभ करता है तथा अनिर्वचनीय स्वाभाविक सुखका अनुभव करता है। जैसे, पूर्णिमाकी रातमें निरस्र चन्द्रकी सम्पूर्ण कलाएँ प्रकाशमान होती हैं, वैसे ही उस समय आत्माकी चेतना आदि सभी मुख्य शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। इन भूमिकाको जैनशास्त्रमें तेरहवाँ गुण स्थान कहते हैं।

इस गुणस्थानमें खिरकाल तक रहनेके बाद आत्मा दग्ध रज्जुके समान शेष आवरणोंकी अर्थात् अप्रधानभूत अघातिकर्मोंको उड़ा कर फेंक बैठेकेलिये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यानरूप पवनका आश्रय लेकर मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारोंको सर्वथा रोक देता है। यही आध्यात्मिक विकासकी पराकाष्ठा किंवा चौदहवाँ गुणस्थान है। इसमें आत्मा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति शुक्ल ध्यानद्वारा सुमेरुकी तरह निष्प्रदम्भ स्थितिको प्राप्त करके अन्तमें शरीर त्याग पूर्वक व्यवहार और परमार्थ दृष्टिसे लोकोत्तर स्थानको प्राप्त करता है। यही निर्गुण ब्रह्मस्थिति \* है, यही सर्वज्ञाण पूर्णता है, यही पूर्ण कृतकृत्यता है, यही परम पुरुषार्थकी अन्तिम सिद्धि

\* "योगसन्यासतस्त्यागी, योगानप्यसिद्धौस्त्यजेत् ।

इत्येव निर्गुण ब्रह्म, परोक्तमुपपद्यते ॥७॥

वस्तुतस्तु गुणै पूर्ण मनन्तैर्मासते स्वतः ।

रूप त्यक्तात्मन साधो - निर्भ्रस्य विधोरिव ॥८॥"

—ज्ञानसार, त्यागाष्टक ।

अनुसार क्रमश मिथ्यात्वकी और सम्यक्त्वकी अवस्थाकी सूचक हैं । (११) योगवाशिष्ठमें तत्त्वज्ञ, समदृष्टि, पूर्णशिवऔर मुक्त पुरुषका

सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्या, ततो ससक्तिनामिका ।  
 पदार्थाभावनी पक्षी, सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥ ६ ॥  
 आसामन्त स्थिता मुक्ति, स्तन्या भूया न शोच्यते ।  
 एतासा भूमिकाना तत्र, मिद निर्वचन शृणु ॥ ७ ॥  
 स्थित किं मूढ एवास्मि, प्रेक्ष्यऽहं शास्त्रसज्जनै ।  
 वैराग्यपूर्वमिच्छेति, शुभच्छेत्युच्यते बुधै ॥ ८ ॥  
 शास्त्रसज्जनसपर्कं वैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।  
 सदाचारप्रवृत्तिर्या, प्रोच्यते सा विचारणा ॥ ९ ॥  
 विचारणा शुभेच्छाभ्या, मिन्द्रियार्थेष्वमत्तता ।  
 यत्र सा तनुताभावा, प्रोच्यते तनुमानसा ॥ १० ॥  
 भूमिकात्रतयाभ्यासा, धिक्तेऽर्थे विरतेर्वशात् ।  
 सत्पात्मनि स्थितिं शुद्धे, सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥ ११ ॥  
 दशाचतुष्टयाभ्यासा, दससगण्डेन च ।  
 रुढसत्त्वचमत्कारा, त्रयोक्ता ससक्तिनामिका ॥ १२ ॥  
 भूमिकापञ्चकाभ्यासा, त्वात्मारामतया दृढम् ।  
 आभ्यन्तराणा बाह्याना, पदार्थानामभावनात् ॥ १३ ॥  
 परप्रयुक्तेन चिर, प्रयत्नेनार्थभावनात् ।  
 पदार्थाभावना नास्ती, पक्षी सजायते गति ॥ १४ ॥  
 भूमिपट्कचिराभ्यासा, द्वेदस्यानुपलम्भत ।  
 यत्स्वभावैकनिष्ठत्व, सा ज्ञेया तुर्यगा गति ॥ १५ ॥

आच्छन्न रहता है, जिसके कारण आत्मा मिथ्याध्यासवाला होकर पौद्गलिक विलासोंको ही सर्वस्व मान लेता है और वहीँकी प्राप्तिके लिये सम्पूर्ण शक्तिका व्यय करता है ।

दूसरी अवस्थामें आत्माका वास्तविक स्वरूप पूर्णतया तो प्रकट नहीं होता, पर उसके ऊपरका आवरण गाढ़ न होकर शिथिल, शिथिलतर, शिथिलतम बन जाता है, जिसके कारण उसकी दृष्टि पौद्गलिक विलासोंकी ओरसे हट कर शुद्ध स्वरूपकी ओर लग जाती है । इसीसे उसकी दृष्टिमें शरीर आदिकी जीर्णता व नवीनता अपनी जीर्णता व नवीनता नहीं है । यह दूसरी अवस्था ही तीसरी अवस्थाका दृढ़ स्तोपान है ।

तीसरी अवस्थामें आत्माका वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है अर्थात् उसके ऊपरके घने आवरण बिलकुल चिरीन हो जाते हैं ।

पहला, दूसरा और तीसरा गुणस्थान बहिरात्म अवस्थाका चित्रण है । चौथेसे बारहवें तकके गुणस्थान अन्तरात्म अवस्थाका दिग्दर्शन है और तेरहवाँ, चौदहवाँ गुणस्थान परमात्म अवस्थाका धर्णन \* है ।

ॐ “ अये तु मिथ्यादर्शनादिभावपरिणतो बाह्यात्मा, सन्यादर्शनादिपरिणतस्त्वन्तरात्मा, केवलज्ञानादिपरिणतस्तु परमात्मा । तत्राद्य गुणस्थानत्रये बाह्यात्मा, तत पर क्षीणमोहगुणस्थान यावदन्तरात्मा, तत परन्तु परमात्मेति । तथा व्यक्त्या बाह्यात्मा, शक्त्या परमात्मान्तरात्मा च । व्यक्त्यान्तरात्मा तु शक्त्या परमात्मा अनुभूतपूर्वनयेन च बाह्यात्मा, व्यक्त्या परमात्मा, अनुभूतपूर्वनयेनैव बाह्यात्मान्तरात्मा च ।”

—अध्यात्ममत्तपरीक्षा, गाथा १२५ ।

जो धर्यन \* है, यह जैन सकेतामुमार चतुर्य आदि गुणस्थानोंमें स्थित  
आत्माको लागू पड़ता है। जैनशास्त्रमें जो ज्ञानका महत्त्व वर्णित † है,

ॐ योग० निर्वाण प्र०, स० १७०, निर्वाण प्र० ८, स० ११९ ।

योग० स्थिति प्रकरण, स० ५७, निर्वाण प्र० स० ११९ ।

† “ जागर्ति ज्ञानदृष्टिरे, तृष्णा कृष्णाऽहिजाह्वली । ”

पूर्णानन्दस्य तर्कि स्या, द्वैतवृत्तिकवेदना ॥ ४ ॥”

—ज्ञानसार, पूर्णसाष्टक ।

“अस्ति चद्मन्विभिद् ज्ञान, किं चित्रैस्तन्त्रयन्त्रणै ।

प्रदीपा कापयुष्यन्ते, तमोऽज्ञो दृष्टिरेव चेत् ॥ ६ ॥

मिव्यात्वकैलपक्षान्तिद्, ज्ञानबन्मोलिशोभित ।

निर्मेय शक्रउद्योगी, नन्दत्यानन्दनन्दने ॥ ७ ॥

पीयूषमसमुद्गात्थ, रसायनमनौषधम् ।

अनन्यापक्षमैश्वर्यै, ज्ञानमाहुर्मर्नापिण ॥ ८ ॥”

ज्ञानसार, ज्ञानाष्टक ।

“ससारं निवसन् स्वार्थं, सख कञ्जलवेदमनि ।

लिप्यते निखिलो लोका, ज्ञानसिद्धो न लिप्यते ॥ १ ॥

नाह पुद्गलभावाना, कर्त्ता कारयिता च ।

नानुमन्तापि चत्यात्म, ज्ञानवान् लिप्यते कथम् ॥ २ ॥

लिप्यत पुद्गलस्कन्धो, न लिप्ये पुद्गलैरहम् ।

चित्रव्यामाखनेनेव, ध्यायन्निति न लिप्यते ॥ ३ ॥

लिप्तताज्ञानसपात, प्रतिघाताय केवलम् ।

निर्लेपज्ञानममस्य, किया सर्वोपयुज्यते ॥ ४ ॥

आत्माका स्वभाव ज्ञानमय है, इसलिये वह चाहे किसी गुण-स्थानमें क्यों न हो, पर ध्यानसे कदापि मुक्त नहीं रहता। ध्यानके सामान्य रीतिसे (१) शुभ और (२) अशुभ, ऐसे दो विभाग और विशेष रीतिसे (१) आर्त, (२) रौद्र, (३) धर्म और (४) शुक्ल, ऐसे चार विभाग शास्त्रमें \* किये गये हैं। चारमेंसे पहले दो अशुभ और पिछले दो शुभ हैं। पौडलिक दृष्टिकी मुख्यताके किंवा आत्म विस्मृतिके समय जो ध्यान होता है, वह अशुभ और पौडलिक दृष्टिकी गौणता व आत्मानुसन्धान दशामें जो ध्यान होता है, वह शुभ है। अशुभ ध्यान ससारका कारण और शुभ ध्यान मोक्ष का कारण है। पहले तीन गुणस्थानोंमें आर्त और रौद्र, ये दो ध्यान ही तर तम भावसे पाये जाते हैं। चौथे और पाँचवें गुणस्थानमें उक्त दो ध्यानोंके अतिरिक्त सम्यक्त्वके प्रभावसे धर्मध्यान भी होता है। छठे गुणस्थानमें आर्त और धर्म, ये दो ध्यान होते हैं। सातवें गुणस्थानमें सिर्फ धर्मध्यान होता है। आठवेंसे बारहवें तक पाँच गुणस्थानोंमें धर्म और शुक्ल, ये दो ध्यान होते हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें सिर्फ शुक्लध्यान होता है † ।

“ बाह्यात्मा चान्तरात्मा च, परमात्मोति च त्रय ।  
 कायाधिष्ठायकध्येवा, प्रासद्धा योगवाद्मये ॥ १७ ॥  
 अन्ये मिध्यात्वसम्यक्त्व, केवलज्ञानमागिन ।  
 मिश्रे च क्षीणमोहे च, विश्रान्तास्ते त्वयोगिनि ॥ १८ ॥”

—योगावतारद्वात्रिंशिका ।

\* “आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि ।”—तत्त्वार्थ-अध्याय ९, सूत्र २९ ।

† इसकेलिये देखिये, तत्त्वार्थ अ० ९, सूत्र ३५ से ४० । ध्यान-शतक, गा० ६३ और ६४ तथा आवश्यक-हारिभट्टी टीका पृ० ६०२ । इस विषयमें तत्त्वार्थके उक्त सूत्रोंका राजवार्तिक विशेष देखने योग्य है, क्योंकि उसमें श्वेताम्बरग्रन्थोंसे योद्धासा मतभेद है ।



तप श्रुतादिना मत्त , क्रियावानपि लिप्यते ।  
भावनाज्ञानसपन्नो, निष्क्रियोऽपि न लिप्यते ॥ ५ ॥”

ज्ञानसार, निर्लेपाष्टक ।

“छिन्दन्ति ज्ञानदात्रेण, स्पृहाविपलता बुधा ।  
मुरशोक् च मूर्च्छा च, दैन्यं यच्छति यत्फलम् ॥ ३ ॥”  
ज्ञानसार, नि स्पृहाष्टक ।

“मिथोयुक्तपदार्थानां, मसक्रमचमक्रिया ।  
चिन्मात्रपरिणामेन, विदुषैवानुभूयते ॥ ७ ॥  
अविद्यातिमिरध्वसे, दृशा विद्याञ्जनस्पृशा ।  
पश्यन्ति परमात्मानं, मात्मन्येव हि योगिन ॥ ८ ॥”  
ज्ञानसार, विद्याष्टक ।

“भवसौरयेन किं भूरि, भयज्वलनभस्मना ।  
सदा मयोज्झित ज्ञानं, सुखमेव विशिष्यते ॥ २ ॥  
न गोप्य कापि नारोप्य, हेय देय च न कश्चित् ।  
क भयेन मुने स्थेय, क्षेय ज्ञानेन पश्यत ॥ ३ ॥  
एक ब्रह्मास्त्रमादाय, निघ्नन्माहचमू मुनि ।  
विभेति नैव सप्राम, शीर्षस्थ इव नागराद् ॥ ४ ॥

मयूरी ज्ञानदृष्टिश्चे, त्सर्पति मनोवने ।  
वेष्टन भयसर्पाणां, न तदाऽऽनन्दचन्दने ॥ ५ ॥  
कृतमोहास्त्रवैफल्यं, ज्ञानवर्म निभर्ति य ।  
क भीस्तस्य क वा भङ्ग , कर्मसगरकेलिषु ॥ ६ ॥

तूलवल्लपवो मूढा, भ्रमन्त्यभ्र भयानिलैः ।  
नैक रोमापि तैर्ज्ञान-गरिष्ठानां तु कम्पते ॥ ७ ॥

गुणस्थानोंमें पाये जानेवाले ध्यानोके उक्त वर्णनसे तथा गुण स्थानोंमें किये हुए बहिरात्म भाव आदि पूर्वोक्त विभागसे प्रत्येक मनुष्य यह सामान्यतया जान सकता है कि मैं किस गुणस्थानका अधिकारी हूँ। ऐसा ज्ञान, योग्य अधिकाारीकी नैसर्गिक महत्वा काहाओ ऊपरके गुणस्थानोंकेलिये उत्तेजित करता है।

## दर्शनान्तरके साथ जैनदर्शनका साम्य ।

जो दर्शन, आस्तिक अर्थात् आत्मा, उसका पुनर्जन्म, उसकी विकासशीलता तथा मोक्ष-योग्यता माननेवाले हैं, उन सबमें किसी न किसी रूपमें आत्माके क्रमिक विकासका विचार पाया जाता स्वाभाविक है। अत एव आचार्यर्षिके जैन, वैदिक और बौद्ध, इन तीनों प्राचीन दर्शनोंमें उक्त प्रकारका विचार पाया जाता है। यह विचार जैनदर्शनमें गुणस्थानके नामसे, वैदिक दर्शनमें भूमिकाओंके नामसे और बौद्धदर्शनमें अवस्थाओंके नामसे प्रसिद्ध है। गुणस्थानका विचार, जैसा जैनदर्शनमें सूक्ष्म तथा विस्तृत है, वेसा अब दर्शनोंमें नहीं है, तो भी उक्त तीनों दर्शनोंकी उक्त विचारके सम्यन्धमें बहुत कुछ समता है। अर्थात् सचेत, वर्णनशैली आदिकी भिन्नता होनेपर भी वस्तुतत्त्वके विषयमें तीनों दर्शनोंका भेद नहीं के बराबर ही है। वैदिकदर्शनके योगवासिष्ठ, पातञ्जल योग आदि ग्रन्थोंमें आत्माकी भूमिकाओंका अच्छा विचार है।

जैशास्त्रमें मिथ्यादृष्टि या बहिरात्माके नामसे अज्ञानी जीवका लक्षण पतलाया है कि जो अनात्मामें अर्थात् आत्म मित्र जड़तत्त्वमें आत्म बुद्धि करता है, वह मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा \* है। योग

ॐ "तत्र मिथ्यादर्शनोदयवर्णीकृता मिथ्यादृष्टि ।"

—तत्त्वार्थ अध्याय ९, सू० १, राजवार्त्तिक १२।

वही योगवाशिष्ठमें प्रहामाहात्म्यके नामसे उल्लिखित है ॥

चित्ते परिणत यस्य, चारित्रमकुतोभयम् ।

अखण्डज्ञानराज्यस्य, तस्य साधो कुतो भयम् ॥ ८ ॥”

ज्ञानसार, निर्भयाष्टक ।

“अदृष्टार्थेतु धावन्त, शास्त्रदीप विना जडा ।

प्राप्नुवन्ति पर खेद, प्रस्खलन्त पदे पदे ॥ ५ ॥

“अज्ञानाहिमहामन्त्र, स्वाच्छन्द्यञ्चरलङ्घनम् ।

धर्माशममुघाकुल्या, शास्त्रमाद्महर्षय ॥ ७ ॥

शास्त्रोक्ताचारकर्त्ता च, शास्त्रज्ञ शास्त्रदेशक ।

शास्त्रैकदृग् महायोगी, प्राप्नोति परम पदम् ॥ ८ ॥”

ज्ञानसार, शास्त्राष्टक ।

“ज्ञानमेव बुधा प्रादु, कर्मणा तापनास्रप ।

तदाम्यन्तरमेवेष्ट, बाह्य तदुपवृद्धकम् ॥ १ ॥

आनुज्ञातसिद्धी श्रुति, श्रोताना सुखशीलता ।

प्राप्तिज्ञातसिद्धी श्रुति, ज्ञानिना परम तप ॥ २ ॥”

“सद्बुधायप्रवृत्ताना, मुपेयमधुरत्वत ।

ज्ञानिना नित्यमानन्द, वृद्धिरेव तपस्विनाम् ॥ ४ ॥”

ज्ञानसार, तपोष्टक ।

● “न तद्गुरोर्न शास्त्रार्था, अ पुण्यात्पाप्यते पदम् ।

यत्साधुसङ्गाम्युदिता, द्विषारविशदादधृद ॥ १७ ॥

सुन्दर्या निजया बुद्ध्या, प्रज्ञयेव वयस्यया ।

पदमासाद्यते राम, न नाम क्रिययाऽन्यया ॥ १८ ॥

यस्योज्ज्वलति तोक्षणाग्रा, पूर्वापराविचारिणी ।  
 प्रज्ञादीपशिखा जातु, आढ्यान्ध्यं त न बाधते ॥१९॥  
 दुरुत्तरा या विपदा, दुःखकष्टोलसकुला ।  
 तीर्थते प्रज्ञया ताभ्यो, नावाऽपद्भ्यो महामते ॥२०॥  
 प्रज्ञाविरहित मूढ, मापदत्पापि बाधते ।  
 पेलवाधानिलकला, सारहीनमिबोलपम् ॥२१॥  
 “प्रज्ञावानसहोऽपि, कार्यान्तमावेगच्छति ।  
 दुष्प्रज्ञ कार्यमासाद्य, प्रधानमपि नश्यति ॥२३॥  
 शास्त्रसज्जनससंगं प्रज्ञा पूर्वं विषर्धयेत् ।  
 सेकसरक्षणारम्भै, फलप्राप्तौ लवामिव ॥२४॥  
 प्रज्ञाबलवृहन्मूल, फाले सत्कार्यपादप ।  
 फल फलस्यतिस्वादु भामोर्भिन्नामिवैन्दवम् ॥२५॥  
 य एव यत्न क्रियते, धात्र्यार्थोपाज्जन जनै ।  
 स एव यत्न कर्तव्य, पूर्वं प्रज्ञाविवर्धने ॥२६॥  
 सीमान्त सर्वदुःखाना, मापदा कोशमुत्तमम् ।  
 बीज ससारवृक्षाणा, प्रज्ञामान्द्यं विनाशयत् ॥२७॥  
 स्वर्गाद्यद्यच्च पाताला, द्वाज्याद्यत्समवाप्यते ।  
 तत्समासाद्यते सर्वं, प्रज्ञाकोशान्महात्मना ॥२८॥  
 प्रज्ञयोत्तीर्यत भीमा, तत्समात्मसारसागरात् ।  
 न दानैर्न च वा तीर्थै, स्तपसा न च राघव ॥२९॥  
 यत्प्राप्ता सपद् दैवी, मापि भूमिचरा नरा ।  
 प्रज्ञापुण्यलतायास्त, स्फल स्वादु समुत्थितम् ॥३०॥

वैसे ही धर्मानुसारी आदि उक्त पाँच प्रकारके आत्मा भी मार—  
कामके वेगको उत्तरोत्तर अल्प धमसे जीत सकते हैं ।

बौद्ध शास्त्रमें दस संयोजनाएँ—बन्धन वर्णित हैं । इनमेंसे  
पाँच 'ओरभागीय' और पाँच 'उद्धभागीय' कही जाती हैं । पहली  
तीन संयोजनाओंका क्षय हो जानेपर सोतापन्न अवस्था प्राप्त  
होती है । इसके बाद राग द्वेष और मोह शिथिल होनेसे सकदा  
गामी अवस्था प्राप्त होती है । पाँच ओरभागीय संयोजनाओंका  
नाश हो जानेपर औपपत्तिक अनावृत्तिधर्मा किंवा अनागामी-  
अवस्था प्राप्त होती है और दसों संयोजनाओंका नाश हो जानेपर  
अरहा पद मिलता है । यह वर्णन जैनशास्त्र-गत कर्मप्रकृतियोंके  
क्षयके वर्णन-जैसा है । सोतापन्न आदि उक्त चार अवस्थाओंका  
विचार चाहेसे लेकर चौदहवें तकके गुणस्थानोंके विचारोंसे  
मिलता-जुलता है अथवा यों कहिये कि उक्त चार अवस्थाएँ चतुर्थ  
आदि गुणस्थानोंका सक्षेपमात्र हैं ।

जैसे जैन शास्त्रमें लब्धिका तथा योगदर्शनमें योगविभूतिका  
वर्णन है, वैसे ही बौद्ध शास्त्रमें भी आध्यात्मिक विकास कालीन  
सिद्धियोंका वर्णन है, जिनको इसमें 'अभिज्ञा' कहते हैं । ऐसी अभि-  
ज्ञाएँ छह हैं, जिनमें पाँच लौकिक और एक लोकोत्तर कही  
गयी † है ।

\* ( १ ) सक्कायदिट्ठि, ( २ ) विचिकच्छा, ( ३ ) सीलव्यपत्त  
परामाम, ( ४ ) कामराग, ( ५ ) पटीध, ( ६ ) रूपराग, ( ७ )  
अरूपराग, ( ८ ) मान, ( ९ ) उद्धध और ( १० ) अविज्जा ।  
मराठीभाषान्तरित, दीघनिकाय, पृ० १७५ टिप्पणी ।

† देखिये,—मराठीभाषान्तरित मज्झिमनिकाय, पृ० १५६ ।

प्रज्ञया नयराखून, मत्तवारणयूथपा ।  
 जम्बुकैर्विजिता सिंहा, सिंहैर्हरिणका इव ॥३१॥  
 सामान्यैरपि मूषत्व, प्राप्त प्रज्ञावशात्तरैः ।  
 स्वर्गापवगयोग्यत्व प्राप्तस्यैवह दृश्यते ॥३२॥  
 प्रज्ञया चादेन सर्वे स्वधिकरूपविलासिन ।  
 जयन्ति सुभटप्ररया, सरानप्यतिभारव ॥३३॥  
 चिन्तामणिरिय प्रज्ञा, इत्कोशस्था विवेकिन ।  
 फल कल्पलतेर्वषा, चिन्तित सम्प्रयच्छति ॥३४॥  
 भव्यस्तरति ससार प्रज्ञयापोद्यतेऽधम ।  
 शिक्षित पारमाप्नोति, नावा नाप्नोत्यशिक्षित ॥३५॥  
 धी सम्यग्योजिता पार, मसम्यग्योजिताऽऽपदम् ।  
 नर नयति ससारे, भ्रमन्ता नौरिवार्णवे ॥३६॥  
 विवेकिनमसमूह, प्राक्षमाशागणोत्थिता ।  
 दोषा न परिबाध ते, सन्नद्धमिव सायका ॥३७॥  
 प्रज्ञयेह जगत्सर्व, सम्यगवाह दृश्यते ।  
 सम्यग्दर्शनमायान्ति, नापदो न च सपद ॥३८॥  
 पिधान परमार्कस्य, जहात्मा वितताऽमित ।  
 अहकाराम्बुदो मत्त, प्रज्ञावातेन बाध्यते ॥३९॥”

अपश्म प्र०, प्रज्ञामाहात्म्य ।

बौद्ध शास्त्रमें बोधिसत्त्वका जो लक्षण \* है, वही जैन शास्त्रके अनुसार सम्मगदृष्टिका लक्षण है। जो सम्मगदृष्टि होता है वह यदि गृहस्थके आरम्भ समाप्त आदि कार्योंमें प्रवृत्त होता है, तो भी उसकी वृत्ति तत्तल्लोहपद-यासवत् अर्थात् गरम लोहेपर रक्खे जानवाले पैरके समान सकम्प या पाप भीरु होती है। बौद्ध शास्त्रमें भी बोधिसत्त्वका वैसा ही स्वरूप मानकर उसे कायपाती अर्थात् गरीरमात्रसे [ चित्तसे नहीं ] सासारिक प्रवृत्तिमें पड़नेवाला कहा है †। वह चित्तपाती नहीं होता।

इति ।

ॐ “कायपातिन एवेह, बोधिसत्त्वा परोदितम् ।

न चित्तपातिनस्ताव, देतदत्रापि शुक्तिमत् ॥२७१॥’

—योगविन्दु ।

† “एव च यत्परैरुक्त, बोधिसत्त्वस्य लक्षणम् ।

विचार्यमाण सङ्गीत्या, तदप्यत्रोपपद्यते ॥ १० ॥

तत्तल्लोहपदन्यास,—तुल्यावृत्ति कचिद्यदि ।

इत्युक्ते कायपात्येव, चित्तपाती न स स्मृत ॥ ११ ॥”

११

—सम्मगदृष्टिद्वानिश्चिका ।

## योगसम्बन्धी विचार ।

गुणस्थान और योग के विचार में अन्तर क्या है ? गुणस्थानके किया अज्ञान व ज्ञान की भूमिकाओंके घर्णनसे यह ज्ञात होता है कि आत्माका आध्यात्मिक विकास किम क्रमसे होता है और योगके घर्णनसे यह ज्ञात होता है कि मोक्षका साधन क्या है । अर्थात् गुणस्थानमें आध्यात्मिक विकासके क्रमका विचार मुख्य है और योग में मोक्षके साधनका विचार मुख्य है । इस प्रकार दोनोंका मुख्य प्रतिपाद्य तत्त्व भिन्न भिन्न होनेपर भी एकके विचारमें दूसरेकी छाया अग्रश्य आ जाती है, क्योंकि कोई भी आत्मा मोक्षके अन्तिम—अनन्तर या अव्यवहित—साधनको प्रयत्न ही प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु विकासके क्रमानुसार उत्तरोत्तर सम्मवित साधनोंको सोपान परम्पराकी तरह प्राप्त करता हुआ अन्तमें चरम साधनको प्राप्त कर लेता है । अतएव योगके—माक्षसाध्याविषयक विचार में आध्यात्मिक विकासके क्रमकी छाया आ ही जाती है । इसी तरह आध्यात्मिक विकास किम क्रमसे होता है, इसका विचार करते समय आत्माके शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम परिणाम, जो मोक्षके साधनभूत हैं, उनकी छाया भी आ ही जाती है । इसलिये गुणस्थानके घर्णन प्रसङ्गमें योगका स्वरूप संक्षेपमें दिखा देना अप्रासङ्गिक नहीं है ।

योग किसे कहते हैं ? —आत्माका जो धर्म व्यापार मोक्षका मुख्य हेतु अर्थात् उपादानकारण तथा बिना विलम्बसे फल देने वास्ता हो, उसे योग कहते हैं । ऐसा व्यापार प्रणिधान आदि शुभ

● 'मोक्षेण योजनादेव, योगो ह्यत्र निश्च्यते ।

लक्षण तेन तन्मुख्य, हेतुर्व्यापारतास्य तु ॥१॥

—योगलक्षण द्वाविंशिका ।



# चौथा कर्मग्रन्थ मूल ।



नमिप जिणं जिअमग्गण, गुणठाणुवओगजोगळेसाओ ।  
यंघप्पयहमाये, सखिज्जाई किमवि वुच्छ ॥ १ ॥  
इह सुहुमवापरेगि, दिवितिचउअसनिसनिपर्विदी ।  
अपजत्ता पज्जत्ता, कमेण चउदस जियट्ठाणा ॥ २ ॥  
वायरअसंनिविगळे, अपज्जि पढमयिय संनि अपजत्ते ।  
अजयजुअ संनि पज्जे, सव्वगुणा मिच्छ सेसेसु ॥ ३ ॥  
अपजत्तक्कि कम्मुर, लमीसजोगा अपज्जसंनीसु ।  
ते सविउयमीस एसु, तणुपज्जेसु उरलमजे ॥ ४ ॥  
सव्वे सनि पजत्त, उरलं सुहुमे सभासु तं चउसु ।  
वायरि सविउव्विदुग, पजसनिसु पार उवओगा ॥ ५ ॥  
पजचउरिंदिअसनिसु, दुदंस दु अनाण दससु चक्खुविणा  
सनिअपज्जे मणना, एचक्खुकेवलदुगघिट्ठणा ॥ ६ ॥  
सनिदुगे छलेस अप, - ज्जयायरे पढम चउ ति सेसेसु ।  
सत्तट्ठ धन्धुदीरण, मतुदया अट्ठ तेरससु ॥ ७ ॥  
सत्तट्ठेगघघा, मतुदया सत्तअट्ठचत्तारि ।  
सत्तट्ठपचदुग, उदीरणा सनिपज्जसे ॥ ८ ॥  
गइइंदिए य काये, जोण वेए कसायनाणेसु ।  
सजमदसणलेसा, - मवसम्मे सनिआहारे ॥

भाव या शुभभावपूर्वक की जानेवाली क्रिया \* है। पातञ्जलदर्शनमें चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको योग † कहा है। उसका भी वही मत सब है, अर्थात् ऐसा निरोध मोक्षका मुख्य कारण है, क्योंकि उसके साथ कारण और कार्य रूपसे शुभ भावका अवश्य सम्बन्ध होता है।

योगका आरम्भ कबसे होना है? —आत्मा अनादि कालसे जन्म मृत्यु के प्रवाहमें पड़ा है और उसमें नाना प्रकारके व्यापारोंको करता रहता है। इसलिये यह प्रश्न पैदा होता है कि उसके व्यापार को कबसे योगम्यरूप माना जाय? इसका उत्तर शास्त्रमें ‡ यह दिया गया है कि जब तक आत्मा मिथ्यात्वसे व्याप्त बुद्धिवाला, अत एव दिक्मूढकी तरह उलटी दिशामें गति करनेवाला अर्थात् आत्म-सत्यसे भ्रष्ट हो, तब तक उसका व्यापार प्रणिधान आदि शुभ भाव

\* "प्रणिधान प्रवृत्तिश्च, तथा विघ्नजयस्त्रिधा ।

सिद्धिश्च विनियोगश्च, एते कर्मशुभाशया ॥१०॥"

"एतैराक्षययोगैस्तु, बिना धर्माय न क्रिया ।

प्रत्युक्त प्रत्यपायाय, लोभक्रोधक्रिया यथा ॥१६॥"

—योगलक्षणद्वित्रिशिका ।

† "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।—पातञ्जलसूत्र, पा० १, सू० २।

‡ "मुख्यत्वं चान्तरङ्गत्वात्, ऽत्कलाक्षेपाच्च दर्शितम् ।

चरमे पुद्गलावर्ते, यत एतस्य सम्भवः ॥२॥

न सम्भागार्थमुख्य स्या, दावर्तेषु परेषु तु ।

मिथ्यात्वच्छन्नबुद्धीना, दिक्मूढानामिवाङ्गिनाम् ॥३॥"

—योगलक्षणद्वित्रिशिका ।

सुरनरतिरिनिरयगई, इगवियतियचउपरिदि छफाया ।  
 भूजलजलाशानिलवण, - तसाय मणवयणतणुजांगा ॥ १० ॥  
 वेप नरित्थिनपुसा, कसाय कोहमयमायलोम त्ति ।  
 महसुयवहि मणकेवल, - विहंगमइसुअचनाण सागारा ॥ ११ ॥  
 सामाइछेयपरिहा, - रसुहुमअहखायदेसजयअजया ।  
 चक्खुअचक्खुओही, - केवलदसण अणागारा ॥ १२ ॥  
 किण्हा नीला काऊ, तेऊ पम्हा य सुफ भवियरा ।  
 वेयगलइगुवमममि, - च्छमीससासाण मनियरे ॥ १३ ॥  
 आहारेयर मेया सुरनरयविभगपइसुओहिदुगे ।  
 सम्मत्तातिगे पम्हा, सुकामनीसु सन्निदुग ॥ १४ ॥  
 तमसनिअपज्जजुय, - नरे मयायरअपज्ज तेऊए ।  
 धावर इगिदि पढमा, चउ धार असन्निदुदु विगले ॥ १५ ॥  
 दस चरम तसे अजया, - हारगतिरितणुकमायदुअनाणे ।  
 पढमतिलेमाभावियर, - अचक्खुनपुमिच्छि सव्वे ॥ १६ ॥  
 पजसती केवलदुग, - सजयमणनाणदेसमणमीसे ।  
 पण चरमपज्ज वयणे, तिय छ व पजियर चक्खुमि ॥ १७ ॥  
 धीनरपरिदि चरमा, चउ अणठारे दु सानि छ अपज्जा ।  
 ते सुहुमअपज्ज विणा, सासणि इत्तो गुणे वुच्छ ॥ १८ ॥  
 पण तिरि चउ सुरारए, नरसनिपरिदिमव्वतसि सव्वे ।  
 इगविगलभुदगवणे, दु दु णग, गइतसुअमव्व ॥ १९ ॥  
 वेयानिस्साय नव दस, लोभे चउ अ

रहित होनेके कारण योग नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत जबसे मिथ्यात्वका निमित्त कम होनेके कारण आत्माकी भ्रान्ति मिटने लगती है और उसकी गति सीधी अर्थात् सन्मार्गके अभिमुख हो जाती है, तभी से उसके व्यापारको प्रणिधान आदि शुभ भाव सहित होनेके कारण 'योग' सञ्ज्ञा दी जा सकती है। सारांश यह है कि आत्माके अनादि सासारिक कालके दो हिस्से हो जाते हैं। एक चरमपुद्गलपरावर्त और दूसरा अचरम पुद्गलपरावर्त कहा जाता है। चरमपुद्गलपरावर्त अनादि सासारिक कालका आखिरी और बहुत छोटा अंश है। अचरमपुद्गलपरावर्त उसका बहुत बड़ा भाग है, क्योंकि चरमपुद्गलपरावर्तको बाद करके अनादि सासारिक काल, जो अनन्तकालचक्र परिमाण है, वह सब अचरमपुद्गल परावर्त कहलाता है। आत्माका सासारिक काल, जब चरमपुद्गल परावर्त परिमाण याकी रहता है, तब उसके ऊपरसे मिथ्यात्व मोहका आवरण हटने लगता है। अतः एव उसके परिणाम निर्मल होने लगते हैं और क्रिया भी निर्मल भावपूर्वक होती है। ऐसी क्रियासे भाव शुद्धि और भी बढ़ती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर भाव शुद्धि बढ़ते जानेके कारण चरमपुद्गलपरावर्तकालीन धर्म-व्यापार को योग कहा है। अचरमपुद्गल परावर्त कालीन व्यापार न तो शुभ भावपूर्वक होता है और न शुभ भावका कारण ही होता है। इसलिये वह परम्परासे भी मोक्षके अनुकूल न होनेके सबब से योग नहीं कहा जाता। पानजलदर्शनमें भी अनादि सासारिक कालके निवृत्ताधिकार प्रकृति और अनिवृत्ताधिकार प्रकृति इस

ॐ "चरमावर्तिनो जन्तो, सिद्धेरासन्नता ध्रुवम् ।

भूयासोऽभी व्यतिक्रान्ता, स्तेष्वेको विन्दुरन्ध्रधौ ॥२८॥"

—मुक्त्यद्वेष्टप्रधान्यद्वार्त्तिशिका ।

मणनाणि सग जयाई, ममइयछेय चउ दुन्नि परिहारे ।  
 केवलदुगि दो चरमा, - जयाइ नव मडलुओहिदुगे ॥२१॥  
 अह उवसमि चउ वेयगि, खहए टक्कार मिच्छतिगि देसे ।  
 सुहुमे य सठाण तेर, - स जोग आहार सुक्काए ॥ २२ ॥  
 अरमात्रिसु पढमदुग, पढमतिलेमासु छ च दुसु सस ।  
 पढमतिमदुगअजया, अणहारे मग्गणासु गुणा ॥२३॥  
 सखेयरमीसअस, - चमोसमणवडविउव्वियाहारा ।  
 उरल मीसा कम्मण, इय जोगा कम्ममणहारे ॥२४॥  
 नरगइपणिदितसनणु, - अचक्खुनरनपुकमायसमदुगे ।  
 मानिछलेसात्तरग, - भवमडसुओहिदुगे सव्वे ॥२५॥  
 तिरिहत्थिअजयसासण, - अनाणउवसमअमव्वमिच्छेसु ।  
 तेराहारदुगूणा, ने उरलदुगूण सुरनरण ॥ २६ ॥  
 कम्मुरलदुग थावरि, ते सविउव्विदुग पंच इगि पवणे ।  
 छ अमानि चरमवइजुय, ते विउव्वदुगूण चउ विगलं ॥२७॥  
 कम्मुरलमीसविणु मण, - वइसमइयछेयचक्खुमणनाणे ।  
 उरलदुगकम्मपढम, - तिममणवड केवलदुगमि ॥२८॥  
 मणवइउरलापरिहा, - रि सुहुमि नव ते उमीसि सविउव्वा ।  
 देसे सविउव्विदुगा, सकम्मुरलमीस अहखाण ॥ २९ ॥  
 ति अनाण नाण पण चउ, दसण पार जियणअखणुवओगा ।  
 विणुमणनाणदुकेवल, नव सुरतिरिनिरयअजएसु ॥३॥  
 तसजोगवेयसुक्का, - हारनरपणिदिमंनिमवि मव्वे ।  
 मयणेरपणलेना, - कसाइ दम केवलदुगूणा ॥ ३० ॥

प्रकार दो भेद पतलाये हैं, जो शास्त्र के चरम और अचरम पुत्रनपरा धर्म के जैन समानार्थक \* हैं ।

योग के भेद और उनका आधार —

जैनशास्त्र में † (१) अभ्यात्म (२) भावना, (३) ध्यान, (४) समता और (५) वृत्तिसङ्घ, ये सब भौतिक भेद योग के विषय हैं । पातञ्जल दर्शन में योग के (१) सम्प्रसात और (२) असम्प्रसात, ये दो भेद ‡ हैं । जो मात्सङ्ग साक्षात्—अथर्वहित कारण हो अर्थात् जिसके प्राप्त होने के बाद तुरन्त ही मोक्ष हो, वही यथायथ योग कहा जा सकता है । परन्तु योग जैनशास्त्र के सर्वेमानुसार वृत्तिसङ्घ और पातञ्जल दर्शन के संकेतानुसार असम्प्रसात ही है । अतः यह यह प्रश्न होता है कि योग के जो इतने भेद किये जाते हैं, उनका आधार क्या है ? इसका उत्तर यह है कि अलम्बिता वृत्तिसङ्घ विषय असम्प्रसात ही मात्सङ्ग साक्षात् कारण होने से वास्तव में योग है । तथापि यह योग किसी विकासगामी आत्मा को पहले ही पहले प्राप्त नहीं होता, किन्तु इसके पहले विकासक्रम के अनुसार ऐसे अनेक आन्तरिक धर्म व्यापार करने पड़ते हैं, जो उत्तरोत्तर विकास को बढ़ाने वाले और अन्त में उस वास्तविक योग तक पहुँचाने वाले होते हैं । ये सब धर्म—

ॐ "योजनायोग इत्युच्यते, मोक्षण मुनिसत्तमे ।

स निवृत्ताधिकाराया, पकृतौ छेदतो ध्रुव ॥१४॥"

—अपुनर्बन्धद्वयविरशिका ।

† "अभ्यात्म भावना ध्यान, समता वृत्तिसङ्घ ।

योग पञ्चाविध प्रोक्तो, योगमार्गविशारदे ॥१॥"

—योगभेदद्वयविरशिका ।

‡ देखिये, पाद १, सूत्र १७ और १८ ।

चउरिदिअसनिदुअना,-णदसणइगिथितियावरिअचक्खु  
 तिअनाणदसणदुग,-अनाणतिगअमविमिच्छदुगे ॥१२॥  
 केयलदुगेनियदुग, नचतिअनाणविणुखइयअहखाये ।  
 दंसणनाणतिगद,सिभीसिअन्नाणमीसत ॥१३॥  
 मणनाणचक्खुवज्जा,अणहारितिन्निदसणचउनाणा ।  
 चउनाणसजमोवस,-मवेयगेओहिदसेय ॥१४॥  
 दोतेरतेरयारस,मणेकमाअट्टदुचउचउचयणे ।  
 चउदुपणतिसि काये,जियगुणजोगोवओगने ॥१५॥  
 अस्तुलेसास्तुसठारण,एगिदिअसनिभूदगवणेषु ।  
 पढमाचउरोतिसिउ,नारयविगलग्गिपवणेषु ॥१६॥  
 अहखायस्तुहुमकेवल,-हुगिसुखाआविसेसठाणेसु ।  
 मरनिरयदेवतिरिया,थोवादुअसखणतगुणा ॥१७॥  
 पणचउतिदुएगिदी,थोवातिसिअहियाअणतगुणा ।  
 तसथोवअसखग्गी,भूजलानिलअहियवणएता ॥१८॥  
 मणययणकायजोगा,थोवाअसखगुणअणतगुणा ।  
 पुरिसाथोवाइत्थी,सखगुणाणतगुणकीवा ॥१९॥  
 माणीकोहीमाई,ओहीअहियमणनाणिणोथोवा ।  
 ओहिअसखामहसुय,अहियसमअसखविन्मगा ॥२०॥  
 केवलिणोणतगुणा,महसुयअन्नाणिणतगुणतुल्ला ।  
 सुट्टमाथोवापरिहारसम्बअहखायसम्बगुणा ॥२१॥  
 वेयसमईयमखा,देसअसखगुणणतगुणअजया ।

योगके साक्षात् किंवा परम्परासे हेतु होनेसे योग 'कहे जाते हैं । साराश यह है कि योगके भेदोंका आधार विकासका क्रम है । यदि विकास क्रमिक न होकर एकही बार पूर्णतया प्राप्त हो जाता तो योगके भेद नहीं किये जाते । अतएव वृत्तिसंक्षय जो मोक्षका साक्षात् कारण है उसको प्रधान योग समझना चाहिये और उसके पहलेके जो अनेक धर्म व्यापार योगकोटिमें गिने जाते हैं, वे प्रधान योगके कारण होनेसे योग कहे जाते हैं । इन सब व्यापारोंकी समष्टिको पातञ्जलदर्शनमें सम्प्रज्ञात कहा है और जैन शास्त्रमें शुद्धिके तरतम भाषानुसार उस समष्टिके अध्यात्म आदि चार भेद किये हैं । वृत्तिसंक्षयके प्रति साक्षात् किंवा परम्परासे कारण होनेवाले व्यापारोंको जब योग कहा गया, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि वे पूर्वभाषी व्यापार कयसे लेने चाहिये । किन्तु इसका उत्तर पहले ही दिया गया है कि अचरमपुद्गलपरायतकालसे जो व्यापार किये जाते हैं, वे ही योगकोटिमें गिने जाने चाहिये । इसका सबब यह है कि सहकारी निमित्त मिलते ही, वे सब व्यापार मोक्षके अनुकूल अर्थात् धर्म व्यापार हो जाते हैं । इसके विपरीत कितने ही सहकारी कारण क्यों न मिलें पर अचरमपुद्गलपराधर्त-कालीन व्यापार मोक्षके अनुकूल नहीं होते ।

### योगके उपाय और गुणस्थानोंमें योगावतार :—

पातञ्जलदर्शनमें (१) अभ्यास और (२) धैर्य, ये दो उपाय योगके बतलाये हुए हैं । उसमें धैर्य भी पर अपर रूपसे दो प्रकारका कहा गया है \* । योगका कारण होनेसे धैर्यको योग मानकर जैन शास्त्रमें अपर धैर्यको अतात्त्विक धर्मसम्यास और परधैर्यको ता



पच्छाणुपुब्बि लेसा, थोवा दो सख णत दो अहिया ।  
 अभविपर थोवणता, मासणे योवोवसम सखा ॥४३॥  
 मीसा सखा घेयग, असंखगुण खइयमिच्छ दु अणता ।  
 सनियर थोव णता, णहार थोवेयर असखा ॥४४॥  
 सब्व जियठाण मिच्छे, सग सासणि पण अपज्ज सन्निदुगं ।  
 समे सन्नी दुविहो, मेसेसु सनिपज्जत्तो ॥४५॥  
 मिच्छदुगअजह जोगा, -हारदुगूणा अपुव्वपणगे उ ।  
 मणवह वरलं सघिउ, -व्व मीसि सविउव्वदुग देसे ॥४६॥  
 साहारदुग पमत्ते, ते घिउवाहारमीस विणु इयरे ।  
 कम्मुरलदुगंताइम, मणवयण मयोगि न अजोगी ॥४७॥  
 तिअनाणदुदसाइम, दुगे अजह देसि नाणदसातिग ।  
 ते मीसि मीसा समणा, जयाड केउलदु अतदुगे ॥४८॥  
 सासणभावे नाण, विउव्वगाहारगे वरलमिस्स ।  
 नेगिदिसु सासाणो, नेहाहिगय सुयमय पि ॥४९॥  
 छसु सव्वा तेउतिग, इगि छसु सुफा अयोगि अल्लेसा ।  
 पंधस्स मिच्छ अविरह, -कसायजोगस्ति चउ हेऊ ॥५०॥  
 अभिगाहियमणभिगहिया, -मिनिवसियससइयमणाभोग  
 पण मिच्छ चार अविरह, मणकरणानियमु छजियवहो ॥५१॥  
 नव सोल कसाया पन, -र जोग इय उत्तरा उ सगवघ्ता ।  
 इगचउपणतिगुणेषु, -चउतिदुहगपचओ बघो ॥५२॥  
 चउमिच्छमिच्छअविरह, -पघइया सायमो...  
 जोग विणु तिपच्चइया, -ए।१ ...सेसाओ ॥

त्त्विक धर्मसंन्यासयोग कहा है। जैन शास्त्रमें योगका आरम्भ पूर्व सेवासे माना गया † है। पूर्वसेवासे अध्यात्म अध्यात्मसे माधना भावनासे ध्यान तथा समता, ध्यान तथा समतासे धृत्तिसत्त्व और धृत्तिसत्त्वसे मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिये धृत्तिसत्त्व ही मुख्य याग है और पूर्व सेवासे लेकर समता पर्यन्त सभी धर्म-व्यापार साक्षात् किया परम्परासे योगके उपायमात्र ‡ हैं। अपुनर्ध-धक, जो मिथ्यात्वको त्यागनेकेलिये तत्पर और सम्यक्त्व प्राप्तिके अभिमुख होता है, उसको पूषसेवा तात्त्विकरूपसे होती है और लहृद्ध-धक, द्विर्धन्धक आदिको पूर्वसेवा अतात्त्विक होती है। अध्यात्म और भावना अपुनर्ध-धक तथा सम्यग्दृष्टिको व्यवहार नयसे तात्त्विक और देश विरति तथा सर्व विरतिको निश्चयनयसे तात्त्विक होते हैं। अममत्त सर्वविरति आदि गुणस्थानोंमें ध्यान तथा समता इत्तदोत्तर तात्त्विकरूपसे होते हैं। धृत्तिसत्त्व तेर-

ॐ “विषयदोषदर्शनजनितमायात् धमसंन्यासलक्षण प्रथमम्, स तन्वाचिन्तया विषयीदासान्यन जनित द्वितीयापूर्वकरणभावि तात्त्विकधर्मसंन्यासलक्षण द्वितीय वैराग्य, यत्र क्षायोपशमिका धर्मा अपि क्षीयन्त क्षाधिकाश्चोत्पद्यन्त इत्यस्माक सिद्धान्तः ।”

—श्रीयशोविजयजी कृत पातञ्जल दर्शनवृत्ति, पाद १०, सूत्र १६।

† “पूषसेवा ॥ यागस्य, गुरुदेवादिपूजनम् ।

सदाचारस्तपो मुक्त्य, द्वेषश्चेति प्रकीर्तिता ॥१॥’

—पूर्वसेवाद्वात्रिंशिका ।

‡ “उपायत्वेऽत्र पूर्वेषा, मन्त्य एवावशिष्यते ।

तत्पञ्चमगुणस्थाना, दुपायोऽर्वागिति स्थिति ॥३१॥”

—योगभेदद्वात्रिंशिका ।

इस ग्रन्थके तीन विभाग हैं — (१) जीवस्थान, (२) मार्गणास्थान, और (३) गुणस्थान । पहले विभागमें जीवस्थानको लेकर आठ विषयका विचार किया गया है, यथा — (१) गुणस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा और (८) सत्ता । दूसरे विभागमें मार्गणास्थानपर छह विषयोंकी विवेचना की गई है — (१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या और (६) अल्पबहुत्व । तीसरे विभागमें गुणस्थानको लेकर बारह विषयोंका चर्चन किया गया है — (१) जीवस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्धहेतु, (६) बन्ध, (७) उदय, (८) उदीरणा, (९) सत्ता, (१०) अल्पबहुत्व, (११) भाव और (१२) सख्यात आदि सख्या ।

१—इन विषयोंकी समस्त गाथायें ये हैं —

“नमिय जिण वत्तम्या, चउदसजिअठाणएसु गुणठाणा ।  
जोगुवओगो लेसा, वधुदओदीरणा सत्ता ॥ १ ॥  
तह मूलचउदमग्गण, ठाणेसु वासट्ठि उत्तरेसु च ।  
जिअगुणजोगुवओगा, लेसप्पवहु च छट्ठाणा ॥ २ ॥  
चउदसगुणेसु जिअजो, गुवओगलेसा च वधहेऊ य ।  
वधाइचउअप्पा, यहु च सो भावससाई ॥ ३ ॥”

ये गाथायें भोजीवर्णनयमी कृत्वा और भाग्यसोमसूरि-कृत्वा रच्ये हैं । इनके रचानमें पाठान्तरवाला निम्नलिखित तीन गाथायें प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ हारिमद्री टीका भीवेदसूरि इन स्वापय टीका और भीन्वनोमसूरि कृत्वा रच्ये हैं —

“चउदसजियठाणेसु, चउदसगुणठाणाणि जोगा य ।

उ -ओदीरणसत्त अट्ठपए ॥ १ ॥

द्वयं और चौदहवें गुणस्थानमें होना\* है। सम्प्रज्ञातयोग अर्थात्मा से लेकर ध्यान पर्यन्तके चारों भेदस्वरूप है और असम्प्रज्ञातयोग वृत्तिसंश्लयरूप है। इसलिये चौथेसे बागहवें गुणस्थानतकमें सम्प्रज्ञातयोग और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानमें असम्प्रज्ञातयोग समझना चाहिये † ।

ॐ "शुक्लपक्षेन्दुवत्प्रायो वर्धमानगुण स्मृत ।

भवाभिनन्ददोषाणा, अपुनर्वन्धका व्यये ॥ १ ॥

अस्यैव पूर्वसेवाक्ता, मुरयाऽन्यस्योपचारत ।

अस्यावस्थान्तर मार्ग, पातेतामिमुखौ पुन ॥ २ ॥"

—अपुनर्वन्धकद्वान्त्रिशिका ।

"अपुनर्वन्धकस्याय, व्यवहारेण सार्विक

अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥१४॥

सकृदावर्तनादीना, मत्सार्विक वदाहृत ।

प्रत्यपायकलप्राय, स्तथा वेपादिमात्रत ॥१५॥

शुद्धरपेक्षा यथायोग, चाग्निवत् एव च ।

हन्त ध्यानादिको योग, स्तार्विक प्रविजृम्भते ॥१६॥"

—योगविवेकद्वान्त्रिशिका ।

† "सम्प्रज्ञातोऽवतरति, ध्यानभेदेऽत्र तत्त्वत ।

सार्विकी च समापत्ति, नार्त्माना भाव्यता विना ॥१५॥

"असम्प्रज्ञातनामा तु, समतो वृत्तिसंश्लय ॥

सर्वतोऽस्मादकरण, नियम पापगोचर ॥२१॥"

—योगावतारद्वान्त्रिशिका ।

## जीवस्थान आदि विषयोंकी व्याख्या ।

(१) जीवोंके सूक्ष्म, वादर आदि प्रकारों (भेदों) को 'जीवस्थान' कहते हैं । द्रव्य और भाव प्राणोंको जो धारण करता है, वह 'जीव' है । पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये दस द्रव्यप्राण हैं, क्योंकि वे जड़ और कर्मजन्य हैं । ज्ञान, दर्शन आदि पर्याय, जो जीवके गुणोंके ही कार्य हैं, वे भावप्राण हैं । जीवको यह व्याख्या ससारी अस्थाको लेकर की गई है, क्योंकि जीवस्थानोंमें ससारी जीवोंका ही समावेश है, अत एव वह मुक्त जीवोंमें लागू नहीं पड़

चतुदसमगणठाणे—सुमूलपएसु विसट्टि इयरेसु ।

जियगुणजोगुवओगा, लेसप्पबहु च छट्ठाणा ॥ २ ॥

चतुदसगुणठाणेसु, जियजोगुवओगलेसवधा य ।

यधुदयुदीरणाओ, सतप्पबहु च दस ठाणा ॥ ३ ॥”

१—जीवस्थानके अर्थमें जीवममास शब्दका प्रयोग भी शिम्बरीय साहित्यमें मिलता है । इसकी व्याख्या उसमें हम प्रार है —

‘जेहि अणेया जीवा, णज्जते बहुविहा वि तज्जादी ।

ते पुण सगहिदत्था, जीवसमासा सि विण्णेया ॥७०॥

तसचदुजुगाणमज्जे, अविरुद्धेहि जुदजादिकम्मुदये ।

जीवसमासा होंति हु, तच्चवसारिच्छसामण्णा ॥७१॥”

—जीवकाण्ड ।

जिन धर्मोद्देशातः अनेक जीव तथा उरुकी अनेक जातियोंका बोध होता है वे 'जीवसमासा' कहलाते हैं ॥७०॥ तथा त्रम, वादर, पर्याप्त और प्रत्येक गुणमेंसे अविरुद्ध नामकर्म(जैसे सूक्ष्मसे अविरुद्ध स्थावर)के उदयसे पुनः जाति नामकर्मका उदय होनेपर जो ऊप्यतासामान्य जीवोंमें होती है वह जीवसमासा कहलाता है ॥७१॥

कालक्रमसे अनेक अवस्थाओंके होनेपर भी एक ही वस्तुका जो पृथक् पृथक् सादृश्य देखा जाता है, वह 'ऊप्यतासामान्य' है । इससे उत्पन्न एक समयमें ॥ अनेक वस्तुओंकी जो परस्पर समानता देमी जाती है, वह 'तियक्साण' य है ।

पाँच विभागोंमें विभाजित है। इनके नाम इस प्रकार हैं — [ १ ] धर्मानुसारी, [ २ ] सोतापन्न [ ३ ] सकदागामी, [ ४ ] अनागामी और [ ५ ] अरहा । [ १ ] इनमेंसे धर्मानुसारी' या 'भद्रानुसारी' यह कहलाता है, जो निपाणमागके अर्थात् मोक्षमागके अभिमुख हो, पर उसे प्राप्त न हुआ हो। इसीका जैनशास्त्रमें 'धर्मानुसारी' कहा है और उसके पैतास गुण बतलाये हैं\* । [ २ ] माक्षमागको प्राप्त किये हुए आत्माओंके विकासकी न्यूनाधिकताके कारण सोतापन्न आदि चार विभाग हैं। जो आत्मा अविनिपात, धर्मानियत और सम्बोधिपरायण हो, उसको 'सोतापन्न' कहते हैं। सोतापन्न आत्मा सातवें जन्ममें अजरण निर्जण पाता है। [ ३ ] 'सकदागामी' उसे कहते हैं, जो एक ही बार इस लोकमें जन्म ग्रहण करके मोक्ष जानेवाला हो। [ ४ ] जो इस लोकमें जन्म ग्रहण न करके ब्रह्म लोकसे सीधे ही मोक्ष जानेवाला हो, यह 'अनागामी' कहलाता है। [ ५ ] जो सम्पूर्ण आस्रवोंका क्षय करके दृढकाय हो जाता है, उसे 'अरहा' † कहते हैं।

धर्मानुसारी आदि उक्त पाँच अवस्थाओंका ध्यान मज्झिम निकायमें बहुत स्पष्ट किया हुआ है। उसमें ध्यान ‡ किया है कि तत्कालजात पत्त, कुछ बड़ा किन्तु दुर्बल घटस, मोढ़ घटस, हलमें जोतने लायक बलवान् घेल और पूर्ण वृषभ जिस प्रकार उत्तरोत्तर अटप अटप भ्रमसे गङ्गा नदीके तिरछे प्रवाहको पार कर लेते हैं,

\* देखिये, अहिमचन्द्राचार्य-कृत योगशास्त्र, प्रकाश १ ।

† देखिये, प्रो० राजवाड़ संपादित मराठीभाषान्तरित दीघ निकाय, पृ० १७६ टिप्पणी ।

‡ देखिये, पृ० १५६ ।



जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान, ये सव जीवकी अवस्थाएँ हैं, तो भी इनमें अन्तर यह है कि जीवस्थान, जाति-नामकर्म, पर्याप्त-नामकर्म और अपर्याप्त-नामकर्मके औदयिक भाव हैं; मार्गणास्थान, नाम, मोहनोप, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और घेदनीयकर्मके औदयिक आदि भावरूप तथा पारिणामिक भावरूप हैं और गुणस्थान, सिर्फ मोहनोपकर्मके औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भावरूप तथा योगके भावामाधरूप हैं ।

(५) चेतना शक्तिका बोधरूप व्यापार, जो जीवका असाधारण स्वरूप है और जिसकेद्वारा वस्तुका सामान्य तथा विशेष स्वरूप जाना जाता है, उसे 'उपयोग' कहते हैं ।

(५) मन, घचन या कायकेद्वारा होनेवाला धीर्य शक्तिका परिस्पन्द—आत्माके प्रदेशोंमें हलचल (कम्पन)—'योग' है ।

(६) आत्माका सहजरूप स्फटिकके समान निर्मल है । उसके भिन्न भिन्न परिणाम जो कृष्ण, नील आदि अनेक रँगवाले पुद्गल-निरोपके असरसे होते हैं, उन्हें 'लेश्या' कहते हैं ।

(७) आत्माके प्रदेशोंके साथ कर्म-पुद्गलोंका जो दूध पानीके समान सम्बन्ध होता है, वही 'बन्ध' कहलाता है । बन्ध, मिथ्यात्व आदि हेतुओंसे होता है ।

१—योगमग्यार जीवकाण्डमें यही शब्द है ।

“यत्पुनिमित्त भागो, जादो जीवस्स जो दु उवजोगो ।

सो दुविहो णायवो, सायारो चेव णायारो ॥६७१॥”

२—देसिये परिशिष्ट क ।

३—“कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्परिणामोऽयमात्मन ।

स्फटिकस्येव तज्जाऽय, लेश्याशब्द प्रवर्तते ॥”

यह एक प्राचीन श्लोक है । जिसे श्रीहरिमन्दिरने आचरयक-रीति १४ १-५ पर प्रमाण रूपसे लिया है ।



## (२)-जीवस्थानोंमें योग ।

[ दो गाथाओंसे । ]

अपर्याप्तद्वि कम्पुन, लमीसजोगा अपज्जसनीसु ।  
ते सविउव्वमीस एसु तणु पज्जेसु उरलमन्ने ॥४॥

अपर्याप्तपट्टके कार्मणोदारिकमिश्रयोगावपर्याप्तसंज्ञेषु ।

वा सर्वोक्तयमिभावेणु तनुपयासेप्पोदारिकमये ॥ ५ ॥

अर्थ—अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, अपर्याप्त वादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त विकलत्रिक और अपर्याप्त असक्षि पञ्चेन्द्रिय, इन छह प्रकारके जीवोंमें कार्मण और औदारिकमिथ, ये दो ही योग होते हैं। अपर्याप्त सक्षि पञ्चेन्द्रियमें कार्मण, औदारिकमिथ और धेक्रियमिथ, ये तीन योग पाये जाते हैं। अन्य आचार्य ऐसा मानते हैं कि "उक्त सातों प्रकारके अपर्याप्त जीव जब शरीरपर्याप्ति पूरी कर लेते हैं, तब उन्हें औदारिक काययोग ही होता है, औदारिकमिथ नहीं" ॥४॥

भावार्थ—सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त छह अपर्याप्त जीव-स्थानोंमें कार्मण और औदारिकमिथ दो ही योग माने गये हैं इसका कारण यह है कि सब प्रकारके जीवोंको अन्तराल गतिमें तथा जन्म ग्रहण करनेके प्रथम समयमें कामणयोग ही होता है, क्योंकि उस समय औदारिक आदि स्थूल शरीरका अभाव होनेके कारण भोगप्रवृत्ति केवल कार्मणशरीरसे होती है। परन्तु उत्पत्तिके दूसरे समयसे लेकर स्वयोग्य पर्याप्तियोंके पूर्ण बन जाने तक मिथयोग होता है, क्योंकि उस अवस्थामें कार्मण और औदारिक आदि

(८) यँधे हुए कर्म-दलिकोंका विपाकानुभव (फलोदय) “उदय” कहलाता है । कमीतो विपाकानुभव, अथाधाकाल पूर्ण होनेपर होता है और कमी नियत अथाधाकाल पूर्ण होनेके पहले ही अपर्यन्त आदि करणसे होता है ।

(९) जिन कर्म-दलिकोंका उदयकाल न आया हो, उन्हें प्रयत्न विशेषसे खींचपर-बधकालीन स्थितिसे हटाकर-उदयावधिकारमें दाखिल करना ‘उदीरणा’ कहलाती है ।

(१०) घ-जने या सकर्मण करणसे जा कर्म-पुद्गल, जिस कमकर्म में परिपत हुये हों, उनका, निर्जरा या सकर्मसे रूपान्तर न होकर उस स्वरूपमें बना रहना ‘सत्ता’ है ।

१—यँधा हुआ कम जितने काल तक स्वयमेव नहीं आरम्भ होता

। कर्म है ।

२—कर्म के पुन-वद्ध स्थिति और कम जिस बीर्य-शक्तिसे

‘सकर्मण’

कर्मों कहते हैं ।

३—जिन बीर्य-शक्तियोंमें कर्मका रूप होता है वह

कहलाता है

४—जिन बीर्य-शक्तियोंसे वह कर्म का अन्त मनातीय

होता है

सकर्मण कहते हैं ।

५—कर्म पुन-वद्धोंका अन्त प्रशङ्गासे जाता होता है

६—एक कर्म के अन्त स्थिति प्रशङ्गा स्थिति

कर्मकर्मसे अन्त जाना संक्रम है ।

७—एक उदय उदीरणा और सत्ता कहते हैं ।

कर्म अन्तमें इन प्रकार है —

“जीवस्स पुग्गलान् य, ७

मिच्छाद्देवविदिया, जा

करणेण सहावेण य, १५

अ वेयण विवागे, ७ सो क

स्थूल शरीरको मददसे योगप्रवृत्ति होती है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि छहों जीवस्थान औदारिकशरीरवाले ही हैं, इसलिये इनको अपर्याप्त अवस्थामें कामणकाययोगके बाद औदारिकमिथकाययोग ही होता है। उक्त छह जीवस्थान अपर्याप्त कहे गये हैं। सो लब्धि तथा करण, दोनों प्रकारसे अपर्याप्त समझने चाहिये।

अपर्याप्त सत्ति पञ्चेन्द्रियमें मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारक-सभी सम्मिश्रित हैं, इसलिये उसमें कामणकाययोग और कामणकाययोगके बाद मनुष्य और तिर्यञ्चकी अपेक्षासे औदारिकमिथकाययोग तथा देव और नारककी अपेक्षाने धैर्यमिथकाययोग, कुल तीन योग माने गये हैं।

गाथामें जिस मतान्तरका उल्लेख है, वह शोभाह्म आदि आचार्योंका है। उनका अभिप्राय यह है कि "शरीरपर्याप्ति पूर्ण बन जानेसे शरीर पूर्ण बन जाता है। इसलिये अन्य पर्याप्तियोंकी पूर्णता न होनेपर भी जब शरीर पर्याप्ति पूर्ण बन जाता है तभीसे मिथयोग नहीं रहता किन्तु औदारिक शरीरवालोंको औदारिकका यथाग और धैर्यशरीरवालोंको धैर्यकाययोग ही होता है।" इस मतान्तरके अनुसार सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि छह अपर्याप्त जीवस्थानोंमें कामण, औदारिकमिथ और औदारिक, ये तीन योग और

१-वेत्ते — "औदारिकयोगस्तिर्यग्मनुजयो शरीरपर्याप्तेरूर्ध्व, तदा स्तरस्तु मिथ ।" — भाषाण्ड-ग्रन्थ २, उ० १ की टीका पृ० १४।

बहुते मतान्तरके उल्लेखने गाथामें उक्त ९ ही है तथापि वह धैर्यकाययोग उपलब्धक (सूक्त) है। इसलिये वैक्यशरीर देव नारकोंको शरीरपर्याप्ति पूर्ण बन जाने बाद अपर्याप्त-दशामें धैर्यकाययोग समझना चाहिये।

इस मतान्तरको धृष्ट आचौन गाथाके आधारपर भीमलकविरिजीने पृष्ठग्रह भा० गा ६७ की शृतिमें विस्तारपूर्वक दिखाना है।

(११) मिथ्यात्व आदि जिन वैभाविक परिणामोंसे बुद्बुल, कर्म रूपमें परिणत हो जाते हैं, उन परिणामोंको कहते हैं ।

(१२) पदार्थोंके

(१३) जीव और अजीवकी को 'भाव' कहते हैं ।

(१४) सख्यात, असख्यात और सहाय्ये हैं ।

## विषयोंके क्रमका ।

सबसे पहले जीवस्थानका निर्देश सयमें मुख्य है, क्योंकि मार्गणास्थान आदि विचार जीवको लेकर ही किया जाता है । निर्देश करनेका मतलब यह है कि जीवके धिक् स्वरूपका बोध किसी न किसी गति आदि स्थानक ) द्वारा ही किया जा सकता है । गुणस्थानके निर्देश करनेका मतलब यह है कि स्थानधर्ती हैं, वे किसी न किसी गुणस्थानमें

कम्भाणूण जाण, करणविसेसेण

ज उदयावलियाए, पवेसणमुदीरणा सेह ॥ !

घघणसकमलद्ध, -सल्लाहकम्मस्सरुवअविणासो ।

निश्जरणसकमेहिं, सम्भावो जो य सा सत्ता ॥

१—आत्माके कर्मा व अन्य परिणाम 'वैभाविक परिणाम' है । जैसे

२—देखिये आगे गाथा ५१-५२ ।

३—देखिये आगे गा० ७३ से आगे ।

अपर्याप्त सन्नि पञ्चेन्द्रियमें उक्त तीन तथा वैक्रियमिध और वैक्रिय, कुल पाँच योग समझने चाहिये ।

उक्त मतान्तरके सम्यन्धमें टीकामें लिखा है कि यह मत युक्ति हीन है; क्योंकि केवल शरीरपर्याप्ति बन जानेसे शरीर पूरा नहीं बनता, किन्तु उसकी पूर्णताकेलिये स्वयोग्य सभी पर्याप्तियोंका पूर्ण बन जाना आवश्यक है । इसलिये शरीरपर्याप्तिके बाद भी अपर्याप्त अवस्था पर्यन्त मिश्रयोग मानना युक्त है ॥४॥

सर्वे सानिपजत्ते, उरल सुद्धुमे समासु तं च उद्धु ।

वायरि सविउव्विदुग, पजसनि सुधार उवओगा ॥५॥

सर्वे सानि पर्याप्त औदारिक सूद्धुमे समाप तच्च उद्धु ।

वादरे त्वैक्रियदिक्, पर्याप्तवशिषु द्वादशापयोगा ॥५॥

अर्थ—पर्याप्त सन्निमें सब योग पाये जाते हैं । पर्याप्त सूद्धु-एकेन्द्रियमें औदारिककाययोग ही होता है । पर्याप्त विकलेन्द्रिय विक और पर्याप्त असन्नि पञ्चेन्द्रिय, इन चार जीवस्थानोंमें औदारिक और असत्प्राप्तपाचजन, ये दो योग होते हैं । पर्याप्त वादरे एकेन्द्रियमें औदारिक, वैक्रिय, तथा वैक्रियमिध, ये तीन काययोग होते हैं । ( जीवस्थानोंमें उपयोग — ) पर्याप्त सन्नि पञ्चेन्द्रियमें सब उपयोग होते हैं ॥५॥

भावार्थ—पर्याप्त सन्नि-पञ्चेन्द्रियमें इहाँ पर्याप्तियाँ होती हैं, इसलिये उसकी योग्यता विशिष्ट प्रकारकी है । अतएव उसमें चारों वचायोग, चारों मनोयोग और सातों काययोग होते हैं ।

यद्यपि कर्मण, औदारिकमिध और वैक्रियमिध, ये तीन योग अपर्याप्त-अवस्था भावी हैं, तथापि वे सन्नि पञ्चेन्द्रियोंमें पर्याप्त अवस्थामें भी पाये जाते हैं । कर्मण तथा औदारिकमिधकाययोग पर्याप्त-अवस्थामें तब होते हैं, जब कि केवली भगवान् केवलि-समुद्रात रहते

शुण्डानके बाद उपयोगके निर्देशका तात्पर्य यह है कि जो उपयो-  
गवान हैं, उन्हींमें शुण्डानोंका सम्भव है, उपयोग शून्य आकाश  
आदिमें नहीं। उपयोगके अनन्तर योगके कथनका आशय यह है कि  
व्ययोगवाले बिना योगके कम ग्रहण नहीं कर सकते। जैसे - सिद्ध ।  
योगके पीछे लेश्याका कथन इस अभिप्रायसे किया है कि योगद्वारा  
ग्रहण किये गये कर्म पुद्गलोंमें भी स्थितिबन्ध व अद्विभागबन्धका  
निर्माण लेश्याद्वारा होता है। लेश्याके पश्चात् बन्धके निदर्शका  
मतलब यह है कि जो जीव लेश्या सहित हैं, वे ही कर्म बाँध सकते  
हैं। २-२ के बाद अल्पबहुत्वका कथन करनेसे ग्रन्थकारका तात्पर्य  
यह है कि २-२ करनेवाले जीव, मार्गशास्त्र आदिमें वर्तमान होते  
हुए आपसमें अवश्यन्यूनधिक हुआ करते हैं। अल्पबहुत्वके अनन्तर  
भावके कहनेका मतलब यह है कि जो जीव अल्पबहुत्ववाले हैं, उनमें  
औपशमिक आदि किसी न किसी भावका होना पाया ही जाता है।  
भावके बाद सख्यात आदिके कहनेका तात्पर्य यह है कि भाववाले  
जीवोंका एक दूसरेसे जो अल्पबहुत्व है, उसका वर्णन सख्यात,  
असख्यात आदि सख्याकेद्वारा ही किया जा सकता है।

हैं। वैश्वानर-समुदायकी स्थिति आठ समय प्रमाण मानी हुई है; इसके तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें कार्मणकाययोग और दूसरे, छठे तथा सातवें समयमें औदारिकमिथकाययोग होता है। वैक्रियमिथकाययोग, पर्याप्त अवस्थामें तब होता है, जब कोई वैक्रिय लब्धिधारी भुक्ति आदि वैक्रियशरीरको बनाते हैं।

आहारककाययोग तथा आहारकमिथकाययोगके अधिकारी, चतुर्दशपूषणर मुनि हैं। उन्हें आहारकशरीर बनाने व त्यागनेके समय आहारकमिथकाययोग और उस शरीरको धारण करनेके समय आहारककाययोग होता है। औदारिककाययोगके अधिकारी, सभी पर्याप्त मनुष्य त्रियञ्च और वैक्रियकाययोगके अधिकारी, सभी पर्याप्त देव नारक हैं।

सूक्ष्म-एकद्रियको पर्याप्त अवस्थामें औदारिककाययोग ही माना गया है। इसका कारण यह है कि उसमें जैसे मन तथा घटनकी लब्धि नहीं है, वैसे ही वैक्रिय आदि लब्धि भी नहीं है। इसलिये वैक्रियकाययोग आदि उसमें सम्भव नहीं है।

हीन्द्रिय, प्राद्रिय, चतुरिन्द्रिय और अक्षि पञ्चेन्द्रिय, इन चार जीवस्थानोंमें पर्याप्त अवस्थामें व्यवहारभाषा—अस्त्यामृषाभाषा होती है क्योंकि उन्हें मुख होता है। काययोग, उनमें औदारिक ही होता है। इसीसे उनमें दा ही योग कहे गये हैं।

१—दा। कल मगवान् उमग्वानिने कसी है —

“औदारिकप्रयोक्ता, प्रथमाष्टमसमययोरसारिष्ट ।

मिभौदारिकयोक्ता सप्तमयष्टद्वितीयेषु ॥

कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ।

समयज्येऽपि तस्मिन्, भवत्यनाहारको नियमात् ॥२७६॥”

—प्रमाणपति अवि० २० ।

# (१) जीवस्थान-अधिकार ।

## जीवस्थान ।

इह सुषुप्तवायरेणि, दिवितिचउअसंसिनापंचिदी ।

अपजसा पज्जता, कमेण चउदस जियट्ठाणा' ॥ २ ॥

इह सुषुप्तवायरेणैन्द्रियद्विप्रचतुरस्रसिद्धिरुपदेन्द्रिया ।

अपयांता पर्यांता, नभेण चतुर्दश जीवस्थानानि ॥ २ ॥

अर्थ—इस लोफमें सूक्ष्म एकेन्द्रिय वादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, अक्षिपञ्चेन्द्रिय और सक्षिपञ्चेन्द्रिय ये सातों भेद अपर्याप्तरूपक दो दो प्रकारके हैं, इसलिये जीवक कुल स्थान (भेद) चौदह होते हैं ॥ २ ॥

भाषा—यहाँपर जीवके चौदह भेद दिखाये हैं, सो तसारी अथम्भाषो लेकर । जीवत्वरूप सामान्य धर्मकी अपेक्षासे समानता छेनेपर भी व्यक्तिकी अपेक्षासे जीव अनन्त हैं, इनकी कर्म-अन्य अथस्वार्थ भी अनन्त हैं इससे व्यक्तिय शान सम्पादन करना छुअस्थके लिये सहज नह । इसलिये विशेषदर्शी शास्त्रकारोंने सूक्ष्म एकेन्द्रियिअ आदि आत्तिकी अपेक्षासे इनके चौदह धर्म किये हैं, जिनमें सभी तसारी नीयोंका समावेश हो जाता है ।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव वे हैं, जिन्हें सूक्ष्म नामकर्मका उदय हो । येसे जोउ सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त हैं । इनका शरीर इतना सूक्ष्म होता

१—वही पाठा प्रचलित चतुर्थ कर्मअन्यमें व्योकी लो है ।

२—ये भेद पञ्चतम्य द्वार २ ग० ८२ में हैं ।



बादर एकेन्द्रिको—पाँच स्थावरको, पर्याप्त अवस्थामें औदारिक, बैन्त्रिय और वैक्रियमिथ, ये तीन योग माने हुये हैं । इनमेंसे औदारिक-ककाययोग तो सब तरहके एकेन्द्रियोंको पर्याप्त अवस्थामें होता है, पर वैक्रिय तथा वैक्रियमिथकाययोगके विषयमें यह बात नहीं है । ये दो योग, केवल बादरवायुकायमें होते हैं, क्योंकि बादरवायुकायिक जीवोंको वैक्रियलब्धि होती है । इससे वे जत्र वैक्रियशरीर बनाते हैं, तब उन्हें वैक्रियमिथकाययोग और वैक्रियशरीर पूर्ण बन जानेके बाद वैक्रियकाययोग समझना चाहिये । उनका वैक्रियशरीर भ्रजाकार माना गया है ।

१—“आद्य तिर्यग्मनुष्याणा, देवनारकयो परम् ।

केपाचिहन्धिमद्वायु, -सक्षितिर्यग्नूणामपि ॥ १४४ ॥”

—लोकप्रकाश सग ३ ।

‘पहला ( औदारिक ) शरीर तिनकों और मनुष्योंको होता है, दूसरा ( बैन्त्रिय ) शरीर देवों नारकों, लम्बिवाले वायुकायिकों और लम्बिवाले सभी निर्यन्त्र-मनुष्योंको होता है । वायुकायिकको लम्बि जन्य वैक्रियशरीर होता है यह बात तत्त्वाथ मूल तथा उसके भाष्यमें स्पष्ट नहीं है किन्तु हमका उल्लेख भाष्यकी टीकामें है —

“वायोश्च वैक्रिय लब्धिप्रत्ययमेव” इत्यादि ।

—तत्त्वाथ भ० २, सू० ४८ की भाष्य-वृत्ति ।

दिग्गमरीय साहित्यमें कुछ विरोधता है । उसमें वायुकायिकके समान तेज कायिकको भी वैक्रियशरीरका स्वामी कहा है । यद्यपि सर्वाभिमिद्धिमें तेज कायिक तथा वायुकायिकके वैक्रिय शरीरक सम्बन्धमें कोई उल्लेख देखनेमें नहीं आया पर राजवार्तिकमें है —

“वैक्रियिक देवनारकाणा, तेजोवायुकायिकपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनु-  
ष्याणा च केपाचित् ।”

—तत्त्वाथ भ० २, सू० ४९ राजवार्तिक ८ ।

यही बात गोम्भार-जीवकाण्डमें भी है —

“बादरतेऊत्राऊ, पचिदियपुण्णगा विगुण्वति ।

ओरालिय सरीर, विगुण्वणप्प हवे जेसिं ॥२३२॥”

॥ २—यह मन्तव्य श्रोतान्तर-दिग्गमर दोनों सम्प्रदायों में समान है—

हे कि यदि ये सख्यातीत इकट्ठे हों तब भी इन्हें आँखें देख नहीं सकता अतएव इनको व्यवहारके अयोग्य कहा है ।

यादर एकेन्द्रिय जीव थे हैं, जिनको यादर नामकर्मका उदय हो । जीव, लोकक किसी किसी भागमें नहीं भी होते, जैसे, अचिन्ता—सोने, चाँदी आदि वस्तुओंमें। यद्यपि पृथिवी कायिक आदि यादर एकेन्द्रिय जीव ऐसे हैं, जिनके अलग अलग शरीर, आँखोंने नहीं दीप्यते; तथापि इनका शारीरिक परिणमन ऐसा यादर होता है कि जिससे वे समुदायरूपमें दिखाई देते हैं । इसीने इन्हें व्यवहार-योग्य कहा है । सूक्ष्म या यादर सभी एकेन्द्रियोंके इन्द्रिय, केवल त्वचा होती है । ऐसे जीव, पृथिवीकायिक आदि पाँच प्रकारके व्यापक ही हैं ।

द्वीन्द्रिय थे हैं, जिनके त्वचा जीम, ये दो इन्द्रियाँ हों, ऐसे जीव शत स्त्रीप, घृमि आदि हैं ।

त्र्येन्द्रियोंके त्वचा, जीम, नासिका, ये तीन इन्द्रियाँ हैं, ऐसे जीव जूँ, गडमल आदि हैं ।

चतुरिन्द्रियोंके उक्त तीनों और आँख, ये चार इन्द्रियाँ हैं । मीरे, बिच्छू आदिकी गिनती चतुरिन्द्रियोंमें है ।

पञ्चेन्द्रियोंका उक्त चार इन्द्रियोंके अतिरिक्त कान भी होता है । मनुष्य, पशु, पक्षी आदि पञ्चेन्द्रिय हैं । पञ्चेन्द्रिय दो प्रकारके हैं—(१) असशी और (२) सशी । असशी वे हैं जिन्हें सत्ता न हो । सशी वे हैं, जिन्हें सत्ता हो । इस जगह सत्ताका मतलब उस मानस शक्तिस है, जिससे किसी पदार्थके स्वभावका पूर्वापर विचार व अनुसन्धान किया जा सके ।

द्वीन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त सब तरहके जीव यादर तथा अस ( चलने फिरने-वाले ) ही होते हैं ।

### (३)-जीवस्थानोंमें उपयोग ।

पचास सत्रि पञ्चेन्द्रियमें सभी उपयोग पाये जाते हैं, क्योंकि गर्भज मनुष्य, जिनमें सब प्रकारके उपयोगोंका सम्मेल है, वे सत्रि पञ्चेन्द्रिय हैं । उपयोग बारह हैं, जिनमें पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान, ये आठ साकार (पिण्डरूप) हैं और चार अज्ञान, ये निराकार (सामान्यरूप) हैं । इनमेंसे केवलज्ञान और केवलदर्शनकी स्थिति समयमात्रकी और शेष साधारणिक दस उपयोगोंकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी मानी हुई है ।

“मदता तद्वज्राकार, द्वैधानामपि भूदहाम् ।

सु शरीराण्यनियत, -सस्थानानीति तद्विद् ॥२५४॥”

—भा० प्र०, म० २ ।

“मसुरनुर्गिदसूद, -जलावधयसण्णिहो हवे वेहो ।

पुढयो आदि चउण्ह, तरुतसकाया अणयविहा ॥२००॥”

—जीवकारः ।

१—यह विचार पञ्चम० हा ६ भा २ में है ।

२—साधारणिक उपयोगोंकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति में मन्त्र-अर्थ-टीका में भी वे स्थिति उल्लेख मिलते हैं —

“उपयोगस्थितिकालोऽन्तर्मुहूर्तपरिमाण प्रकर्षाद्भवति ।”

—प्र० २ सू० ३ की टीका ।

“उपयोगतोऽन्तर्मुहूर्तमेव जपन्योक्तद्वयाभ्याम् ।”

—प्र० २, सू० ६ की टीका ।

“उपयोगतस्तु तस्याप्यन्तर्मुहूर्तमवस्थानम् ।”

—प्र० २, सू० ६ की टीका ।

अब कल गोमन्त्रसारमें भी उद्धृष्ट है —

“मदिमुद्रणोहिमणेहि य, सगसगविसये विससविष्णाण ।

अतोमुहूर्तकालो, उवजोगो सो इ सायारो ॥६७३॥

एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त उक्त सय प्रकारके जीव, अपर्याप्त, पर्याप्त इस तरह दो दो प्रकारके होते हैं । (क) अपर्याप्त वे हैं, जिन्हें अपर्याप्त नामकर्मका उदय हो । (ख) पर्याप्त वे हैं, जिनको पर्याप्त नामकर्मका उदय हो ॥२॥

## (१)—जीवस्थानोंमें गुणस्थान ।

वायरअसनिविगले, अपाज्जि पढमविय संनि अपजत्ते ।  
अजयजुअ मनि पज्जे, सब्वगुणा मिच्छ सेमेसु ॥ ३ ॥

वादरासशिविकलेऽप्यासे प्रथमादिक सशिन्यपर्याप्ते ।

अयतयुत साशानि पर्याप्ते, सब्वगुणा मिच्छात्त शेषे ॥ ३ ॥

अर्थ—अपर्याप्त वादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त असक्षिपञ्चेन्द्रिय और अपर्याप्त विकलेन्द्रियमें पहला दूसरा दोही गुणस्थान पाये जाते हैं । अपर्याप्त सक्षिपञ्चेन्द्रियमें पहला दूसरा और चौथा, ये तीन गुणस्थान पाये सकते हैं । पर्याप्त सक्षिपञ्चेन्द्रियमें सय गुणस्थानोंका सम्मिश्र है । उप सात जीवस्थानोंमें—अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, पर्याप्त वादर एकेन्द्रिय, पर्याप्त असक्षिपञ्चेन्द्रिय और पर्याप्त विकलेन्द्रिय त्रयमें पहला ही गुणस्थान होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—वादर एकेन्द्रिय, असक्षिपञ्चेन्द्रिय और तीन विकलेन्द्रिय, इन पाँच अपर्याप्त जीवस्थानोंमें दो गुणस्थान कहे गये हैं, पर इस विषयमें यह जानना चाहिये कि दूसरा गुणस्थान करण अपर्याप्तमें होता है, लब्धि अपर्याप्तमें नहीं, क्योंकि सास्वादनसम्यग्दृष्टिवाला जीव, लब्धि अपर्याप्तरूपसे पैदा होता ही नहीं । इसलिये करण-

सभी उपयोग क्रमभावों' हैं, इसलिये एक जीवमें एक समयमें कोई भी दो उपयोग नहीं होते ॥ ५ ॥

अचक्षुरिन्द्रियसंनिष्ठ, बुद्धसद्वृत्तानां दसमुखकविविणा  
निष्पन्नं मणना, — एवमुक्तेष्वलङ्कारविह्वला ॥ ६ ॥

पर्याप्तचतुरिन्द्रियासन्नो, दिदर्शद्वयज्ञानं दशमुखकविविना ।

संज्ञि-पर्याप्ते मनोज्ञानचक्षुः कवलद्विषयिणी ॥ ६ ॥

अर्थ—पर्याप्त चतुरिन्द्रिय तथा पर्याप्त असंज्ञि पञ्चेन्द्रियमें अचक्षु दो दर्शन और मति श्रुत दो अज्ञान, कुल चार उपयोग सुषम एकेन्द्रिय, बाह्य एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय, पर्याप्त तथा अपर्याप्त और अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय तथा अपर्याप्त पञ्चेन्द्रिय, इन दस प्रकारके जीवोंमें मति अज्ञान, और अचक्षुर्दर्शन, ये तीन उपयोग होते हैं । अपर्याप्त जीवोंमें मन पर्यायज्ञान, अक्षुर्दर्शन, केवलज्ञान, केवल श्रुतको छोड़ शेष आठ (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अघधि

अर्थात् यादर एकेन्द्रिय आदि उक्त पाँच जीवस्थानोंमें दो गुणस्थान और छवि अर्थात् यादर एकेन्द्रिय आदि पाँचोंमें पहला ही गुणस्थान समझना चाहिये ।

यादर एकेन्द्रियमें दो गुणस्थान कहे गये हैं सो भी सब यादर एकेन्द्रियोंमें नहीं, किन्तु पृथिवीकायिक, जलकायिक और घनस्पति कायिकमें । क्याकि तेज कायिक और वायुकायिक जीव, चाहे वे यादर हों, पर उनमें ऐसे परिणामका सम्भव नहीं जिससे सास्वादनसम्पन्न युक्त जीव उनमें पैदा हो सके । इसलिये सूक्ष्मके समान यादर तेज कायिक-वायुकायिकमें पहला ही गुणस्थान समझना चाहिये ।

इस जगह एकेन्द्रियोंमें दो गुणस्थान पाये जाने का कथन है, सो धर्मप्रश्नके मतानुसार, क्योंकि मिह्नातमें एकेन्द्रियोंको पहला ही गुणस्थान माना है ।

अर्थात् सन्निपञ्चेन्द्रियमें तीन गुणस्थान कहे गये हैं, सो इस अपेक्षात कि जब कोई जीव चतुर्थ गुणस्थान सहित मर कर सन्निपञ्चेन्द्रियरूपसे पैदा होता है तब उसे अर्थात् अवस्थामें चौथे गुणस्थानका सम्भव है । इस प्रकार जो जीव सम्यक्त्वका त्याग करता हुआ सास्वादन भावमें घटमान होकर सन्निपञ्चेन्द्रियरूपसे पैदा होता है, उसमें शरीर पर्याप्त पूर्ण न होने तक दूसरे गुणस्थान का सम्भव है और अन्य सब सन्निपञ्चेन्द्रिय जीवोंको अर्थात् अत्र स्थानमें पहला गुणस्थान होता ही है । अर्थात् सन्निपञ्चेन्द्रियमें तान

१—देखिये ४९ वीं शास्त्रकी टिप्पणी ।

२—गोमन्सारमें तेरावें गुणस्थानक समय कवलितमुद्गान अवस्थामें योगकी अपूर्वताक कारण अपर्याप्तता मानी हुई है तथा छठे गुणस्थानक समय भी आहारकाल तक अन्न-पान-आहारकालीन पूरा न होने जाने तक अपर्याप्तता मानी हुई है । इसलिये गोमन्सार ( भाग या ११५-११६ ) में निर्बन्धपर्याप्त और ( श्राम्भत्यप्रश्नप्रश्न मन्त्रिद



गुणस्थानोंका सम्मेलन दिखाया, सो करण अपर्याप्तमें, क्योंकि लब्धि-अपर्याप्तमें तो पहलेके सिद्धाय किसी गुणस्थानकी योग्यता ही नहीं होती ।

पर्याप्ति सक्षि पञ्चेन्द्रियमें सब गुणस्थान माने जाते हैं । इसका कारण यह है कि गर्भज मनुष्य, जिसमें सब प्रकारके शुभाशुभ तथा शुद्धाशुद्ध परिणामोंकी योग्यता होनेसे चौदहों गुणस्थान पाये जा सकते हैं, वे सक्षि पञ्चेन्द्रिय ही हैं ।

यह शङ्का हो सकती है कि सक्षि पञ्चेन्द्रियमें पहले बारह गुणस्थान होते हैं, पर तेरहवाँ चौदहवाँ, ये दो गुणस्थान नहीं होते । क्योंकि इन दो, गुणस्थानोंके समय सक्षित्वका प्रभाव हो जाता है । उस समय क्षायिक ज्ञान होनेके कारण क्षायोपशमिक प्रानात्मक सत्ता, जिसे 'मायमन' भी कहते हैं, नहीं होनी । इस शङ्काका समाधान इतना ही है कि सक्षि पञ्चेन्द्रियमें तेरहवें चौदहवें गुणस्थानका जो कथन है सो द्रव्यमनके सम्यग्धसे सक्षित्वका व्यवहार अङ्गीकार करके, क्योंकि मायमनके सम्यग्धसे जो सक्षि हैं, उनमें बारह ही गुणस्थान होते हैं ।

करण-अपर्याप्त ) सक्षि-पञ्चेन्द्रियमें पहला, दूसरा चौथा छठा और तेरहवाँ, ये पाँच गुणस्थान कहे गये हैं ।

इस कमप्रधानमें करण अपर्याप्त सक्षिपञ्चेन्द्रियमें तीनों गुणस्थानोंका कथन है सो सक्षि कालीन अपर्याप्त अवस्थाको लेकर । और गोमटधरमें पाँच गुणस्थानोंका कथन है, सो सक्षिकालीन लब्धिज्ञानात् समय अपर्याप्त अवस्थाको लेकर । इस तरह ये दोनों कथन अपेक्षाकृत होनेसे आगममें विशद नहीं है ।

लब्धिकालीन अपर्याप्त अवस्थाको लेकर सक्षिमें गुणस्थानका विचार करना दो दो चौदहों गुणस्थान की गिनना चाहिये, क्योंकि उस गुणस्थानमें वैकल्पिकभिन्ने वैक्यपरात्पर रहे जानेके समय अपर्याप्त अवस्था पायी जाती है ।

१—परी बात सप्ततिकाचूर्णिक निम्नलिखित पाठसे स्पष्ट होती है —



सहि-पञ्चेन्द्रियको, अपर्याप्त अवस्थामें आठ उपयोग माने गये हैं। सो इस प्रकार —तीर्थङ्कर तथा सम्यक्त्वो देव नारक आदिको उत्पत्ति क्षणसे ही तीन ज्ञान और दो दर्शन होते हैं तथा मिथ्यात्वो देव-नारक आदिको जन्म समयसे ही तीन अज्ञान और दो दर्शन होते हैं। मन पर्याप्त आदि चार उपयोग न होनेका कारण यह है कि मन पर्याप्तज्ञान, समयवालोंको हो सकता है, परन्तु अपर्याप्त-अवस्थामें समयका सम्भव नहीं है, तथा चक्षुर्दर्शन, चक्षुरिन्द्रियके व्यापारकी अपेक्षा रखता है, जो अपर्याप्त अवस्थामें नहीं होता। इसी प्रकार केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो उपयोग कर्मक्षय-जन्य हैं, किन्तु अपर्याप्त अवस्थामें कर्म क्षयका सम्भव नहीं है। सहि पञ्चेन्द्रियको अपर्याप्त अवस्थामें आठ उपयोग कहे गये, सो कारण अपर्याप्तकी अपेक्षासे, क्योंकि लब्धि अपर्याप्तमें मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और अचक्षुर्दर्शनके लिये अन्य उपयोग नहीं होते।

इस गायामें अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, अपर्याप्त असहि पञ्चेन्द्रिय और अपर्याप्त सहि पञ्चेन्द्रियमें जो जो उपयोग दत्त लाये गये हैं, उनमें चक्षुर्दर्शन परिगणित नहीं है, सो मतान्तरसे, क्योंकि पञ्चसङ्ग्रहकारके मतसे उक्त तीनों जीवस्थानोंमें, अपर्याप्त अवस्थामें भी इन्द्रियपर्याप्त पूर्ण होनेके बाद चक्षुर्दर्शन होता है। दोनों मतके तात्पर्यको समझनेकेलिये गा० १७वींका नोट देखना चाहिये ॥ ६ ॥

१—इमं वा उक्तेषु श्रीमल्लयगिरिसूरिने इम प्रकार किया है —

“अपर्याप्तकाश्चेह लब्ध्यपर्याप्तका वेदितव्या, अन्यथा करणा-  
पयाप्तकेषु चतुरिन्द्रियादिष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्या चक्षुर्दर्शनमपि प्राप्यते  
मूलटाकायामाचार्यणाभ्यनुष्ठानात् ।” —पञ्चस० द्वार १, गा० ८ की टीका ।

अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त श्रेण सात जीवस्थानोंमें परिणाम ऐसे सङ्ग्रहित होते हैं कि जिससे उनमें मिथ्यात्वके सिद्धांत अथ किसी गुणस्थानका सम्भव नहीं है ॥३॥



“मणकरण केवलित्वा वि अस्ति, तेन सनिणो भवति, मनोविन्ताण पडुण्ण ते सनिणो न भवति सि ।”

कंठगीको भी द्रव्यमन होता है इससे वे मन्त्री कहे जाते हैं परन्तु मनोज्ञानकी अपेक्षासे वे मन्त्री नहीं हैं। कंठगी अपस्थानमें द्रव्यमनके सम्बन्धसे सङ्कितका व्यवहार योग्यतासे जोरहाणमें भी माना गया है। यथा —

“मणसद्वियाण वयण, दिट्ठ तप्पुव्वमिदि सजोगमिह ।

उत्तो मणोवयार, -णिदियणाणेण हीणमिह ॥ २२७॥

अगोवगुदयादो, दव्वमणह्ठ जिणिद्वद्वमिह ।

मणमगणस्वमाण, आगमणादो दुमणजागो ॥ २२८॥”

संशोभी वयली गुणस्थानमें मन न होनेपर भी वचन होनेके कारण उपचारमे मन माना जाता है, उपचारका कारण यह है कि पहलेक गुणस्थानमें मनवायोंकी वचन देखा जाता है ॥ २२७ ॥

जिनेश्वरों भी द्रव्यमनकालिये अज्ञाताज्ञ नामकमके उदयसे मनोवगणका स्वर्णोंका आगमन हुआ करता है इसलिये उन्हें मनोयोग कहा है ॥ २२८ ॥

या सत्ताईसवाँ भादि भाग बाकी रहनेपर ही परमजके आयुका बन्ध होता है ।

इस नियमके अनुसार यदि बन्ध न हो तो अन्तमें जय वर्तमान आयु, अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बाकी रहती है, तब अगले भयकी आयुका बन्ध अवश्य होता है ।

## २ उदीरणा ।

उपर्युक्त तेरह प्रकारके जीवस्थानोंमें प्रत्येक समयमें आठ कर्मोंकी उदीरणा हुआ करती है । सात कर्मोंकी उदीरणा, आयुकी उदीरणा न हानेके समय—जीवनकी अन्तिम आयुलिकामें—पायी जाती है, क्योंकि उस समय, आयुलिकामात्र स्थिति शेष रहनेके कारण वर्तमान ( उद्यमान ) आयुकी और अधिक स्थिति होनेपर भी उद्यमान न होनेके कारण अगले भयकी आयुकी उदीरणा नहीं होती । शास्त्रमें उदीरणाका यह नियम बतलाया है कि 'जो कर्म, उद्य प्राप्त है, उसकी उदीरणा होती है, दूसरेकी नहीं । और उद्य प्राप्त कर्म भी आयुलिकामात्र शेष रह जाता है, तबसे उसकी उदीरणा रुक जाती है' ।

१—“वृद्ध्यावलिवावहिरिह्ठ ठिह्ठितो कसायसहिया सहिएण ओगकरणेण वलियमाकहिह्ठय उद्यपत्तदलियेण सम अणुभरण-मुदीरणा ।”

—कर्मप्रवृत्ति-वृत्ति ।

अर्थात् उद्य आयुलिकामें बाहरकी स्थितिकामें दानिकोंके रदिन योग्यता बाँचकर—उस स्थितिमें उन्हें चुनकर—उद्य <sup>१०३</sup> हेतु या कषाय-योग सेना उदीरणा कहलाती है ।

उक्त तेरह जीवस्थानोंमें जो अपर्याप्त जीवस्थान हैं, वे सभी लब्धि अपर्याप्त समझने चाहिये, क्योंकि उन्हींमें सात या आठ कर्मकी उद्दीरणा घट सकती है । वे अपर्याप्त अवस्थाहीमें मर जाते हैं, इसलिये उनमें आधलिकामात्र आयु बाकी रहनेपर सात कर्मकी और इसके पहले आठ कर्मकी उद्दीरणा होता है । परन्तु करणापर्याप्तोंके अपर्याप्त अवस्थामें मरनेका नियम नहीं है । वे यदि लब्धिपर्याप्त हुये तो पर्याप्त अवस्थाहीमें मरते हैं । इसलिये उनमें अपर्याप्त अवस्थामें आधलिकामात्र आयु शेष रहनेका और सात कर्मकी उद्दीरणाका समन नहीं है ।

### ३-४ सत्ता और उदय ।

आठ कर्मोंकी सत्ता ग्यारहवें गुणस्थान तक होती है और आठ कर्मका उदय दसवें गुणस्थान तक बना रहता है, परन्तु पर्याप्त सभीके सिवाय सब प्रकारके जीवोंमें अधिकसे अधिक पहला, दूसरा और चौथा, इन तीन गुणस्थानोंका समन है, इसलिये उक्त तेरह प्रकारके जीवोंमें सत्ता और उदय आठ कर्मोंका माना गया है ॥७॥

सप्तद्व्येगमघा, सतुदया सत्तद्व्येगमघा ।

सत्तद्व्येगमघा, उद्दीरणा सनिपज्जत्ते ॥ ८ ॥

सप्तद्व्येगमघा, सतुदयो सत्तद्व्येगमघा ।

सत्तद्व्येगमघा, उद्दीरणा सनिपज्जत्ते ॥ ८ ॥

अर्थ—पर्याप्त सभीमें सात कर्मका, आठ कर्मका, छह कर्मका और एक कर्मका, ये चार बन्धस्थान हैं, सत्तास्थान और उदयस्थान सात, आठ और चार कर्मके हैं तथा उद्दीरणास्थान सात, आठ, छह, पाँच और दो कर्मका है ॥ ८ ॥

भाषार्थ—जिन प्रकृतियोंका बन्ध एक साथ (युगपत्) हो, उनके समुदायको 'बन्धस्थान' कहते हैं । इसी तरह जिन प्रकृतियोंकी सत्ता

यह पुद्गलमय स्वरूप प्रज्ञापनासूत्र इन्द्रियपदवी टीका पृ० २९४ के अनुसार है । आचाराङ्ग वृत्ति पृ० १०४ में उसका स्वरूप चेतनामय इतलाथा है ।

आचारके सम्बन्धमें यह बात जाननी चाहिये कि त्वचाकी आवृत्ति अनेक प्रकारकी होती है पर उसमें बाह्य और आभ्यन्तर आकारमें जुड़ाई नहीं है । बिन्दी प्राणीकी त्वचाका जैसा बाह्य आकार होता है वैसा ही आभ्यन्तर आकार होता है । परन्तु अन्तर इन्द्रियोंके विषयमें ऐसा नहीं है — त्वचाको छोकर अन्तर मग्न इन्द्रियोंके, आभ्यन्तर आकार, बाह्य आकारसे नहीं मिलते । सब नातिक प्राणियोंकी सनातीय इन्द्रियाँ आभ्यन्तर आकार, एक तरहके माने जाये हैं । जैसे — बानका आभ्यन्तर आकार बद्ध-गुप्प-जैसा आँखका मसुरके दाना-जैसा, नाकका अतिमुक्तकके फूल जैसा और जीमरा घुटा जैसा है । किन्तु बाह्य आकार मग्न जातिमें भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं । उदाहरणार्थ — अनुष्य हाथी, घोड़ा बेल विन्दी चूहा आदिये कान अँख नाक जीमको देखिये ।

(ख) आभ्यन्तरनिवृत्तिकी विषय ग्रहण-शक्तिकी उपकरणेन्द्रिय कहते हैं ।

(३) मानेन्द्रिय दो प्रकारकी है — (१) लक्षिरूप और (२) उपयोगरूप ।

(१) — मतिष्ठानावरणके लक्ष्योपशमकी — चेतना शक्तिकी बोध्यता-विरोधकी — लक्षिरूप मानेन्द्रिय कहते हैं । (२) — इस लक्षिरूप मानेन्द्रियके अनुसार प्रात्माकी विषय-ग्रहणमें जे प्रवृत्ति होती है, उसे 'उपयोगरूप मानेन्द्रिय' कहते हैं ।

इस विषयको विन्यारपूवक जाननेकेलिये प्रज्ञापना पृ० १५, पृ० २६३, तत्त्वाध अध्याय २ सू० १७-१८ तथा वृत्ति विरोधपत्र गा० २२६३-२००३ तथा लोकप्रकाश-सर्ग ३ श्लोक ४६४ में आगे देवना चाहिये ।

एक साथ पायो जाय, उनके समुदायको 'सत्तास्थान,' जिन प्रकृतियों का उदय एक साथ पाया जाय, उनके समुदायको 'उदयस्थान' और जिन प्रकृतियोंको उदीरणा एक साथ पायी जाय, उनके समुदायको 'उदीरणास्थान' कहते हैं ।

## ५. बन्धस्थान ।

उपयुक्त चार बन्धस्थानोंमेंसे सात कर्मका बन्धस्थान, उस समय पाया जाता है जिस समय कि आयुका बन्ध नहीं होता । एक बार आयुका बन्ध हुआजानके बाद दूसरी बार उसका बन्ध होनेमें जघन्य काटा, अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण चार उत्कृष्ट काल, अतर्मुहूर्त्त-वम ३ करोड़ पूर्ववत् तथा छह मास कम तेतीस सागरोपम प्रमाण चलता जाता है । अतः एव सात कर्मके बन्धस्थानकी स्थिति भी उतनी ही अर्थात् जघन्य अतर्मुहूर्त्त प्रमाण और उत्कृष्ट अतर्मुहूर्त्त वम ३ करोड़ पूर्ववत् तथा छह मास कम तेतीस सागरोपम प्रमाण समझनी चाहिये ।

आठ कर्मका बन्धस्थान, आयु बन्धके समय पाया जाता है । आयु वम जघन्य या उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक होता है इसलिये आठ के बन्धस्थानकी जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति अतर्मुहूर्त्त प्रमाण है ।

१—जो समय प्रमाण १०० मास-प्रमाण १०० वर्ष एक एक समय बने व न १०० में एक समय १०० मुहूर्त्त प्रमाण बने नव प्रकारका १०० अतर्मुहूर्त्त रहता है । जघन्य अतर्मुहूर्त्त नव समयक, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त एक समयक-कम मुहूर्त्तका और मध्यम अतर्मुहूर्त्त इस समय बदारह समय आदि बीसक सब प्रकारक बालिका समझना चाहिये । दो धर्मोंकी—अन्तर्गामी और—मुहूर्त्त कहते हैं ।

२—१०० बौगकाटि धन्योपमका एक 'सागरोपम' और असंख्य धर्मोंका एक पत्तापम होता है ।  
—गणार्थ १०४ म० १५ का भाष्य ।

३—जब कोई पूर्व वकी आयुवाला कर्म मनुष्य अपनी आयुके तीसरे भागमें अनुष्ठान विमानकी तेताम सागरोपम-प्रमाण आयु बँधता है तब अतर्मुहूर्त्त पयन आयुबन्ध करके फिर वह देवकी आयुके छह महीने शर रहोपर ही आयु बँध सकता है इस अपेक्षासे आयुके दण्डका उत्पन्न अन्तर समयना ।

## परिशिष्ट "ग" ।

पृष्ठ १०, पंक्ति १६ के "संज्ञा" शब्दपर—

संज्ञाका मतानुसार भाग (मानसिक क्रिया विशेष)में है। इसका (क) ज्ञान और (ख) अनुभव ये दो भेद हैं।

(क) मति, बुद्धि आदि पाँच प्रकारका ज्ञान ज्ञानसंज्ञा है।

(ख) अनुभवसंज्ञाके (१) आहार (२) भव (३) मैथुन (४) परिग्रह (५) शोष (६) मान (७) माया, (८) लोभ, (९) आप (१०) लोभ (११) मोह (१२) धर्म, (१३) दुःख (१४) दुःख (१५) सुगुप्ता और (१६) जीव ये मोलह भेद हैं। आचार्य नियुक्ति ग० ३८—३९ में तो अनुभवसंज्ञाके ये सातह भेद दिये गये हैं। लेकिन भगवद्गीताग ७ उल्लेख में तथा प्रज्ञापना-पद ८ में इनमेंसे पहले दस ही भेद निर्दिष्ट हैं।

ये संज्ञाएँ सब जीवोंमें न्यूनाधिक प्रमाणमें पाई जाती हैं। इसलिये ये सङ्घि अर्थ-अर्थ-आरम्भ की नियामक नहीं हैं। शास्त्रमें संघि अर्थ-अर्थ-अर्थ, तो अन्य संज्ञाओंकी अपेक्षासे। एकैन्द्रियमें लेकर पञ्चैन्द्रिय पर्यन्तके जीवोंमें अतन्त्रता विकास क्रमसे अधिक है। इस विकासके दर-क्रम भावको समझानेकेलिये शास्त्रमें इसका स्थूल रीतिपर चार विभाग किये गये हैं।

(१) पहले विभागमें ज्ञानका अत्यन्त अल्प विकास निश्चिन्त है। यह विकास इतना अल्प है कि इस विकासमें युक्त जीव भूमिगतकी तरह अज्ञानस्थित होते हैं। इस अव्यक्ततर अतन्त्रता 'अज्ञान' कहा गई है। एकैन्द्रिय जीव अज्ञानस्थित ही हैं।

(२) दूसरे विभागमें विकासकी इतनी मात्रा निश्चिन्त है कि जिसमें कुछ भूतकालका—सुगुप्त भूतकालका नहीं—स्मरण किया जाता है और जिसमें बह विषयोंमें प्रवृत्ति तथा अनिष्ट विषयोंसे निवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति निवृत्ति कार्य ज्ञानको हेतुवाचोपदेशिकीसंज्ञा कहा है। अतन्त्रता, अतन्त्रता, अतन्त्रता और सम्पूर्णतन्त्रता पञ्चैन्द्रिय जीव हेतुवाचोपदेशिकीसंज्ञावाले हैं।

(३) तीसरे विभागमें ज्ञाना विभाग निश्चिन्त है कि जिसमें सुगुप्त भूतकालमें अनुभव किये गये विषयोंका स्मरण और स्मरणशक्ति वर्तमान कालके कर्तव्योंका निश्चय किया जाता है। यह ज्ञान विशिष्ट मनकी सहायतासे होता है। इस ज्ञानको दीर्घकालोपदेशिकीसंज्ञा कहा है। देव नारक और गर्भव मनुष्य-तिस्रों दीर्घकालोपदेशिकीसंज्ञावाले हैं।

(४) चौथे विभागमें विशिष्ट ज्ञान निश्चिन्त है। यह ज्ञान इतना शुद्ध होता है कि सम्बन्धियोंके सिवाय अन्य जीवोंमें इसका समझ नहीं है। इस विशुद्ध ज्ञानको दृष्टिवाचोपदेशिकीसंज्ञा कहा है।

छह कर्मका बन्धस्थान दसवें ही गुणस्थानमें पाया जाता है, क्योंकि उसमें आयु और मोहनीय, दो कर्मका बन्ध नहीं होता । इस बन्धस्थानकी जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति दसवें गुणस्थानकी स्थितिके धराबर—जघन्य एक समयकी और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्तकी—समझनी चाहिये ।

एक कर्मका बन्धस्थान ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें, तीन गुणस्थानोंमें होता है । इसका कारण यह है कि इन गुणस्थानोंके समय सातवेदनीयके सिवाय अन्य कर्मका बन्ध नहीं होता । ग्यारहवें गुणस्थानकी जघन्य स्थिति एक समयकी और तेरहवें गुणस्थानकी उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष कम करोड पूर्ववर्षकी है । अतएव इस बन्धस्थानकी स्थिति, जघन्य समयमात्रकी और उत्कृष्ट नौ वर्ष कम करोड पूर्ववर्षकी समझनी चाहिये ।

## ६ सत्तास्थान ।

तीन सत्तास्थानोंमेंसे आठ का सत्तास्थान, पहले ग्यारह गुणस्थानोंमें पाया जाता है । इसकी स्थिति, अभव्यकी अपेक्षासे अनादि अनन्त और भव्यकी अपेक्षासे अनादि सान्त है । इसका सवय यह है कि अभव्यकी कर्म परम्पराकी जैसे आदि नहीं है, वैसे अन्त भी नहीं है, पर भव्यकी कर्मपरम्पराके त्रिपयमें ऐसा नहीं है, उसकी आदि तो नहीं है, किन्तु अन्त होता है ।

सातका सत्तास्थान केवल बारहवें गुणस्थानमें होता है । इस

१—अत्यन्त सूक्ष्म कियावाला अर्थात् सबसे जघन्य गतिवाला परमाणु जितने कालमें अपने आकारा प्रदेशसे अनन्तर आकारा प्रदेशमें जाता है वह काल 'ममय' कहलाता है ।

—तत्त्वाथ अ० ४ सू० १५ का माध्य ।

२—चौरासी लघु वर्षका एक पूर्ववर्ष और चौरासी लघु पूर्ववर्षका एक पूर्व होता है ।

—तत्त्वाथ अ० ४ सू० १५ का माध्य ।



शास्त्रमें जहाँ-कहाँ मशी अमशीका उल्लेख है वहाँ सब जगह अमशीका मतलब ओष मंशावाले और हेतुवादोपदेशिकोसंज्ञावाले जीवोंसे है । तथा मशीका मतलब सब जगह दीर्घका लोपदेशिकोसंज्ञावालोंसे है ।

अन विषयका विशेष विचार सत्त्वार्थ अ० २, सू० २५ वृत्ति नन्दी सू० ३६ विगोपावश्यक गा० १०४—१२६ और लोकप्र०, म० ३ श्लो० ४४२—४६३ में है ।

सगी अमशीके व्यवहारके विषयमें दिगम्बर सम्प्रदायमें श्वेताम्बरकी अपेक्षा थोड़ासा भेद है । उसमें गर्भ-न-तयर्थाका सङ्गीमान न मानकर मशी तथा अमशी माना है । इसी तरह समू ज्जिह्म तिवचको मिय अमशी न मानकर मशी अमशी उभयव्यप माना है । (जीव० गा० ७६) हमने मिश्रय यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्वेताम्बर-ग्रन्थ में हेतुवादोपदेशिकी अमशी को तीन मशायें वर्णित हैं उनका विचार दिगम्बरीय प्रसिद्ध ग्रन्थोंमें दृष्टि-गोचर नहीं होगा ।



गुणस्थानकी जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तकी मानी जाती है । अतः एव सातके सत्तास्थानकी स्थिति बतानी समझनी चाहिये । इस सत्तास्थानमें मोहनीयके सिवाय सात कर्मोंका समावेश है ।

चारका सत्तास्थान तरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें पाया जाता है क्योंकि इन दो गुणस्थानोंमें चार अघातिकर्मकी ही सत्ता शेष रहती है । इन दो गुणस्थानोंको मिलाकर उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष सात मास कम करोड़ पूर्व प्रमाण है । अतः एव चारके सत्तास्थानकी उत्कृष्ट स्थिति उतना समझना चाहिये । उसकी जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है ।

### ७ उदयस्थान ।

आठ कर्मका उदयस्थान, पहलसे दसवें तक दस गुणस्थानोंमें रहता है । इसकी स्थिति अम-यकी अपेक्षासे अनादि अनन्त और म-यकी अपेक्षासे अनादि-सात है । परन्तु उपशम श्रेणिके गिरने हुए म-यका अपेक्षासे उसकी स्थिति सादि सात है । उपशम श्रेणिके गिरने के बाद फिरसे अन्तर्मुहूर्त्तमें श्रेणिके जा सकती है यदि अन्तर्मुहूर्त्तमें न जा सकी तो अन्तर्मुहूर्त्तमें कुछ कम अर्धपुद्गल परायत्तके बाद अवश्य की जाती है । इसलिये आठके उदयस्थानकी स्वादि सान्त स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण और उत्कृष्ट देश-जन (कुछ कम) अधपुद्गल परायत्त प्रमाण समझनी चाहिये ।

सातका उदयस्थान, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें पाया जाता है । इस उदयस्थानकी स्थिति, जघन्य एव समयकी और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्तकी मानी जाती है । जो जीव ग्यारहवें गुणस्थानमें एक समयमात्र रह कर भरता है और अनुत्तरविमानमें पैदा होता है, वह पैदा होते ही आठ कर्मके उदयका अनुभव करता है, इस अपेक्षासे सातके उदयस्थानकी जघन्य स्थिति समय प्रमाण कही गई है । जो जीव, बारहवें गुणस्थानको पाता है, वह अधिकसे अधिक



उस गुणस्थानकी स्थिति तक—अन्तर्मुहूर्त्त तकके सातकर्मके उदय-का अनुभव करता है, पीछे अवश्य तेरहवें गुणस्थानको पाकर चार कर्मके उदयका अनुभव करता है, इस अपेक्षासे सातके उदय-स्थानकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण कही गई है । चारका उदयस्थान, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें पाया जाता है क्योंकि इन दो गुणस्थानोंमें अघातिकर्मके सिवाय अन्य किसी कर्मका उदय नहीं रहता । इस उदयस्थानकी स्थिति अघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट, देश-ऊन फरोह पूर्व वर्षकी है ।

## ८ उदीरणास्थान ।

आठका उदीरणास्थान, आयुकी उदीरणाके समय होता है । आयुकी उदीरणा पहले छह गुणस्थानोंमें होती है । अत एव यह उदीरणास्थान इन्हीं गुणस्थानोंमें पाया जाता है ।

सातका उदीरणास्थान, उस समय होता है जिस समय कि आयुकी उदीरणा रुक जाती है । आयुकी उदीरणा तब रुक जाती है, जब वर्तमान आयु आवलिका प्रमाण शेष रह जाती है । वर्तमान आयुकी अन्तिम आवलिकाके समय पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा, ये पाँच गुणस्थान पाये जा सकते हैं, दूसरे नहीं । अतएव सातके उदीरणास्थानका सम्भव, इन पाँच गुणस्थानोंमें सम्भूतना चाहिये । तीसरे गुणस्थानमें सातका उदीरणास्थान नहीं होता, क्योंकि आवलिका प्रमाण आयु शेष रहनेके समय, इस गुणस्थानका सम्भव ही नहीं है । इसलिये इस गुणस्थानमें आठका ही उदीरणा-स्थान माना जाता है ।

छहका उदीरणास्थान सातवें गुणस्थानसे लेकर दसवें गुण-स्थानकी एक आवलिका प्रमाण स्थिति धाकी रहती है, तब तक

दिग्भ्रम साहित्यमें करण अर्थात्तक शब्द मिलता है। अर्थमें भी योझासा पक है। निवृत्ति शब्दका अर्थ शरीर हो लिया हुआ है। अत एव शरीरपयाप्ति पूर्ण न होने तक ही दिग्भ्रमीय साहित्य, जीवकी निवृत्ति अर्थात्तक बढ़ता है। शरीरपयाप्ति पूर्ण होनेके बाद वह, निवृत्ति अर्थात्तक 'द्वन्द्वार करनेकी सम्मति नहीं देता। यथा —

“पञ्चतस्सय उदये, णिगणियपञ्जतिणिट्ठिदो होदि ।

जाव सरीरमपुण्ण, णिठत्तिअपुण्णगो ताव ॥१०॥”

—जीवकाण्ड ।

मारासा यह कि दिग्भ्रम साहित्यमें पयाप्तिनाममरा उदयवासा ही शरीरपयाप्ति पूर्ण न होने तक 'निवृत्ति अर्थात्तक शब्दमें अभिमत है।

परन्तु श्वेताम्बरीय साहित्यमें करण शब्दका 'शरीर इन्द्रिय आदि पयाप्तियों रचना अर्थ लिया हुआ मिलता है। यथा —

“करणानि शरीराक्षादीनि ।”

—लोफप्र०, म० ३ भा० १० ।

अत एव श्वेताम्बरीय सम्प्रदाय अनुसार भिन्ने शरीर पयाप्ति पूर्ण की है पर इन्द्रिय-पयाप्ति पूर्ण नहीं की है वह भी वरण अपयाप्त कहा जा सकता है। अर्थात् शरीररूप करण पूर्ण करनेमें वरण-पयाप्त और इन्द्रियरूप करण पूर्ण न करनेमें वरण अपयाप्त कहा जा सकता है। इस प्रकार श्वेताम्बरीय सम्प्रदायी दृष्टिमें शरीरपयाप्तिमें लेकर मन पयाप्ति पयन्त पूर्व पूर्ण पयाप्तिक पूर्ण होनेपर वरण पयाप्त और वस्तुतोय पयाप्तिक पूर्ण न होनेमें वरण-अपयाप्त कह सकते हैं। पर जब जाव, स्वयंग्य सम्पुण पयाप्तियोंको पूर्ण कर लेवे तब उसे 'करण अपयाप्त नहीं कह सकते।

पयाप्तिका स्वरूप — पयाप्ति वह शक्ति है जिसकेद्वारा जीव आहार-शानोच्छ्वास आदिके योग्य पुद्गलोंकी ग्रहण करता है और गृहीत पुद्गलोंका आहार आदिरूपमें परिणत करता है। वेमी शक्ति जीवमें पुद्गलोंके उपवयवमें बनती है। अर्थात् निम्न प्रकार केन्द्रके भीतरके भागमें बन-मान पुद्गलोंमें एक तरहकी शक्ति होती है, जिसमें विद्या हुआ आहार भिन्न-भिन्नरूपमें बदल जाता है इसी प्रकार जमस्थान-प्राप्त जीवोंद्वारा गृहीत पुद्गलोंमें भी शक्ति बन जाती है जो कि आहार आदि पुद्गलोंकी स्वरूप आदिरूपमें बदल देती है। वही शक्ति पयाप्ति है। पयाप्ति-जनक पुद्गलोंमेंसे कुछ तो ऐसे होते हैं जो कि जमस्थानमें आये हुये जीवोंद्वारा प्रथम समयमें ही ग्रहण किये हुये होते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं, जो पीछेमें प्रत्येक समयमें ग्रहण किये जाकर, पूर्व गृहीत पुद्गलोंके समर्थमें तद्रूप बने हुये होते हैं।

पाया जाता है, क्योंकि उस समय आयु और वेदनोय, इन दोकी उदीरणा नहीं होती ।

दसवें गुणस्थानकी अन्तिम आवलिका, जिसमें मोहनीयकी भी उदीरणा रुक जाती है, उससे लेकर बारहवें गुणस्थानकी अन्तिम आवलिका पर्यन्त पाँचका उदीरणास्थान होता है ।

बारहवें गुणस्थानकी अन्तिम आवलिका, जिसमें ज्ञानावरण वर्णानावरण और अंतराय, तीन कर्मकी उदीरणा रुक जाती है, उससे लेकर तेरहवें गुणस्थानके अन्त पर्यन्त दोका उदीरणा-स्थान होता है । चौदहवें गुणस्थानमें योग न होनेके कारण उदय रहने पर भी नाम-गोत्रकी उदीरणा नहीं होती ।

उक्त सब ध-धस्थान, सत्तास्थान आदि पचास सहीके हैं, क्योंकि चौदहों गुणस्थानोंका अधिकारी यही है । किस किस गुणस्थानमें कौनसा कौनसा ध-धस्थान, सत्तास्थान, उदयस्थान और उदीरणा स्थान है, इसका विचार आगे गा० ५६ से ६२ तकमें है ॥ ८ ॥



आद्य-मे-से पर्याप्तिके छह भे हैं—(१) आहारपयासि (२) रासीरपयासि (३) इन्द्रिय पयासि (४) श्वासाच्छ्वासपयासि (५) माषापयासि और (६) मन पयासि । इनको व्याख्या पहले कर्मग्रन्थकी ४६वीं गाथाके आचार्यमें पृ. ६७में देख लेनी चाहिये ।

इन छह पयासियोंमें पञ्चों चार पयासिय व अधिकारी एकेन्द्रिय हैं । द्वीन्द्रिय त्रौन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और असाक्ष पर्षेन्द्रिय जीव मन पर्याप्तिके सिक्काय रोप यों व पर्याप्तियोंके अधिकारी हैं । सति पक्षेन्द्रिय जीव इहो पयासियान अधिकारी है । इस विषयकी गाथा श्री जिनमन्त्रिण जमाप्रमण कुल वृहत्पद्मद्वयीमें है—

“आहारसरीरिन्द्रिय, -पञ्चत्ता आणपाणभासमणो ।

यत्तारि पच छप्पि य, एगिन्द्रियविगट्सनीण ॥३४९॥”

इही गाथा गोमन्तर-जीवकाण्डमें १२८वें नम्बरपर द्रव्य है । प्रस्तुत विषयना विशेष स्वरूप जाननेकेलिये ये स्थल देखन योग्य हैं—

नन्ती पृ० १०४-१ ५ पञ्चस० हा० १ गा० ५ वृत्ति लोचन० म० ३ श्लो० ७-४२ तथा जीवकाण्ड पयासि अधिकार गा० ११७-१२७ ।

## प्रथमाधिकारके परिशिष्ट ।

### परिशिष्ट “क” ।

#### पृष्ठ ५ के “लेश्या” शब्दपर—

१—लेश्याके (क) द्रव्य और (ख) भाव, हम प्रकार दो भेद हैं ।

(क) द्रव्यलेश्या पुद्गल विरोधात्मक है । इसके स्वरूपके सम्बन्धमें मुख्यतया तीन मत हैं । (१) कर्मवर्गाणं निष्पन्न (२) कर्म निष्पन्न और (३) योग परिणाम ।

१ले मतका यह मतार्थ है कि लेश्या द्रव्य कर्म-वर्गणासे बने हुये हैं, फिर भी वे आठ काममें मित्र ही हैं, जैसा कि कामचारादि । यह मत उत्तराध्ययन अ० ३४ की टीका पृ० ६५० पर उल्लिखित है ।

२रे मतका आशय यह है कि लेश्या द्रव्य कर्म निष्पन्नरूप (कर्ममात्र कर्म प्रवाहरूप) है । चौदहवें गुणस्थानमें कर्मक होनेपर भी उसका निष्पन्न न होनेसे लेश्याके अभावकी उपपत्ति हो जाती है । यह मत उक्त पृष्ठपर ही निश्चित है, जिसकी टीकाकार बादियैताल श्रीशान्तिसूरिने ‘गुरवस्तु व्याचक्षते बह्वक्ष लिखा है ।

३रा मत श्रीशान्तिसूरि आश्रित है । इस मतका आशय भीमलयगिरिजीने पञ्चव्या पद १७ की टीका पृ० ३३ पर स्पष्ट बतलाया है । वे लेश्या द्रव्यका योगवर्गणा अतगत स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं । उक्तव्याय श्रीविजयविजयजीने अपने आगम-सोदहनरूप शोधप्रकारा सर्ग ३ श्लोक २८५ में इस मतकी ही प्राप्ति ठहराया है ।

(ख) भावलेश्या आत्माका परिणाम विरोध है, जो सङ्हरा और योगमें अनुगत है । सङ्हराके तीन, तीव्रतर, तीव्रतम मन्द मन्दतर, मन्दतम आदि अनेक भेद होनेमें वस्तुतः भावलेश्या, अमर्य प्रसारणी है तथापि मग्नमें बह्विभाग वरकेशस्त्रमें उमका स्वरूप दिखाया है । देखिये गा० १२वीं । छह भेदोंका स्वरूप समझनेकेलिये शास्त्रमें नीचे लिखे दो दृष्टान्त दिये गये हैं —

पहिला — जोई दृढ़ पुरुष जम्बूफल (जामुन) आनेकी इच्छा करते हुये जल न रहे थे इनमें जम्बूफलका देव उजमेंसे एक पुरुष बोला— ‘लीजिये जम्बूफल तो आ गया । अब कर्कोलिये ऊपर चटनकी अपेक्षा फलोंसे लदी हुई बड़ी-बड़ी शाखाओंसे हम फलको बाट गिराना ही अच्छा है ।

यह सुनकर दूसरेने बह— ‘वृक्ष काटनेसे क्या लाभ ? केवल शाखाओंको काट दो ।’



## परिशिष्ट "च" ।

## पृष्ठ २१ के 'क्रममावी' शब्दपर—

द्वयपक्षे व्यवहृत क्रममावी है "यमें मतभेद नहीं है पर व्यवहृतके उपयोगक सम्बन्धमें मुख्य तीन पक्ष हैं—

(१) सिद्धान्त-पक्ष वेदान्तान्त और वेदान्तान्त क्रममावी मानता है । इससे सम्बन्ध भीतनमन्त्राणि द्वापदमन्त्राणि आदि हैं ।

(२) दूसरा पक्ष वेदान्तान्त-व्यवहारान् उभय उपयोगको सहमावी मानता है । "मन्त्राणि द्वापदमन्त्राणि तद्विधेय" आदि हैं ।

(३) तीसरा पक्ष, उभय उपयोगोंका न न मानकर उनका वेद्व्य मानता है । इससे "मन्त्राणि द्वापदमन्त्राणि तद्विधेय" आदि हैं ।

तीनों पक्षोंकी कुछ मुख्य-मुख्यदृष्टीयें क्रमशः नीचे दी जाती हैं—

१—(क) सिद्धान्त (मन्त्राणि तद्विधेय १८ और २४ के ६ उद्देश, तथा प्रमाण-पद ३०) में ज्ञान-दर्शन दोनोंका अलग अलग कथन है तथा उनका क्रममवित्त्व स्पष्ट वर्णित है । (ख) प्रामुक्ति (आ० नि० गा० १७७-१७८) में वेदान्तान्त-वेदान्तान्त दोनोंका भिन्न-भिन्न सङ्घटन उनका द्वारा सर्व-विषय ज्ञान तथा दर्शनका हाता और सुगमत्व दो उपयोगोंका निवेदन स्पष्ट बतलाया है । (ग) वेदान्तान्त-वेदान्तान्त भिन्न भिन्न आवरण और उपयोगोंकी बारह संख्या शास्त्रमें (प्रमाण पद २६ पृ० ५-५ आदिमें) जगह जगह वर्णित है । (घ) व्यवहारान्त और वेदान्तान्त, अलग बने जाते हैं जो लक्षिका अवेद्यामें, उपयोगको अवेद्यासे नहीं । उपयोगकी अवेद्यामें उनकी स्थिति एक समझी है क्योंकि उपयोगकी अवेद्याम अन्तर्गतता शास्त्रमें नहीं भी प्रतिपादित नहीं है । (ङ) उपयोगका स्वभाव ही ऐसा है जिसमें कि वे क्रमशः प्रवृत्त होते हैं । इसविध व्यवहारान्त और वेदान्तान्त क्रममावी और अलग-अलग मानना चाहिये ।

२—(क) आवरण व्यवहृत निमित्त और सामान्य-विराजितक विषय, समकालीन हीनेन वेदान्तान्त और वेदान्तान्त सुगम होते हैं । (ख) व्यापक-उपयोगमें व्यवहारान्तमात्र या परम प्रतिबन्ध प्रतिबन्धक-मात्र स्पष्ट बनना है चाहेकि-उपयोगोंमें नहीं, क्योंकि वेद-स्वभाव स्पष्ट बनना जब निराकरण हो तब हमसे दोनों चाहेकि-उपयोग निराकरण ही होने चाहिये । (ग) वेदान्तान्त-वेदान्तान्त गौरी गौरी अवेद्यामिन, जो शास्त्रमें नहीं है, वह भी सुगमत्व-पक्षमें ही स्पष्ट बनती है, क्योंकि हम पक्षमें दोनों उपयोग सुगम और निरन्तर होने रहते हैं । इसलिये वेदान्तान्त-वेदान्तान्त प्रकाशको अपरदर्शित (अन्तर्गत) कहा जा सकता है । (घ) व्यवहारान्त वेदान्तान्तमें सम्बन्धमें सिद्धान्तमें नहीं-वही जो कुछ कहा गया है वह सब दोनोंमें स्थिति भेदका सम्बन्ध है सम्बन्धित नहीं । इसलिये दोनों उपयोगोंमें सहमावी मानना चाहिये ।

तामर पुरुषने कहा— यह भी ठीक नहीं छोड़ी-छोटी साक्षात्कार का लेना भी ता काम निकला जा सकता है ?

चौधने कहा— साक्षात्कार भी क्यों करना ? फलोंके गुच्छोंको तोड़ लीजिये ।

पाँचवाँ बोला— गुच्छामें क्या प्रयोजन ? उनमेंसे कुछ फलोंको ही ले लेना अच्छा है ।

अन्तमें छठे पुरुषने कहा— मे सब विचार निरर्थक है, क्योंकि हम लोग जिन्दे चाहते हैं वे फल तो पीने भी गिरे हुए हैं, क्या उहाँसे अपनी प्रयोजन-सिद्धि नहीं हो सकती है ?

दूसरा — कोई छह पुरुष धन लूनेर इरादे जा रहे थे । रास्तेमें किसी गाँवका पाकर सनसैय पड़ गया — इन गाँवको नष्ट नष्ट कर दो—मनुष्य पशु पक्षी जो कोई भिन्न उन्हें मारो और धन लू लो ।

यह सुनकर दूसरा बोला — पशु पक्षा आदि को क्यों मारना ? केवल विराध करनेवाले मनुष्योंहीना मारो ।

तीसरा कहा — बेचारी छिपीकी इत्या क्यों करना ? पुरुषोंकी मार दो ।

चौधने कहा — 'मम' पुरुषोंको नहीं, बा सारा ही छोड़ीकी मारो ।

पाँचवाँ ने कहा — जा मगल पुरुष या विरोध नहीं करते उन्हें क्यों मारना ?

अन्तमें छठे पुरुषने कहा — किसीकी मारनेके क्या लाभ ? निम प्रकारस धन सब हरण किया जा सके, उस प्रकारस हम ठगता ला और किसीकी मारो मत । एक ता धन लूना और दूसरे उमड़ मालिकोंकी मारना यह ठीक नहीं ।

इन दो वृक्षान्तोंमें लेखायाका स्वरूप स्पष्ट जाना जाता है । प्रत्येक वृक्षान्तके छह-छह पुरुषोंने पूरा पूरा पुस्तक परिणामोंका अपेक्षा उत्तर उत्तर पुरुषके परिणाम शुभ सुमतर और सुमनस पाये जाते हैं—उत्तर-उत्तर पुस्तके परिणामोंमें मङ्गलाकी सूचना और श्रुतिकी अधिकता पाई जाती है । प्रथम पुरुषके परिणामकी कृपया दूसरेके परिणामको 'नीलनेरवा' इस प्रकार प्रथम छह पुरुषके परिणामका 'मङ्गल' समझना चाहिये ।—आवरणकारिणी वृत्ति ७०

१५३१ गदा लोव ० प्र ॥ ३ प्रा ३६३-३६० ।

लेखा द्रव्यक स्वरूपमन्त्रका उक्त तीनों मन्त्र अनुसार लेखमें गुलस्थान पयन्त भाव लेखाका मङ्गल समझना चाहिये । यह मिथ्यात्वा गोमन्त्रकार जीवकायको भी मान्य है क्योंकि हमने माघ वृत्तिको लेखा कहा है । कहा —

“अयदोत्ति छलेस्साओ, सुहवियळेस्सा वु देसविरदनिये

सत्ता सुफा छेस्सा, अजोगिठाण अलेस्स वु ॥५३१॥”

मर्यादामिद्धिमें और गाम्य मारक रथानालमें कथामोक्ष-अनुरागि तयोग प्रवृत्ति का लेखा कहा है । यद्यपि इस कथनमें हमें गुलस्थान पयन्त ही लेखाका होना पाया जाता है पर यह

३—(क) जैसे सामग्री मिलनेपर एक छान पर्यायमें अनेक घट पटादि विषय भाषित होने हैं वैसे ही आवरण चय विषय आदि सामग्रो मिलनेपर एक ही कवल-उपयोग पर्यायोंके सामान्य विशेष उभय स्वरूपक ज्ञान मकरा है। (ख) जैसे कवलज्ञानक समय, मतिज्ञानावरणादि अभाव होनेपर भी गति आदि ज्ञान कवलगत नमे अलग नहो माने जाने वैसे ही कवलदराना-वरणका चय होनेपर भी कवलज्ञानको कवलज्ञानमे अलग मानना उचित नहीं। (ग) विषय और लघोपसामग्री निमित्तज्ञानके कारण ज्ञानस्थित ज्ञान और दर्शनमे परस्पर भेद माना जा सकता है पर अनन्त विषयज्ञान और ज्ञान-भाव समान होनेमे कवलज्ञान-कवलज्ञान-दर्शन किसी तरह भेद नहीं माना जा सकता। (घ) यदि कवलदरानका कवलज्ञानसे अलग माना जाय तो वह सामान्यमात्रा विषय करनेवाला होनेमे अल्प विषयक सिद्ध होना निमित्त उभयता शब्द कथन अनन्त विषयज्ञान नही हो सकेगा। (ङ) कवलीकर भाषण कवलज्ञान-कवलदरान प्रत्यक्ष होना है यह गाल-कथन अनेक पत्रोंमें पूर्णतया हो सकता है। (च) आवरण भेद कथन ही अभाव वस्तुतः आवरण एक होनेपर भी कार्य और उपाधि-भेदों के अभावसे उसके भेद समझने चाहिये इसलिये एक उपयोग-व्यक्तिमें ज्ञान-व्यक्तिगत भेद अलग अलग मानना चाहिये। उपयोग ज्ञान दर्शन दो अलग अलग मानना युक्त नहीं है पर ज्ञान-दरान दोनों शब्द पर्यायमात्र (एक धात्री) है।

उपाध्याय श्रीपरोक्षिप्रयप्रोने अपने ज्ञानविन्दु पृ० ६६ में नर-हृत्मान तोमो पक्षोंका समन्वय किया है—मिद्धाण पत्र शुद्ध अनुमन्त्रनवर्ग अनेकान् श्रीपत्रका ज्ञानिका पक्ष व्यवहार नयवी अनेकान् और शिष्यमेन विचारका एक सद्यस्त्वकी कवेत्तात् ज्ञानका आदिदे। इस विषयका सम्बन्ध बलान सम्प्रतिपक्ष जीवकाण गा ३ मे आग विशेषावरण भाष्य गा० ३ ८-३१३५ श्रीहरिभक्तिसूरिकृत धर्मसंग्रहणा गा० २३३६-२३५६ मोनिदत्तेनगखिद्वन तत्त्वाधरीका गा २ सू० ३१ पृ ५५ श्रीनलशिरि-जन्मोदित पृ० ३३४-३३८ और ज्ञानविन्दु पृ १५४-१६४ मे जान लेना चाहिये।

निगम-मन्त्रावर्ग उक्त तीन पक्षमें दूसरा अन्तर गुणपर उपयोग हमरा एक ही प्रसिद्ध है—

‘जुगव घट्टइ जाण केवलणाणिरस दसण च तहा ।

दिणयरपयासताप, जह वट्टइ तह मुणेयव्व ॥१६०॥’

—निवमसार ।

“मिद्धाण सिद्धगई, केवलणाण च दसण ग्ययिय ।

सम्मत्तमणाहार, उवजागाणकमपदत्ती ॥७३०॥” —जीवकाण ।

“दसणपुज्य जाण, छदमत्थाण ण दोण्णि उवत्तमा ।

जुगव जम्हा कवलि—गाई जुगव तु ते दोवि ॥४४॥”

—द्वयमसह ।

कथन अपेक्षा-कृत होनेके कारण पूर्व-कथनमें विरुद्ध नहीं है । पूर्व कथनमें केवल प्रकृति प्रदेशा-  
बन्धके निमित्तभूत परिणाम लेखात्मके विवक्षित हैं । और इस कथनमें स्थिति अनुभाग आदि  
जातों बन्धोंके निमित्तभूत परिणाम लेखात्मके विवक्षित हैं कवल प्रकृति प्रदेशा-बन्धके निमित्त  
भूत परिणाम नहीं । यथा —

“भायलेक्ष्या कषायोदयराजिता योग प्रवृत्तिरिति कृत्वा औदायि-  
कीत्युच्यते ।”

—मवायमिह अध्याय २ सूत्र ८ ।

“जोगपडत्ती लेस्सा, कसायउदयाणुरजिया छोइ ।  
तत्तो दोण्ण कज्ज, वधचउक्क समुद्धिठ्ठ ॥४८९॥”

—जीवकाण्ड ।

द्रव्यनैराकारे वर्ण-भाव आदिका विचार तथा भवितव्यके मन्त्र आदिका विचार उत्तरा-  
ध्यायन भा० ३४ में है । इसकेलिये प्रसाधना-सम्पादन आवश्यक, लोकप्रकारा आदि आकर ध्वज  
शेताम्बर-आदियमें है । उक्त दो दृष्टान्तोंमेंसे पहला दृष्टान्त, जीवकाण्ड गा० ५०६-५०७ में है ।  
लेखारी कद्र विशेष बर्णन जाननेकेलिये जीवकाण्डका लेखामागदाधिकार (गा० ४८८-५५५)  
देखने योग्य है ।

जीवोंके आन्तरिक भावोंकी अभिवृत्ति तथा परिवर्तनात्तर-तम-भावना मरक लेखाका  
विचार नैसा त्रैलोक्यमें है, उद्भूत उन्नीके मगन छह जानियोंका विभाग मन्त्रीगोसा-वपुत्रके  
मनमें है जो कर्मकी शुद्धि अशुद्धिको लेकर कृष्ण-जीव आदि छह वर्णोंके आधारपर विभा-  
गया है । इसका वर्णन दीपनिकाय-माम्मकलमुक्त में है ।

‘महाभारत’ के १२-२८६ में भी छह जीव वर्ण लिये हैं जो उक्त विचारसे कुछ  
भिन्ने-नुम्ने हैं ।

‘शतपथब्रह्मसूत्र’ के ४७ में भी ऐसी कल्पना है क्योंकि उन्नीके कर्मके चार विभाग  
करके जीवोंके भावोंकी शुद्धि अशुद्धिका व्यवहरा क्रिय है । इसकेलिये देखिये जीवनिकायका  
महाटी-मन्थान्तर, पृ० ५५ ।

## परिशिष्ट "छ" ।

## पृष्ठ २२ के 'एकेन्द्रिय' शब्दपर—

एकेन्द्रियमें तीन उपयोग माने गये हैं। इसमें यह शङ्का होती है कि स्पर्शान्द्रिय मन्त्रि-  
ज्ञानावरणकमरा से पोराम होनेमें एकेन्द्रियमें मन्त्रि उपयोग मानना ठीक है परन्तु भाषान्त्रिय  
(बोलेनेकी शक्ति) तथा अवयवन्त्रिय (सुननेकी शक्ति) न होनेके कारण उनमें भुत-उपयोग कैसे  
माना जा सकता है, क्योंकि शास्त्रमें भाषा तथा अवयवन्त्रियोंको ही अतृप्त माना है।  
यथा —

“भावसुय भासासो,—यलद्विणो जुजए न इयरस्स ।

भासाभिमुहस्स जय, सोऊण य ज हरिज्जाहि ॥१०२॥”

—विरोधावरण ।

बोली २ सुननेकी शक्तिवालेहीसे भावभुत हो सकता है दूसरेको नहीं। क्योंकि सुत  
ज्ञान उन ज्ञानकी कहने है जो बोलेनेकी इच्छा करने या यथा सुननेवालेको होता है।

इसका समाधान यह है कि स्पर्शान्द्रियके विषय अथ द्रव्य (वायु) शक्तिमें १ होने  
पर भी वृत्ति जीवमें बीच आवे द्रव्य अन्य ज्ञानका ज्ञाना, जैसा शास्त्र-सम्मत है वैन हीबोलेने  
और सुननेकी शक्ति न होनेपर भी एकेन्द्रियमें भावभुतज्ञानका ज्ञान शास्त्र सम्मत है। यथा —

“जह सुहुम भाविंदिय,—नाण दव्विदियावरोह वि ।

तह दव्वसुयाभोव, भावसुय पत्थिवाईण ॥१०३॥”

—विरोधावरण ।

जिम प्रकार अन्य इन्द्रियोंके अभावमें भावेन्द्रिय वय मूलन गुण होता है इसी प्रकार  
द्रव्यभुत भाषा आदि वृत्ति निमित्तके अभावमें भी पृथ्वीरात्रिक आदि तीनोंके अथ भावभुत  
होता है। यही कि धर्मोका जैसा स्पष्ट ज्ञान होय २ वया एकेन्द्रियोंको नहीं जाना। शास्त्र  
में एकेन्द्रियोंको आहारवा अभिवाष माना है यही उनका अर्थ ज्ञान माना है हेतु है।

आहारवा अभिवाष सुखवेत्तायत्तमक उत्तम ज्ञानका आत्मावा परिणाम विरोध  
(अवयव) है। यथा —

“आहारसहा आहाराभिलाप क्षुब्धेदनीयोदयप्रभव सत्तात्सपरि-  
णाम इति ।”

## परिशिष्ट "ख" ।

पृष्ठ १०, पंक्ति १८के 'पञ्चेन्द्रिय' शब्दपर—

जीवके एकैन्द्रिय भाषि पाँच भेद किये गये हैं जो द्रव्येन्द्रियक आधारपर, क्योंकि भावेन्द्रियाँ तो सभी सत्ताओं पाँचोंको पाँचों होती हैं । यथा —

"अहवा पञ्च लङ्घि, -दिय पि पंचेदिया सबवे ॥२९९९॥"

—विरोधापरमक ।

अर्थात् लङ्घीन्द्रियको अपेक्षासे सभी सत्ताएँ जीव एकाद्रिय हैं ।

'पचदिउ छव बालो, नरा छव सव्य विसओवलभाओ ।' इत्यादि

—विरोधापरमक ता ३००१ ।

प्रमाण सब विषयका ज्ञान होनेकी योग्यताक कारण बहुत-बहुत मनुष्यकी तरह पाँच इन्द्रियोंवाला है ।

यह ठीक है कि इंद्रियाँ आदिकी भावेन्द्रिय एकैन्द्रिय आदिकी भावेन्द्रियसे उत्तरोत्तर व्यक्त-व्यक्ततरही होती हैं । पर हममें कोई सन्देह नहीं कि जिसका द्रव्येन्द्रियाँ पाँच पूरी नहीं हैं उन्हें भी भावेन्द्रियों का सभी होती ही हैं । यह बात आधुनिक विद्वानसे भी प्रमाणित है । डा. जगन्नाथचन्द्र बसुकी सहाजके कर्मग्रन्थमें स्मरणशक्तिका अस्तित्व सिद्ध किया है । स्मरण जो कि मानसशक्तिका कार्य है वह यदि एकैन्द्रियमें पाया जाता है तो फिर उसमें अन्य इन्द्रियाँ जो कि मनसे नीचेकी शक्तिकी मानी जाती हैं उनका होनेमें कोई बाधा नहीं । इन्द्रियके स्वरूप में प्राचीन कालमें विराट् नरा महात्माअग्नि बहुतविचारकिया है जोअनेक जैन-ग्रन्थोंमें उपलब्ध है । उनका कुछ अंश इस प्रकार है —

इन्द्रियों दो प्रकारकी हैं—(१) द्रव्यरूप और (२) भावरूप । द्रव्येन्द्रिय पुनः जन्म होनेसे वर्णरूप है, पर भावेन्द्रिय शानकर है क्योंकि वह चेतना-शक्तिका प्रयय है ।

(१) द्रव्येन्द्रिय अज्ञोऽज्ञ और निमाणमायकमके उद्गम जन्य है । इसके दो भेद हैं—  
(क) निवृत्ति और (ख) व्यकरण ।

(क) इन्द्रियके आवारक नाम निवृत्ति है । निवृत्तिके भी (१) बाधा और (२) अभ्यन्तर ये दो भेद हैं । (१) इन्द्रिय बाधा आवारकको बाधनिवृत्ति कहते हैं और (२) भीतरी आवारकको अभ्यन्तरनिवृत्ति । बाध बाध तलवारके समान है और अभ्यन्तर बाध तलवारकी तेज धारके समान जो अत्यन्त स्वच्छ परमाणुओंका बना हुआ होता है । अभ्यन्तरनिवृत्तिकी

इस अभिलाषरूप अध्यवसायमें मुझे अमर बरतु मिल तो अच्छा इस प्रकारका रास्सा और अर्थका विकल्प होता है। ना अध्यवसाय निरव्ययमहिम होता है वही धनदान कहलाता है। यथा —

“इन्द्रियमणोनिमित्त, ज विष्णाण मुयाणुसारेण ।

नियययुत्तिसमत्थ, स भावसुय मई सेस ॥१००॥”

—विशेषावरणक ।

अर्थात् इन्द्रिय और मनके निमित्तम उपपन्न होनेवाला ज्ञान जो नियत अर्थका कथन करनेमें समर्थ और श्रुतानुसारी (गन् तथा अधव विरूपमें युक्त) है उसे भावभुग तथा उसमें मिश्र ज्ञानको मतिज्ञान समझना चाहिये। अब यदि पञ्चद्रव्योंमें भुग-उपयोग न माना जाय तो उनमें आहारका अभिलाष जो शास्त्रसम्मत है वह कैसे बट सकेगा ? हमलिये बोलने और सुननेकी शक्ति न होकर भी उनमें अन्यतः सूक्ष्म भुग उपयोग अवश्य ही मानना चाहिये ।

भाषा तथा अर्थजन्यविचित्रताका ही भावभुग जाना है दूसरेको नहीं इस शास्त्र-कथनका तात्पर्य इतना ही है कि जब प्रकारकी शक्तिकारका स्पष्ट भावभुग होता है और दूसरोंका अन्त्य ।



## (२) -- मार्गणास्थान-अधिकार ।

### मार्गणाके मूल भेद ।

गइइंदिए य काये, जोए वेए कसायणाणेषु ।

सजमदसणलेसा, - भवसम्म सनिआहारे ॥ ६ ॥

गतीन्द्रिये च काये, यागे वेदे कपायज्ञानयो ।

भयमदशनलेस्यामव्यसम्यक्त्वे सइशाहारे ॥ ९ ॥

अर्थ—मार्गणास्थानके गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कपाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, अव्यक्त, सम्यक्त्व, सधित्व और आहारकत्व, ये चौदह भेद हैं ॥ ६ ॥

### मार्गणाओंकी व्याख्या ।

भाषार्थ—( १ ) गति—जो पर्याय, गतिनामकर्मके उदयसे होते हैं और जिनसे जीवपर मनुष्य, तिर्यञ्च, देव या नारकका व्यवहार होता है, वे गति हैं ।

१—यह गाथा पञ्चमग्रहकी है (नार १ गा० २१) । गोमन्गसार नावराष्ट्रमें यह हम प्रकर है —

“गइइंदियेसु काये, जोगे वेदे कसायणाणे य ।

सजमदसणलेस्सामवियासम्मत्तमाणिआहारे ॥ १४१ ॥”

२—गोमन्गसार नावकाष्टके नागगाधिकारमें मार्गणाओंके गे लक्षण है व मन्त्रमें हम प्रकर है —

(१) गतिनामकर्मके उक्त क्रम पचाय या चार गति पानेके कारणभूत जो पचाय वं गति कहलाने हैं । —गा० १४१ ।

(२) अइन्द्रिय ममान आशममें मन्त्र होनेमें नेत्र आदिको ‘इन्द्रिय’ कहने हैं । —गा० १४२ ।



हैं, जिसको इत्यरसामायिकसयमवाले यज्ञी दीक्षाके रूपमें ग्रहण करते हैं। यह सयम, भरत ऐरवत क्षेत्रमें प्रथम तथा चरम तीर्थद्वारके साधुओंको होता है और एक तीर्थके साधु, दूसरे तीर्थमें जय दाखिल होते हैं, जैसे — श्रीपार्श्वनाथके 'केशीगाह्वेय' आदि सान्त्वानिक साधु, भगवान् महावीरके तीर्थमें दाखिल हुये थे, तब उन्हें भी पुनर्-दीक्षारूपमें यही सयम होता है।

( ३ ) 'परिहारविशुद्धसयम' यह है जिसमें 'परिहारविशुद्धि' नामकी तपस्या की जाती है। परिहारविशुद्धि तपस्याका विधान सक्षेपमें इस प्रकार है —

१—एक बालका वर्णन भगवतीमंत्रमें है।

२—इस संयमका अधिकार पानेकेलिये गृहस्थ-व्रतार्थ (उभ) का जप-प्रमाण २१ माल साधु-व्रतार्थ (पीचाकान) का जप-प्रमाण २० साल और दोनों व्रतार्थका उत्कृष्ट प्रमाण कुत्र कम कराव पूर्व व्रत माना है। यथा —

“एयस्स एस नेओ, गिहिपरिधाओ जहन्ति गुणतीसा ।

जहपरियाओ घीसा, दोसु वि उक्कोस देसूणा ॥”

इस सयमके अधिकारीका मध्ये नव पूर्वका ज्ञान होता है यह श्रीजयन्तोमसूत्रिने अपने ग्रन्थमें लिखा है। इसका ग्रहण तीर्थद्वारके या तीर्थद्वारके अन्तेवासीके पाम माना गया है। इस समयमें धारण करनेवाले मुनि, दिनके तीर्थमें प्रहरमें भिक्षा व विहार कर सकते हैं और अन्य समयमें ध्यान कार्यत्सर्ग आदि। परन्तु इस विषयमें दिगम्बर शास्त्रका योऽसा मत-भेद है। चममें तीस वर्षकी उम्रवालेको इस सयमका अधिकारी माना है। अधिकारीनभिये नौ पूर्वका ज्ञान आवश्यक बलनाया है। तीर्थद्वारक मित्राय और किन्हींके पाम उस सयमके ग्रहण करनेकी उममें मनाही है। साथ ही तीन सव्याओंको छोड़कर दिनके किसी भागमें दो कोस तक जानेकी उममें सम्मति है। यथा —

“तीस वासो जम्मे, वासपुधत्त सु तित्थयरभूले ।

पञ्चकखाण पढिदो, सक्षूण दुगावयाविहारो ॥४७२॥”

## ( २ ) इन्द्रिय—स्वचा, नेत्र आदि जिन साधनोंसे सर्दी गर्मी,

(१) नातिनामकमव नवन गृहचारी जम या ग्यावर-नामकमके उन्वये होनेवाले पर्याय काय है । —गा० १८० ।

(४) पुनल विपत्ती शरीरनामकमके उन्वये मन बचन और काय पुन जीवकी कर्म ग्रहणमें कारणभूत जो शक्ति वह यो है । —गा० २१५ ।

(४) वेमोहनीयके उद्य-उदीरणात् होनेवाला परिणामका समोह (चापश्य) जिसमें गुण-गोपका विवेक नहीं रहता वह वे है । —गा० २७१ ।

(५) 'मयाय' जीवन उस परिणामको कहते हैं जिसमें सुख-दुःख रूप अनेक प्रकारके धामर। पैग करनेवाले और ससाररूप विगृह्य भीमावाने कर्मरूप चक्रका सफल किया जाता है । —गा० २८१ ।

मम्यक्व देगचारित्र समचारिण और य तप्यात्मचारित्रका ध्यान (प्रतिबन्ध) करनेवाला परिणाम कथाय है । —गा० २८२ ।

(७) निमज्जद्वारा जीव जीव काय-मम्यक् चक्र प्रकाशक द्रव्य गुण और पर्यायको ज्ञान सकता है वह ज्ञान है । —गा० २८८ ।

(८) अहिमा आदि प्रतीक भाग्य है या आत्मा सुमित्तिये के पालन कथायोंके निमज्ज मन आत्मा तप्यात्मा और इन्द्रियोंकी जयको मयम कहा है । —गा ४६५ ।

(९) पदार्थोंके आकारकी विशेषरूपमें न जानकर माया-वश्यमें जानना वह दर्शन है । —गा ४८१ ।

(१०) जिस परिणामद्वारा जीव पुनरुपाय कर्मकी अपने स्थिति मिला लेता है वह लेखा है । —गा० ४८८ ।

(११) जिन जीवोंकी मिद्धि कभी होनेवाली हो—जो सिद्धिके योग्य हैं वे मम्य और हमक विपरीत जो कभी मम्यरूपमें मुक्त न होंगे वे अमम्य हैं । —गा ४८९ ।

(१२) जीवनरूपके कहे हुये पाँच अग्निकाय धृष्ट द्रव्य या नव प्रकारके पदार्थोंपर आशा भूषक या अभिगमयूः (प्रमाण-नय-निचेप-पारा) उद्य-वरन मम्यस्त्व है । —गा० ४९० ।

(१३) नो-इन्द्रिय (मन) के आवरणका लोपोपराम या उमसे होनेवाला ज्ञान जिसे मम्य कहते हैं उसे धारण करनेवाला जीव मनी और हमक विपरीत जिसका मनवे सिवाय अन्य न-मम्य ज्ञान होता है वह असम्य है । —गा० ६१६ ।

(१४) भौतिक वैक्रिय और आचारक मन तीनमेंसे किसी भी शरीरके योग्य वर्ग मम्य ग्रहण करनेवाला जीव आहारन है । —गा० ६६४ ।

(७) किसी प्रकारके समयका स्वीकार न करना 'अविरति' है। यह पहलेसे चौथे तक चार गुणस्थानोंमें पायी जाती है।

(९)-दर्शनमार्गशास्त्रके चारों भेदोंका स्वरूप:-

(१) चक्षु ( नेत्र ) इन्द्रियकेद्वारा जो सामान्य बोध होता है, वह 'चक्षुदर्शन' है।

(२) चक्षुको छोड़ अन्य इन्द्रियकेद्वारा तथा मनकेद्वारा जो सामान्य बोध होता है, वह 'अचक्षुदर्शन' है।

परिमाण बहुत कम कहा गया है। यदि मुनियोंकी दयाकी भीत अरा मान लें तो भावकोंकी दयाकी सेवा अरा कहना चाहिये। इसका अर्थ 'नैराश्रय परिमाण' कहा है कि साधुओंकी सेवा भीम विरहा और भावकोंकी दया सेवा विरहा है। इसका कारण यह है कि भावक अम शिष्टोंकी शिष्टाकी छोड़ सकते हैं भावक भीष्टोंकी शिष्टाकी नहीं। इसमें मुनियोंकी भीम विरहा दयाकी अपेक्षा आधा परिमाण रह जाता है। इसमें भी भावक प्रसन्न की सकलपूजक शिष्टाका स्वयं कर सकते हैं आरम्भ अन्य शिष्टाका नहीं। अत एव इस आधे परिमाणमें भी आधा शिष्टा निकल आनेपर बाँच शिष्टा दया अच्छी है। श्रावणपूर्वक शिष्टा भी कहीं अमोंकी श्वा की जा सकती है जो निरपराध है। साधारण प्रसन्नकी शिष्टामें भावक मुक्त नहीं हो सकते, इससे उन्हें शिष्टा दया रहती है। इसमेंसे भी आधा अरा निकल जाय है, क्योंकि निरपराध अमोंकी भी अपेक्षशिष्टा भावकोंकेद्वारा हो ही जाती है वे उनकी निरपेक्षशिष्टा नहीं करते। इसीसे अमोंकी दयाका परिमाण सेवा शिष्टा माना है। इस भावका जाननेकेलिये एव प्राचीन गाथा इस प्रकार है —

“जीवा सुदुमा शूला, सकल्पा आरमा भवे दुविहा ।

सावराह निरवराहा, सविक्षा चैव निरविक्षा ॥”

इमं शिष्ट सुनाकेलिये देखिये जैनतत्त्वांशका परिच्छेद २८वाँ।

१—अपि मय उक्त दर्शन चार भेद हैं प्रसिद्ध हैं और इसीमें मन पर्यायशब्द नहीं माना जाता है। तथापि कहीं-कहीं मन पर्यायदर्शनकी भी स्वीकार किया है। इसका उल्लेख उरराध पृ० १ ॥ २४ की टीकामें है —

“केचित्तु मन्यन्ते प्रज्ञापनाया मन पर्यायज्ञान दर्शनता पठ्यन्ते”

काले पीले आदि विषयोंका ज्ञान होता है और जो अज्ञोपाहु तथा निर्माणनामकर्मके उदयसे प्राप्त होते हैं, वे 'इन्द्रिय' हैं ।

( ३ ) काय—जिसकी रचना और वृद्धि यथायोग्य औदारिक, वैक्रिय आदि पुद्गल स्कन्धोंसे होती है और जो शरीरनामकर्मके उदयसे जनता है, उसे 'काय' ( शरीर ) कहते हैं ।

( ४ ) योग—धीर्य शक्तिके जिस परिस्पन्दमे—आत्मिक प्रदेशोंकी हल चलसे—गमन, भोजन आदि क्रियायें होती हैं और जो परिस्पन्द, शरीर, भाषा तथा मनोवर्गणाके पुद्गलोंकी सहायतासे होता है, वह 'योग' है ।

( ५ ) वेद—समोग-जन्य सुखके अनुभयकी इच्छा, जो वेद-मोहनीयकर्मके उदयसे होती है, वह 'वेद' है ।

( ६ ) कपाय—किसीपर आसक्त होना या किसीसे नाराज हो जाना, इत्यादि मानसिक विकार, जो ससार वृद्धिके कारण हैं और जो कपायमोहनीयकर्मके उदय-जन्य हैं, उनको 'कपाय' कहते हैं ।

( ७ ) ज्ञान—किसी वस्तुको विशेषरूपसे जाननेवाला चेतना शक्तिना व्यापार ( उपयोग ), ज्ञान' कहलाता है ।

( ८ ) सयम—कर्मबन्ध-जनक प्रवृत्तिसे अलग हो जाना, 'सयम' कहलाता है ।

( ९ ) दर्शन—विषयको सामान्यरूपसे जाननेवाला चेतना शक्तिना उपयोग 'दर्शन' है ।

( १० ) लेश्या—आत्माके साथ कर्मका मेल करानेवाले परिणाम-विशेष 'लेश्या' हैं ।

( ११ ) मयत्व—मोक्ष पानेकी योग्यताको 'मयत्व' कहते हैं ।

( १२ ) सम्यक्तत्व—आत्माके उस परिणामको सम्यक्तत्व कहते हैं, जो मोक्षका अविरोधी है—जिसके व्यक्त होते ही आत्माकी प्रवृत्ति,

( ३ ) अवधिलब्धिवालोंको इन्द्रियोंकी सहायताके बिना ही रूपों द्रव्य विषयक जो सामान्य बोध होता है, वह 'अवधिदर्शन' है ।

( ४ ) सम्पूर्ण द्रव्य-पर्यायोंको सामान्यरूपसे विषय करनेवाला बोध 'केवलादर्शन' है ।

दर्शनको अनाकार-उपयोग इसलिये कहते हैं कि इसकेद्वारा वस्तुके सामान्य विशेष, उभय रूपोंमेंसे सामान्य रूप ( सामान्य आकार) मुख्यतया जाना जाता है । अनाकार-उपयोगको न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनोंमें 'निर्गुणत्व-अवयवसायात्मकत्वान' कहते हैं ॥१२॥

( १० )—लेश्याके भेदोंका स्वरूपः—

किएहा नीला काज, तेज पम्हा य सुक भवियरा ।

वेयगखइगुवसममि,—छमीससासाण सनियरे ॥१३॥

हागा नीला कापोता, तेज पम्हा च सुक भवियरा ।

वेदकध्यायिकोपगमामिध्यामिधसासादनान सनीतरौ ॥ १३ ॥

अर्थ—रूपा, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल, ये छह लेश्याएँ हैं । भव्यत्व, अभव्यत्व, ये दो भेद भयमार्गणाके हैं । वेदक ( ज्ञायो-पशमिक ), ज्ञायिक, औपशमिक, मिध्यात्व, मिध्र और सासादन, ये छह भेद सम्यक्त्वमार्गणाके हैं । सक्षित्व, असक्षित्व, ये दो भेद सक्षिमार्गणाके हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—( १ ) काजलके समान रूपा वर्णके लेश्या-आतीय पुद्गलोंके सम्बन्धसे आत्मामें ऐसा परिणाम होता है, जिससे हिंसा आदि पाँच आन्त्रवोंमें प्रवृत्ति होती है, मन, वचन तथा शरीरका समय नहीं रहता, स्वभाव लुप्त बन जाता है, गुण-दोषकी परीक्षा किये बिना ही कार्य करनेकी आदतसी हो जाती है और क्रूरता आ जाती है, यह परिणाम 'रूपा-लेश्या' है ।

मुह्यतया अन्तर्मुख ( भीतरकी ओर ) हो जाती है । तत्प-रुचि, इसी परिणामका फल है । प्रशम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्ति कता, ये पाँच लक्षण प्रायः सम्पत्कीमें पाये जाते हैं ।

( ३ ) सशित्व—दीर्घकालिकी सज्ञाकी प्राप्ति को 'सशित्व' कहते हैं ।

( १४ ) आहारकत्व—किसी-न किसी प्रकारके आहारको ग्रहण करना, आहारकत्व है ।

मूल प्रत्येक मार्गणमें सम्पूर्ण ससारी जीवोंका समावेश होता है ॥ ६ ॥

१—यही बात महारक भीमकलहदेवने कही है —

“तस्मात् सम्यग्दर्शनमात्मपरिणाम श्रेयोभिमुखमध्यवह्याम्”

—तत्त्वा० प्र १ सू० २ राख० १६ ।

२—आहार तीन प्रकारका है —(१) भोज आहार (२) सोम आहार और (३) ध्वज आहार । इनका लक्षण इस प्रकार है —

“सरीरेणोयाहारो, तयाह कासेण सोम आहारो ।

पक्ववाहारा पुण, फयलियो होइ नायन्वो ॥”

यसमें ध्वज होनेके समय जो शुक्-शोणितरूप आहार वामलसरीरेद्वारा लिया जाता है वह भोज वायुका लोभिकारण जो ग्रहण किया जाता है वह सोम और जो भज आदि काण मुखारा ग्रहण किया जाता है वह पक्व आहार है ।

आहारका स्वरूप गाम्भटसार जीवनाष्टमें इस प्रकार है —

“उदयावण्णसरीरो, दयेण तद्देहवयणचित्ताण ।

णोक्कम्मवग्गणाण, गहण आहारय नाम ॥६६३॥”

रातीनान्नाकं उदयने देह वचन और द्रव्यमनने बनने योग्य नोक्कम्म-वग्गणाओंका जो ग्रहण होता है उसको आहार कहते हैं ।

आदित्यमें आहारके दूह ये किये हुये मिलते हैं । यथा —

( २ ) अशोक वृक्षके समान पीले रंगके लेश्या-पुद्गलोंसे ऐसा परिणाम आत्मामें उत्पन्न होता है कि जिससे ईर्ष्या, अमहिम्नुता तथा माया कपट होने लगते हैं निवृत्तता आ जाती है, विषयोंकी आलसता प्रदीप्त हो उठती है रस लापुण्यता होती है और सदा पौडलिङ्ग सुषुप्ता प्राप्त की जाती है, यह परिणाम 'नीललेश्या' है ।

( ३ ) कबूतरके गलेके समान रक्त तथा कृष्ण वर्णके पुद्गलोंसे इस प्रकारका परिणाम आत्मामें उत्पन्न होता है, जिससे घोलने, काम करने और विचारनेमें सब कहां यक्षता ही यक्षता होती है, किसी विषयमें सरलता नष्ट होती नास्तिक्यता आती है और दूसरोंको कष्ट हो, ऐसा भाषण करनेकी प्रवृत्ति होती है, यह परिणाम 'वायोतलेश्या' है ।

( ४ ) तोतेकी आँचके समान रक्त वर्णके लेश्या पुद्गलोंसे एक प्रकारका आत्मामें परिणाम होता है, जिसमें कि नम्रता आ जाती है शक्तता दूर हो जाती है, चपलता गक जाती है धर्ममें रुचि तथा दृढता होती है और सब रागोंका हित करनेकी इच्छा होती है, यह परिणाम 'तजोलेश्या' है ।

( ५ ) हत्तीके समान पीले रंगके लेश्या-पुद्गलोंसे एक तरहका परिणाम आत्मामें होता है, जिसमें क्रोध, मान आदि कषाय बहुत अश्रोंमें मग्न हो जाते हैं, चित्त प्रशान्त हो जाता है आत्म सयम किया जा सकता है मित भाषिता और जितेन्द्रियता आ जाती है, यह परिणाम 'पद्मलेश्या' है ।

( ६ ) 'शुक्ललेश्या', उस परिणामको समझना चाहिये, जिससे कि आर्त्त-रोद्र ध्याना यद होकर धर्म तथा शुक्ल ध्यान करने यत्न और शरीरको नियंत्रित रखाचट नहीं उपशान्ति होती है और

## मार्गणास्थानके अवान्तर (विशेष) भेद ।

[ चार गाथाओंमें ]

सुरनरातिरिनिरयगई, इगवियतियचउपणिदि छकाया ।  
भूजलजलणानिलवण, नसा य मणवयणतणुजोगा ॥१०॥

सुरनरातिर्यङ्गनिरयगतिरेकाद्वकात्रिकचतुष्पञ्चेन्द्रियाणि षट्काया ।

भूजलज्वलनानिलवनप्रसाध मनोवचनपुयागा ॥ १० ॥

अर्थ—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक, ये चार गतियाँ हैं ।  
एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय, ये पाँच इन्द्रिय हैं । पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय, धनस्पतिकाय और व्रसकाय, ये छह काय हैं । मनोयोग, वचनयोग और काययोग, ये तीन योग हैं ॥ १० ॥

( १ )—गतिमार्गणाके भेदोंका स्वरूप —

भावार्थ—( १ ) देवगतिनामकर्मके उदयसे होनेवाला पर्याय (शरीरका विशिष्ट आकार), जिससे 'यह देव' है, ऐसा व्यवहार किया जाता है, वह 'देवगति' । ( २ ) 'यह मनुष्य है,' ऐसा व्यवहार कराने वाला जो मनुष्यगतिनामकर्मके उदय-जन्य पर्याय, वह 'मनुष्यगति' । ( ३ ) जिस पर्यायसे जीव 'तिर्यञ्च' कहलाता है और जो तिर्यञ्चगतिनाम कर्मके उदयसे होता है, वह 'तिर्यञ्चगति' । ( ४ ) जिस पर्यायको पाकर जीव, 'नारक' कहा जाता है और जिसका कारण नरकगति नामकर्मका उदय है, वह 'नरकगति' है ।

'णोकम्मकम्महारो, कणलाहारो य लेप्पमाहारो ।

ओजमणो वि य कमसो, आहारो छव्विहो णेयो ॥”

—प्रमेयकमनमात्र गडके द्वितीय परिच्छेदमें प्रमाणरूपसे उद्धृत ।



कृतता हो जाती है । ऐसा परिणाम शब्दके समान श्वेत वर्णके लेश्या जातीय पुद्गलोंके सम्बन्धसे होता है ।

(११)—भव्यत्वमार्गणाके भेदोंका स्वरूपः—

(१) 'भव्य' वे हैं, जो अनादि तादृश पारिणामिक भावके कारण मोक्षको पाते हैं या पानेकी योग्यता रखते हैं ।

(२) जो अनादि तथाविध परिणामके कारण किसी समय मोक्ष पानेकी योग्यता ही नहीं रखते, वे 'अभव्य' हैं ।

(१२)—सम्यक्त्वमार्गणाके भेदोंका स्वरूप —

(१) चारअनन्तानुबन्धीकपाथ और दर्शनमोहनीयके उपशमसे प्रकट होनेवाला तत्त्व रुचिरूप आत्म परिणाम, 'औपशमिकसम्यक्त्व' है । इसके ( क ) 'ग्रन्थि भेद-जन्य' और (ख) 'उपशमश्रेणि भावी', ये दो भेद हैं ।

( क ) 'ग्रन्थि भेद जन्य औपशमिकसम्यक्त्व', अनादि मिथ्यात्वी भव्योंको होता है । इसके प्राप्त होनेकी प्रक्रियाका विचार दूसरे

१—अनेक भव्य ऐसे हैं कि जो मोक्षकी योग्यता रखने हुए भी उसे नहीं पाते, क्योंकि उन्हें वैसी अनुकूल सामग्री ही नहीं मिलती जिससे नि मोक्ष प्राप्त हो । इसलिये उन्हें 'जाति भव्य' कहते हैं । ऐसी भी मिट्टी है कि जिसमें सुपर्णक अश्व तो है, पर अनुकूल साधनके अभावसे वे न तो अश्व तक प्रकट हुए और न आगे ही प्रकट होनेकी सम्भावना है, तो भी उन मिट्टीकी योग्यताकी अपेक्षामें जिन प्रकार 'सुवर्ण मृत्तिका (सोनेकी मिट्टी) बल' सकते हैं, वैसे ही मोक्षकी योग्यता होने हुए भी उसके विशिष्ट साधन न मिलनेसे मोक्षकी कभी न पा सकनेवाले जोरोंकी 'जातिभव्य' कहना विरुद्ध नहीं । इसका विचार प्रज्ञापनाके १८वें पदकी टीकामें उपाध्याय-समवसु-दरगणि-कृष्ण विरोचरातकमें तथा भगवतीके १२वें शतकके २२ 'जयन्ती' नामक अधिकांशमें है ।

२—शेषिदे, परिशिष्ट 'क' ।

## (२)—इन्द्रियमार्गणाके भेदोंका स्वरूप:—

(१) जिस जातिमें सिर्फ त्वचा इन्द्रिय पायी जाती है और जो जाति, एकेंद्रियजातिनामककर्मके उदयसे प्राप्त होती है, वह 'एकेंद्रियजाति' । (२) जिस जातिमें दो इन्द्रियाँ (त्वचा, जीम) हैं और जो द्वीन्द्रियजातिनामककर्मके उदय जन्य है, वह 'द्वीन्द्रियजाति' । (३) जिस जातिमें इन्द्रियाँ तीन (उक्त दो तथा नाक) होती हैं और त्रीन्द्रियजातिनामककर्मका उदय जिसका कारण है, वह 'त्रीन्द्रियजाति' । (४) चतुरिन्द्रियजातिमें इन्द्रियाँ चार (उक्त तीन तथा नेत्र) होती हैं और जिसकी प्राप्ति चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मके उदयसे होती है । (५) पञ्चेन्द्रियजातिमें उक्त चार और कान, ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं और उसके होनेमें निमित्त पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मका उदय है ।

## (३)—कायमार्गणाके भेदोंका स्वरूप:—

(१) पार्थिव शरीर, जो पृथ्वीका घनता है, वह 'पृथ्वीकाय' । (२) जलीय शरीर, जो जलसे घनता है, वह 'जलकाय' । (३) तेजसशरीर, जो तेजका घनता है, वह 'तेज काय' । (४) वायवीय शरीर, जो वायु-जन्य है, वह 'वायुकाय' । (५) घनरूपति शरीर, जो घनरूपतिमय है, वह 'घनरूपतिकाय' है । ये पाँच काय, श्वावरनामकर्मके उदयसे होते हैं और इनके स्वामी पृथ्वीकायिक आदि एकेंद्रिय जीव हैं । (६) जो शरीर चल फिर सकता है और जो प्रसनामकर्मके उदयसे प्राप्त होता है, वह 'प्रसकाय' है । इसके धारण करनेवाले द्वीन्द्रियसे पञ्चेन्द्रिय तक भिन्न प्रकारके जीव हैं ।

## (४)—योगमार्गणाके भेदोंका स्वरूप:—

(१)

ध्यापार 'मनोयोग' है

धैर्य

कर्मग्रन्थकी शरीर गत्याके मात्सर्यमें लिखर गया है । इसको 'प्रथमोपशमसम्यक्त्व' भी कहा है ।

( ४ ) 'उपशमश्रेणि भावी औपशमिकसम्यक्त्व'की प्राप्ति चौथे, गँधये, ठुठे या सातवेंमेंसे किसी भी गुणस्थानमें हो सकती है, परन्तु आठवें गुणस्थानमें तो उसकी प्राप्ति अशुभ ही होती है ।

औपशमिकसम्यक्त्वके समय आयुर्ग्रन्थ, भरख, अनन्तानुग्रन्धी कपायका ग्रन्थ तथा अनन्तानुग्रन्धी कपायका उदय, ये चार धातें नहीं होती । पर उससे च्युत होनेके बाद सास्वादन भावके समय एक चारों धातें हो सकती हैं ।

( २ ) अनन्तानुग्रन्धीय और दर्शनमोहनीयके क्षयोपशमसे प्रकट होनेवाला तत्त्व रुचिरूप परिणाम, 'क्षायोपशमिकसम्यक्त्व' है ।

( ३ ) जो तत्त्व रुचिरूप परिणाम, अनन्तानुग्रन्धी-चतुष्क और दर्शनमोहनीय त्रिकके क्षयसे प्रकट होता है, वह 'क्षायिकसम्यक्त्व' है ।

यह क्षायिकसम्यक्त्व, जिन कालिक मनुष्योंको होता है । जो जीव, आयुर्ग्रन्थ करनेके बाद इसे प्राप्त करते हैं, ये तीसरे या चौथे भवमें मोक्ष पाते हैं परन्तु अगले भवकी आयु बाँधनेके पहिले जिनको यह सम्यक्त्व प्राप्त होता है, वे वर्तमान भवमें ही मुक्त होते हैं ।

१—यह मत शैलम्बर दिगम्बर जैनोको प्रकट है ।

“इसणखवणस्सरिहो, जिणकालीयो पुमट्ठवासुवरि” इत्यादि ।

—पञ्चमप्रश्न १० ११११ ।

“इसणमोहकखवणा, पट्ठवणो कम्मभूमिजो मणुसो ।

तित्थवरपायमूले, केवलिसुद्धकेवलीमूले ॥११०॥”

या आहारक शरीरके द्वारा ग्रहण किये हुये मनोद्रव्य-समूहकी मददसे होता है । (२) जीनके उस व्यापारको 'वचनयोग' कहते हैं, जो औदारिक, चैक्रिय या आहारक शरीरकी क्रियाद्वारा संचय किये हुये भाषाद्रव्यकी सहायतासे होता है । (३) शरीरधारी आत्माकी धीर्य शक्तिका व्यापार विशेष 'काययोग' कहलाता है ॥१०॥

(५)—वेदमार्गणाके भेदोंका स्वरूप:—

वेद्य नरिस्थिनपुमा, कमाय कोहमयमायलोभ ति ।  
महसुयधहि मणकेवल, -विहगमडमुग्रनाण सागारा ॥११॥  
वेद्य नरस्त्रिनपुमक, कपाया मोयमदवायालोभा इति ।

मातधुतावाघमन केयनावमन्नमातधुताजानानि साकाराणि ॥११॥

अर्थ—पुरुष, स्त्री और नपुंसक, ये तीन वेद हैं । क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार भेद कपायके हैं । मति, धृत, अयधि, मन पर्याय और केयगह्वार तथा मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विमद्गज्ञान ये आठ साकार ( विशेष ) उपयोग हैं ॥११॥

भाषार्थ—( १ ) स्त्रीके ससर्गकी इच्छा 'पुरुषवेद', (२) पुरुषके ससर्ग करनेकी इच्छा 'स्त्रीवेद' और ( ३ ) स्त्री-पुरुष दोनोंके ससर्गकी इच्छा 'नपुंसकवेद' है ।

१—यह लक्षण मात्रवर्ण है । द्रव्यवेदका नियम बाहरी चिह्नमें किया जाता है — पुरुषके पिंदा, दंडी भद्र भद्रि ई । स्त्रीके पिंदा बाही-मूँदका अभाव तथा स्त्रन भारि है । नपुंसकने स्त्री-पुरुष दोनोंके कुछ कुछ पिंदा होते हैं ।

५२। वाग प्रहाराया मयावकी टीकामें कही हुई है —

“योनिर्मृदुत्वमस्थैर्य, मुग्धता स्त्रीयता स्वनौ ।

पुंस्काभितति लिङ्गानि, सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥१॥

मेहन सरता दार्ढ्य, शौण्डीर्य रमशु घृष्टता ।

स्त्रीकामिवेति लिङ्गानि, सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥२॥

(४) औपशमिकसम्यक्त्वका त्याग कर मिथ्यात्वके अभिमुख होनेके समय, जीवका जो परिणाम होता है, उसीको 'सासादन सम्यक्त्व' कहते हैं। इसकी स्थिति, जघन्य एक समयकी और उत्कृष्ट वह आत्मलिकाओंकी होनी है। इसके, समय, अनन्तानुबन्धी कपायोंका उदय रहनेके कारण जीवके परिणाम निर्मल नहीं होते। सासादनमें अतत्त्व रुचि, अव्यक्त होती है और मिथ्यात्वमें व्यक्त, यही दोनोंमें अन्तर है।

(५) तत्त्व और अतत्त्व, इन दोनोंकी रुचिरूप मिश्र परिणाम, जो सम्यङ्मिथ्यामोहनीयकर्मके उदयसे होता है, यह 'मिश्रसम्यक्त्व (सम्यङ्मिथ्यात्व)' है।

(६) 'मिथ्यात्व' वह परिणाम है, जो मिथ्यामोहनीयकर्मके उदयसे होता है, जिसके होनेसे जीव, जड़ चेतनका भेद नहीं जान पाता, इसीसे आत्मोन्मुख प्रवृत्तिवाला भी नहीं हो सकता है। हठ, कदाम्रह आदि दोष इसीके फल हैं।

### (१६)-सङ्गीमार्गणाके भेदोंका स्वरूप:--

(१) विशिष्ट मन शक्ति अर्थात् दीर्घकालिकीसङ्गाका होना 'सङ्घित्व' है।

(२) उक्त सङ्गाका न होना 'असङ्घित्व' है ॥१३॥

— १—यद्यपि प्राणीमात्रकी किसी न किन्ही प्रकारकी मञ्जा होती ही है, क्योंकि उसके बिना जीवत्व ही अमम्भव है तथापि शास्त्रमें जो मञ्जी-असञ्जाका भेद किया गया है सो दीर्घ-कालिकीमञ्जाक आभारपर। इसकेलिये देखिये, परिशिष्ट ग।

स्तनादिश्मश्रुकेशादि, मावाभावममन्यितम् ।

नपुसक बुधा प्राहुः-भोहानलसुदीपितम् ॥३॥”

बाबा निहारे सम्बन्धमें यह कथन बहुतगरी अवेलासे है, क्योंकि कभी-कभी पुरुषके निहारीमें और स्त्रीके चिह्न पुरुषमें दमे जाने हैं । इस बातकी संन्यासकेलिये नीचे निसे उदरबंद करने योग्य है —

“मेरे परम मित्र डाक्टर शिवप्रसाद, जिस समय कोटा हास्पिटल में थे ( अब आपन स्वतन्त्र मेडिकल हाल रोलनके इरादेसे नौकरी छोड़ दी है , अपनी लाँरो देखा हाल इस प्रकार बयान करते हैं कि ‘डाक्टर मेकवाट साहब के जमाने में ( कि जो उस समय कोटा में चीफ मेडिकल आफिसर थे ) एक व्यक्ति पर मूछावस्था ( अन्डर ड्योरोग्राम ) में शस्त्रचिकित्सा ( औपरेशन ) करनी थी, अतएव उस मूछित किया गया, देखते क्या हैं कि उसके शरीरमें स्त्री और पुरुष दोनोंके चिह्न विद्यमान हैं । ये दोनों अब अब पूर्ण रूपसे विकास पाए हुए थे । शस्त्रचिकित्सा किये जाने पर उसे होश में लाया गया, होशमें आने पर उससे पूछने पर मालूम हुआ कि उसने उन दोनों अवयवोंसे पृथक् २ उनका कार्य लिया है, किन्तु गर्भादिक शक्तीके कारण उसने स्त्री विषयक अवयवसे कार्य लेना छोड़ दिया है ।’ यह व्यक्ति अब तक जीवित है ।”

“सुनने में आया है और प्रायः सत्य है कि ‘मेरवाड़ा डिस्ट्रिक्ट (Merwara District) में एक व्यक्ति के लड़का हुआ । उसने बचस्क होने पर एण्ट्रेन्स पास किया । इसी अस में माता पिता ने उसका विवाह भी कर दिया, क्योंकि उसके पुरुष होने में किसी प्रकारकी शका तो था ही नहीं, किन्तु विवाह होने पर मालूम हुआ कि वह पुरुषत्वके विचारसे सर्वथा अयोग्य है । अतएव डाक्टरी जांच करवाने पर मालूम हुआ कि वह वास्तव में स्त्री है और

## (१)—मार्गणाओंमें जीवस्थान ।

[ पाँच गाथाओंमें । ]

आहारेपर भेया, सुरनरयविभगमइसुओहिदुगे ।

सम्पत्ततिगं पम्हा,—सुक्कासजीसु सन्निदुग ॥ १४ ॥

आहारेतरौ भेदास्सुरनरकविभङ्गमसिभ्रुतावधिटिके ।

मन्यक्त्वत्रिके पद्याशुक्खामसिपु सन्निद्विकम ॥ १४ ॥

अर्थ—आहारकमार्गणाके आहारक और अनाहारक, ये दो भेद हैं । देवगति, नरकगति, विमङ्गलान, भतिज्ञान, धुतज्ञान, अप्रधिज्ञान, अवधिदर्शन, तीन सम्यक्त्व ( औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ), दो लक्ष्यार्थ ( पद्या और शुक्का ) और सन्नित्व, इन तरह मार्गणाओंमें अपर्याप्त सही और पर्याप्त नशी, ये दो जीवस्थान होते हैं ॥ १४ ॥

( १४ )—आहारकमार्गणाके भेदोंका स्वरूप,—

भाषार्थ—( १ ) जो जीव, ओज, लोभ और कपल, इनमेंसे किसी भी प्रकारके आहारको करता है, वह 'आहारक' है ।

( २ ) उक्त तीन तरहके आहारमेंसे किसी भी प्रकारके आहारको जो जीव ग्रहण नहीं करता है, वह 'अनाहारक' है ।

देवगति और नरकगतिमें वर्तमान कोई भी जीव, असही नहीं होता । चाहे अपर्याप्त हो या पर्याप्त, पर होते हैं सभी सही ही । इसीसे इन दो गतिर्योंमें दो ही जीवस्थान माने गये हैं ।

विमङ्गलानको पानेकी योग्यता किसी असहीमें नहीं होती । अतः उसमें भी अपर्याप्त पर्याप्त सही, ये दो ही जीवस्थान माने गये हैं ।

१—यह विषय पञ्चमस्य गाथा २२ स २० गकने है ।

२—एवमि पञ्चमस्य द्वा १ गाथा २०वर्ति यह उक्त है कि विमङ्गलानमें

(६)—कषायमार्गणाके भेदोंका स्वरूपः—

(१) 'क्रोध' वह विकार है, जिससे किसीकी भली-बुरी बात सहन नहीं की जाती या नाराजी होती है । (२) जिस दोषसे छोटे बड़ेके प्रति उचित मन्त्रभाष नहीं रहता या जिससे पेट हो, वह 'मान' है ।

ऊपर पुरुषचिन्ह नाम मात्र को धन गया है—इसी कारण वह चिन्ह निरर्थक है—अतएव डाक्टर के उस कृतिम चिन्ह को दूर कर देने पर उसका शुद्ध स्त्रीस्वरूप प्रकट हो गया और उन दोनों स्त्रियों ( पुरुषरूपधारी स्त्री और उसकी विवाहिता स्त्री ) की एक ही व्यक्ति से शादी कर दी गई । ' यह स्त्री कुछ समय पहिले तक जीवित धतलाई जाती है । "

—मानव-मन्त्र-विज्ञान प्रकरण छठा ।

यह नियम नहीं है कि द्रव्यवेद और भाववेद समान ही हों । ऊपरमे पुरुषके चिह्न होनेपर भी भावसे स्त्रीवेदके अनुभवका सम्भव है । यथा —

“प्रारब्धे रतिकीलसकुलरणारम्भे तथा साहस -

प्राय कान्तजयाय किञ्चिदुपरि प्रारम्भितसभ्रमात् ।

स्त्रिणा येन कटीतटी शिथिलता दोर्बालिहत्कम्पितम्,

वक्षो मीलितमौक्षि पौरुषरस स्त्रीणा कुत सिद्ध्यति ॥१७॥”

—शुभचिह्नरक्तभाण्डागार-विपरीतरतज्ञिया ।

इसी प्रकार अन्य भेदोंके विषयमें भी विपर्ययका सम्भव है तथापि बहुतकर द्रव्य और भाव भेदमें समानता—बाह्य चिह्नके अनुसार हो मानसिक-विक्रिया—पार्य जाती है ।

गोमटसार-जीवकायके मुख आदि वेदका लक्षण शब्द-न्युत्पत्तिके अनुसार लिया है ।

—भा० २७२—७४ ।

१—बाधविक रक्तिके तीव्र-मन्द भावकी अपेक्षासे क्रोधादि प्रत्येक कषायके अनन्तानु बन्धी आदि चार-चार भेद कर्मग्रन्थ और गोमटसार-जीवकायके समान है । किन्तु गोमट सारमें लेखाकी अपेक्षासे धी-ह-वीरह और आयुके ब-भावन्धकी अपेक्षामें बीस-बीस भेद किये गये हैं, उनका विचार स्त्रोताम्बरोव ग्रन्थमें नहीं देखा गया । इन भेदोंकेलिये दखिये जीव० भा० २६१ से २६४ तक ।



मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि द्विक, औपशमिक आदि उक्त तीन सम्यक्त्व और पञ्च शुक्ल लेश्या, इन नौ मार्गणाश्रमों में दो सही जीव स्थान माने गये हैं । इसका कारण यह है कि किसी असहीमें सम्यक्त्वका सम्भव नहीं है और सम्यक्त्वके सिवाय मति श्रुत ज्ञान आदिका होना ही असम्भव है । इस प्रकार सहीके सिवाय दूसरे जीवोंमें पञ्च या शुक्ल लेश्याके योग्य परिणाम नहीं हो सकते । अर्थात् अवस्थामें मति श्रुत-ज्ञान और अवधि द्विक इसलिये माने जाते हैं कि कोई-कोई जीव तीन ज्ञानसहित जन्मग्रहण करते हैं । जो जीव, आयु बाँधनेके बाद क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त करता है, वह पैँधी हुई आयुके अनुसार चार गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें जाता है । इसी अपेक्षामें अर्थात् अवस्थामें क्षायिकसम्यक्त्व माना जाता है । उस अवस्थामें क्षायोपशमिकसम्यक्त्व माननेका कारण यह है कि भावी तीर्थङ्कर आदि, जब देव आदि गतिसे निकल कर मनुष्य जन्म ग्रहण करते हैं, तब वे क्षायोपशमिकसम्यक्त्वसहित होते हैं । औपशमिकसम्यक्त्वके विषयमें यह जानना चाहिये कि आयुके पूरे हो जानेसे जब कोई औपशमिकसम्यक्त्वकी ग्यारहवें गुणस्थानसे

एक ही जीवस्थान है तथापि उसके माथ इस कर्मग्रन्थका कोई विरोध नहीं क्योंकि मूल पञ्च ग्रन्थमें विमङ्गज्ञानमें एक ही जीवस्थान कहा है, जो अपेक्षा विरोधमे । अतः भय अपेक्षामें विमङ्गज्ञानमें १ जीवस्थान भी उमे इष्ट है । इस बातका सुलभा श्रीमन्न्यायिनिर्गुरिने उक्त २७वीं गाथाकी टीकामें स्पष्ट कर दिया है । वे निम्नवे हैं कि मन्त्रि-यचेन्द्रियतिर्यंघ और मनुष्यको अर्थात् अवस्थामें विमङ्गज्ञान उपपन्न नहीं होता । तथा जो भगवती जीव मरकर २ प्रप्रभान्नकमें नारकका जन्म लेने है उन्हें भी अपेक्षा अवस्थामें विमङ्गज्ञान नहीं होता । इस अपेक्षासे विमङ्ग ज्ञानमें २२ (परात्त मङ्गिण) जीवस्थान कहा गया है । सामान्य-दृष्टिसे उसमें दो जीवस्थान समझने चाहिये । क्योंकि जो मन्त्री जीव, मरकर देव या नारकरूपमें पैदा होत है उन्हें अपमान-अवस्थामें भी विमङ्गज्ञान होता है ।

जिसकी काल-मर्यादा उपस्थापन पर्यन्त—यही दीक्षा लेने तक—मानी गई है। यह समय भरत-पेरवत क्षेत्रमें प्रथम तथा अन्तिम तीर्थद्वारके शासनके समय ग्रहण किया जाता है। इसके धारण करनेवालोंको प्रतिश्रमणमहित पाँच महाव्रत अङ्गीकार करने पड़ते हैं तथा इस समयके स्वामी 'स्थितकल्पी' होते हैं।

( ४ ) 'यावत्कथितसामायिकसयम' यह है, जो ग्रहण करनेके समयसे जीवनपर्यन्त पाला जाता है। ऐसा समय भरत पेरवत क्षेत्र में मध्यवर्ती पाईस तीर्थद्वारोंके शासनमें ग्रहण किया जाता है, पर महाविदेहक्षेत्रमें तो यह समय, सब समयमें लिया जाता है। इस समयके धारण करनेवालोंको महाव्रत चार और रूप स्थितास्थित होता है।

( २ ) प्रथम समय पर्यायको छोड़कर फिरसे उपस्थापना (व्रता रोपण) करना—पहले जितने समय तक समयका पालन किया हो, उतने समयको व्यवहारमें न गिनना और दुबारा समय ग्रहण करनेके समयसे दीक्षाकाल गिनना य छोटे-बड़ेका व्यवहार करना—'छेदोपस्थापनीयसयम' है। इसके (क) 'सातिचार' और (ख) 'निरतिचार,' ये दो भेद हैं।

( क ) 'सातिचार-छेदोपस्थापनीयसयम' यह है, जो किसी कारणसे मूलगुणोंका—महाव्रतोंका—भङ्ग हो जानेपर फिरसे ग्रहण किया जाता है।

( ख ) 'निरतिचार-छेदोपस्थापनीय', उस समयको कहते

{—आचेनय औदेशिक शय्यापरिण राजपरिण कृतिकर्म मग ज्येष्ठ प्रतिक्रम्य मास और षडुपवास, इन दस कर्षोंमें जो स्थित है वे स्थितकल्पी और शय्यापरिण मग ज्येष्ठ तथा कृतिकर्म इन चारों नियमसे स्थित और शेष छह कर्षोंमें जो अस्थित होते हैं वे 'स्थितास्थितकल्पी' बड़े माने हैं। —आन० हारिमद्रीकृति पृ० ७६० 'वचाराक प्रकार' ।

## (१)—मार्गणाओंमें जीवस्थान ।

[ पाँच गाथाओंमें । ]

आहारेपर भेषा, सुरनरकविभगमहसुओरिदुगे ।

सम्मत्ततिग पग्हा,—सुकासनीसु सन्निदुग ॥ १४ ॥

आहारेतरो भेषासुरनरकविभगमतिश्रुतावधिद्विके ।

सम्यक्त्वानिके पद्माशुक्लासन्निपु सन्निद्विकम् ॥ १४ ॥

अर्थ—आहारकमार्गणाके आहारक और अनाहारक, ये दो भेद हैं । देवगति नरकगति, विभङ्गज्ञान, मतिज्ञान, धृतज्ञान, अधिज्ञान, अधिदर्शन, तीन सम्यक्त्य ( औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ), दो लक्ष्यार्थ ( पद्मा और शुक्ला ) और सक्षित्व, इन तरह मार्गणाओंमें अर्थात्त सक्षी और पर्याप्त सक्षी, ये दो जीवस्थान होते हैं ॥ १४ ॥

(१४)—आहारकमार्गणाके भेदोंका स्वरूपः—

भाषाथ—(१) जो जीव, ओज, लोभ और कपल, इनमेंसे किसी भी प्रकारके आहारको करता है, वह 'आहारक' है ।

(२) उक्त तीन तरहके आहारमेंसे किसी भी प्रकारके आहारको जो जीव ग्रहण नहीं करता है, वह 'अनाहारक' है ।

देवगति और नरकगतिमें उत्तमान कोई भी जीव, असक्षी नहीं होता । चाहे अपर्याप्त हो या पर्याप्त, पर होते हैं सभी सक्षी ही । इसीसे इन दो गतियोंमें दो ही जीवस्थान माने गये हैं ।

विभङ्गज्ञानको पानेकी योग्यता किसी असक्षीमें नहीं होती । अतः उसमें भी अपर्याप्त पर्याप्त सक्षी, ये दो ही जीवस्थान माने गये हैं ।

१—यह विषय पञ्चसंग्रह भाषा २२ स २७ तकमें है ।

२—रूपवि पञ्चसंग्रह ६२ १ भाषा २७में यह उल्लेख है कि विभङ्गज्ञानमें संनि-ययौत

सद्धिमार्गणमें दो सद्धि-जीवस्थानके सिवाय अन्य किसी जीव स्थानका सम्भव नहीं है, क्योंकि अत्र सब जीवस्थान असंजी ही हैं ।

देवगति अदि उपर्युक्त मार्गणाओंमें अपर्याप्त सद्धीका मतलब करण अपर्याप्तसे है, लब्धि अपर्याप्तमें नहीं । इसका कारण यह है कि देवगति और नरकगतिमें लब्धि अपर्याप्तरूपसे कोई जीव पैदा नहीं होते और न लब्धि अपर्याप्तको, मति आदि ज्ञान, पञ्च आदि लेश्या तथा सम्यक्त्व होता है ॥ १४ ॥

तमसनिअपज्जजुय, - नरे सचायरअपज्ज तेज्ज ।

थावर इगिदि पढमा, - चउ थार असन्नि दु दु ायगले ॥ १५ ॥

तदसद्यपर्याप्तयुत, नरे सचादरापयास तेजति ।

स्थावर एकेन्द्रिये प्रथमानि, चत्वारि द्वादशासंनि द्वे द्वे विकले ॥ १५ ॥

सम्यक्त्वमोहनीय पुणको उद्भावलिकामें लाकर उसे वेदता है इसमें अपर्याप्त अवस्थामें औपरा मिरमस्यत्त्व पाया नहीं जा सकता ।

इस प्रकार अपर्याप्त अवस्थामें किसी तरहके औपरासम्यक्त्वका सम्भव न होनेसे उन आरायोंक मनमें सम्यक्त्वमें केवल पर्याप्त सभी जीवस्थान ही माना जाता है ।

इस प्रसङ्गमें श्रीजीवविजयजीने अपने ठहरे प्रश्नके नामका उत्तर दिये बिना ही उसकी गाथाको उद्धृत करके लिखा है कि औपरासम्यक्त्वकी ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरता है सही, पर उसमें मरता नहीं । मरनेवाला चायिकसम्यक्त्वी हो होता है । गाथा इस प्रकार है —

‘उवसमसेहिं पत्ता, मरति उवसमगुणेषु जे सत्ता ।

ते लयसत्तम देवा, सब्वट्टे खयसमत्तजुआ ॥”

उसका मतलब यह है कि ‘जो जीव उपरासम्यक्त्वको पाकर ग्यारहवें गुणस्थानमें मरते हैं, व सवार्थमिन्द्रविमानमें चायिकसम्यक्त्व-युक्त ही पैदा होते हैं और ‘लवमत्तम देव कहलाते हैं । लवमत्तम वरुणनेका सबब यह है कि सान लव प्रमाण आयु कम होनेसे उनकी देवता जन्म ग्रहण करता पड़ता है । यदि उनकी आयु और भी अधिक होती तो देव हुए बिना उसी जन्ममें मोक्ष होता ।

परिहारविशुद्धसयममें रहकर श्रेणि नहीं की जा सकती, इस लिये उसमें छठा और सातवाँ, ये दो ही गुणस्थान समझने चाहिये ।

केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों क्षायिक है । क्षायिक ज्ञान और क्षायिक-दर्शन, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें होते हैं, इसीसे केवल द्विकमें उक्त दो गुणस्थान माने जाते हैं ।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधि द्विकवाले, चौधेसे लेकर बारहवें तक नौ गुणस्थानमें वर्तमान होते हैं, क्योंकि सम्यक्त्व प्राप्त होनेके पहले अर्थात् पहले तीन गुणस्थानोंमें मति आदि अज्ञानरूप ही हैं और अन्तिम दो गुणस्थानमें क्षायिक-उपयोग होनेसे इनका अभाव ही हो जाता है ।

इस जगह अग्रधिदर्शनमें नव गुणस्थान कहे हुए हैं, सो कर्म ग्रन्थिक मतके अनुसार । कर्मग्रन्थिक विद्वान् पहले तीन गुणस्थानोंमें अग्रधिदर्शन नहीं मानते । वे कहते हैं कि विभङ्गज्ञानसे अग्रधिदर्शनकी भिन्नता न माननी चाहिये । परन्तु सिद्धान्तके मतानुसार उसमें और भी तीन गुणस्थान गिनने चाहिये । सिद्धान्ती, विभङ्गज्ञानसे अग्रधिदर्शनको जुदा मानकर पहले तीन गुणस्थानोंमें भी अवधि-दर्शन मानते हैं ॥ २१ ॥

अड उवसमि चउ वेयगि, खहए इक्कार मिच्छतिगि देसे ।  
सुष्ठुमे य सठाण तेर,-स जोग आहार सुक्काए ॥ २२॥

अशोषणमे चत्वारि वेदके, क्षायिक एकादश मिथ्यात्रिके देय ।

सुष्ठुमे च स्वस्थान त्रयोदश योगे आहारे शुक्लायाम् ॥ २२ ॥

अथ—उपशमसम्यक्त्वमें चौथा आदि आठ, वेदक ( क्षायोपशमिक-) सम्यक्त्वमें चौथा आदि चार और क्षायिकसम्यक्त्वमें चौथा

अथ—मनुष्यगतिमें पूर्वोक्त सन्नि द्विक (अपर्याप्त तथा पर्याप्त सभी) और अपर्याप्त असन्नि, ये तीन जीवस्थान हैं। तेजोलोभ्यामं यादर अपर्याप्त और सन्नि द्विक, ये तीन जीवस्थान हैं। पाँच स्थायक और एकेन्द्रियमें पहले चार (अपर्याप्त सूक्ष्म, पर्याप्त सूक्ष्म, अपर्याप्त यादर और पर्याप्त यादर) जीवस्थान हैं। असन्निमार्गणामं सन्नि-द्विकके सिवाय पहले चारही जीवस्थान हैं। विक्लेन्द्रियमें दो-दो (अपर्याप्त तथा पर्याप्त) जीवस्थान हैं ॥ १५ ॥

भाष्य—मनुष्य दो प्रकारके हैं—गर्मज और समुच्छिद्रम। गर्मज सभी सन्नि ही होते हैं, वे अपर्याप्त तथा पर्याप्त दोनों प्रकारके पाये जाते हैं। पर समुच्छिद्रम मनुष्य, जो दारु द्वीप समुद्रमें गर्मज मनुष्यके मत मून, शुक्र शोणित आदिमें पैदा होते हैं, उनकी आयु अतर्मुहूर्त प्रमाण ही होती है। वे स्त्रोग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं, इसीसे उन्हें सन्नि अपर्याप्त ही माना है, तथा वे अमन्नी ही माने गये हैं। इसलिये सामान्य मनुष्यगतिमें उपर्युक्त तीन ही जीवस्थान पाये जाते हैं।

१—इसे भगवान् स्वामाचार्य प्रमाण ५ ३७ में बतलाने करते हैं—

“कहिण भते समुच्छिद्रममणुस्सा समुच्छति ? गोयमा ! अतो मणुस्सत्तेत्तस्स पणयालीसाए जोयणसयसहस्सेसु अट्टाइजेसु दीवस सुहेसु पम्परससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पत्ताए अतर दीवसेसु गम्भवक्कतियमणुस्साण चेव त्तारेसु वा पासवणेसु वा खलेसु वा वतेसु वा पित्तेसु वा सुक्केसु वा सोणिएसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा विगयजीवकलेवरेसु वा थीपुरिससजोगेसु वा नगरनिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइठाणसु इच्छण समुच्छिद्रममणुस्सा समुच्छति अगु लस्स असस्समागमित्ताए ओगाहणाए असन्नी मिच्छदिट्ठी अज्जाणी सव्वाहि पज्जत्तीहि अपज्जत्ता अतमुहुत्ताय्या चेव काल करति त्ति ।”

आदि ग्यारह गुणस्थान हैं । मिथ्यात्व त्रिक ( मिथ्यादृष्टि, साक्षादन और मिथ्रदृष्टि- ) में, देशविरतिमें तथा सूक्ष्मसम्परायचरित्रमें स्व स्व स्थान ( अपना अपना एक ही गुणस्थान ) है । योग, आहारक और शुक्रलेश्यामार्गशास्त्रोंमें पहले तेरह गुणस्थान हैं ॥ २५ ॥

भागार्थ—उपशमसम्पत्त्यमें आठ गुणस्थान माने हैं । इनमेंसे चौथा आदि चार गुणस्थान, प्रथि भेद जय प्रथम सम्पत्त्य पाते समय और आठवाँ आदि चार गुणस्थान, उपशमश्रेणि करते समय होते हैं ।

वेदकसम्पत्त्य तत्त्वा होता है, जब कि सम्पत्त्यमोहनीयका उदय हो । सम्पत्त्यमोहनीयका उदय, श्रेणिका आरम्भ न होने तक ( सातवें गुणस्थान तक ) रहता है । इसी कारण वेदकसम्पत्त्यमें चौथेसे लेकर चार ही गुणस्थान सम्भन्ने चाहिये ।

चौथे और पाँचवें आदि गुणस्थानमें क्षायाकसम्पत्त्य प्राप्त होता है, जो सदाकेलिय रहता है इसीसे उसमें चौथा आदि ग्यारह गुणस्थान कहे गये हैं ।

पहला ही गुणस्थान मिथ्यात्वरूप, दूसरा ही साक्षादन भावद्वय, तीसरा ही मिथ्र दृष्टिरूप पाँचवाँ ही देशविरतिरूप और षष्ठवाँ ही सूक्ष्मसम्परायचरित्ररूप है । इसीसे मिथ्यात्व त्रिक, देशविरति और सूक्ष्मसम्परायमें एक एक गुणस्थान कहा गया है ।

तीन प्रकारका योग, आहारक और शुक्रलेश्या, इन छह मार्गशास्त्रों में तेरह गुणस्थान होते हैं, क्योंकि चौदहवें गुणस्थानके समय न तो किसी प्रकारका योग रहता है, न किसी तरहका आहार ग्रहण किया जाता है और न लेश्याका ही सम्भव है ।

योगमें तेरह गुणस्थानोंका कथन मनोयोग आदि सामान्य योगों

तेजोलेश्या, पर्याप्त तथा अपर्याप्त, दोनों प्रकारके सक्षियोंमें पायी जाती है तथा वह बादर एकेन्द्रियमें भी अपर्याप्त अवस्थामें होती है, इसीसे उस लेश्यामें उपर्युक्त तीन जीवस्थान माने हुए हैं । बादर एकेन्द्रियको अपर्याप्त अवस्थामें तेजोलेश्या मानी जाती है, सो इस अपेक्षासे कि भवनपति, व्यन्तर' आदि देव, जिनमें तेजोलेश्याका सम्मग्न है वे जब तेजोलेश्यासहित मरकर पृथिवी, पानी या अन्तस्वर्गमें जन्म ग्रहण' करते हैं, तब उनको अपर्याप्त (करण अपर्याप्त) अवस्थामें कुछ काल तक तेजोलेश्या रहती है ।

पहले चार जीवस्थानके सिवाय अन्य किसी जीवस्थानमें एकेन्द्रिय तथा स्थावरकायिक जीव नहीं हैं । इसीसे एकेन्द्रिय और पाँच स्थावर-काय, इन छह मार्गणाओंमें पहले चार जीवस्थान माने गये हैं ।

इसका सार श्रवणमें इस प्रकार है — 'प्रश्न करनेपर भगवान् महावीर गणेश और गौतमने कहने हैं कि पैगामोस लाख योनि प्रमाण मनुष्य क्षेत्रके भीतर कई द्वीप समुद्रमें पन्द्रह कर्मभूमि तीस अरुणभूमि और द्वापन अन्तर्द्वीपोंमें गर्भज-मनुष्योंके मन्त्र मूत्र रुक् आदि सभी अशुचि-पदार्थोंमें सन्निवृत्त पैदा होते हैं जिसका देह परिमाण अगुलके अमर्यादतर्बे भागमें बराबर है सो अमर्याद मित्यात्मी तथा अज्ञानी होते हैं और जो अपर्याप्त हो हैं तथा अन्तर्महत्त-मात्रमें मर जाते हैं ।

१—“किण्हा नीला काऊ, तेऊलेसा य भवणउतरिया ।

जोइमसोहम्मीसा,—ण तेऊलेसा मुणेउन्वा ॥१९३॥”

—वृहत्समग्रहणी ।

अर्थात् भवनपति और व्यन्तरमें कृष्ण आदि चार लेखाएँ होती हैं, किन्तु ज्योतिष और सौधर्म ईशान देवलोकमें तेजोलेश्या ही होती है ।

२—“पुढवी आववणस्सइ, गन्मे पच्चत्त सखजीवेसु ।

सग्गवुयाण वासो, सेसा पडिसेहिया ठाणा ॥”

—विरोपावरयक भाष्य ।

अर्थात् 'पृथ्वी, जल अन्तस्वर्ग और मर्यादत-वर्ष आयुवाने गर्भज पर्याप्त, इन स्थानोंहीमें स्वर्ग-व्युत्त देव पैदा होते हैं, अन्य स्थानोंमें नहीं ।'



की अपेक्षासे किया गया है । सत्यमनोयोग आदि विशेष योगोंकी अपेक्षासे गुणस्थान इस प्रकार है —

(क) सत्यमन, असत्यामृषामन, सत्यवचन असत्यामृषावचन और आदारिक, इन पाँच योगोंमें तेरह गुणस्थान हैं ।

(ख) असत्यमन, मिथ्यमन, असत्यवचन, और मिथ्यवचन, इन चारमें पहले चारह गुणस्थान हैं ।

(ग) आदारिकमिश्र तथा कर्मणश्चाययोगमें पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवाँ, ये चार गुणस्थान हैं ।

(घ) वैक्रियकाययोगमें पहले सात और वैक्रियमिथकाययोगमें पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा, ये पाँच गुणस्थान हैं ।

(च) आहारककाययोगमें छठा और सातवाँ, ये दो और आहारकमिथकाययोगमें केवल छठा गुणस्थान है ॥ २० ॥

अस्सन्निसु पढमदुग, पढमातिळेसासु छष दुसु सत्त ।

पढमतिमदुगअजया, अण्हारे मग्गणासु गुणा ॥२३॥

अशक्षिपु प्रथमद्विक, प्रथमतिळेस्यासु पट् च द्वयोस्सत्त ।

प्रथमतिमद्विकायतायनाहारे मार्गणासु गुणा ॥ २३ ॥

अर्थ—असक्षिओंमें पहले दो गुणस्थान पाये जाते हैं । कृष्ण, नील और कापोत, इन तीन लेश्याओंमें पहले छह गुणस्थान और तेज और पद्म, इन दो लेश्याओंमें पहले सात गुणस्थान हैं । अनाहारकमार्गणमें पहले दो, अन्तिम दो और अविरतसम्यग्दृष्टि, ये पाँच गुणस्थान हैं । इस प्रकार मार्गणाओंमें गुणस्थानका प्रवर्णन हुआ ॥ २३ ॥

भाषार्थ—असक्षीमें दो गुणस्थान कहे हुए हैं । पहला गुणस्थान सब प्रकारके असक्षियोंको होता है और दूसरा कुछ असक्षिओंको । ऐसे असक्षी, कारण अगर्भात्त पकेन्द्रिय आदि ही हैं क्योंकि

एकेन्द्रियमें भाषापर्याप्ति नहीं होती। भाषापर्याप्तिके सिवाय वचनयोगका होना समबनहीं। द्वीन्द्रिय आदि जीवोंमें भाषापर्याप्ति का सम्भव है। ये जब सम्पूर्ण स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण कर लेते हैं, तभी उनमें भाषापर्याप्तिके हो जानेसे वचनयोग हो सकता है। इसी से वचनयोगमें पर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि उपर्युक्त पाँच जीवस्थान माने हुए हैं।

आँखवालोंको ही चक्षुर्दर्शन हो सकता है। चतुरिन्द्रिय, अक्षि पञ्चन्द्रिय और नक्षि पञ्चन्द्रिय, इन तीन प्रकारके ही जीवोंको आँख होती है। इसीसे इनके सिवाय अन्य प्रकारके जीवोंमें चक्षुर्दर्शनका अभाव है। उक्त तीन प्रकारके जीवोंके विषयमें भी दो मत हैं।

१—इन्द्रियपर्याप्तिकी नीचे लिखी दो व्याख्यायें इन मतोंकी एक हैं —

(१) इन्द्रियपर्याप्ति जीवकी वह शक्ति है जिससेद्वारा धातुस्वरूपमें परिणत आत्मा पुद्गलमें योग्य पुद्गल इन्द्रियरूपमें परिणत किये जाता है।

यह व्याख्या प्रज्ञापना वृत्ति तथा वचनमयह वृत्ति ५० ३ में है। इस व्याख्याके अनुसार इन्द्रियरूप निरा मतलब इन्द्रियजनक शक्तिसे है। इस व्याख्याका माननेवाले पहले मतका आशय यह है कि स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण बन चुकनेके बाद (एवाप्त अवस्थामें) सबको इन्द्रिय जन्य उपयोग होता है अपवाप्त अवस्थामें नहीं। इसलिये इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन चुकनेके बाद नेत्र होनेपर भी अपवाप्त अवस्थामें चतुरिन्द्रिय आदिको चक्षुर्दर्शन नहीं माना जाता।

(२)—इन्द्रियपर्याप्ति जीवकी वह शक्ति है जिससेद्वारा योग्य आत्मा पुद्गलोंको इन्द्रियरूपमें परिणत करके इन्द्रिय जन्य बोधका सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है।

यह व्याख्या उद्देश्यमन्त्रा १ १३८ तथा मयवर्तनीवृत्ति ५ ३३ में है। इसके अनुसार इन्द्रियपर्याप्तिरा मतलब इन्द्रिय-रचनामें लेकर इन्द्रिय जन्य उपयोग तककी सब क्रियाओंकी कानिवाणी शक्तिसे है। इस व्याख्याको माननेवाले दूसरे मतका अनुसार इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन जानेसे अपवाद अवस्थामें भी सबको इन्द्रिय जन्य उपयोग होता है। इसलिये इन्द्रियपर्याप्ति इन जनेके बाद नेत्र जन्य उपयोग होनेके कारण अपवाप्त अवस्थामें भी चतुरिन्द्रिय आदिको चक्षुर्दर्शन मानना चाहिये। इस मतकी पुष्टि वचनमयह मन्त्रवर्तिवृत्तिसे ६ एष्टपर वृत्तिखित इस मन्त्रव्यसे होती है —

लघ्वि भ्रमर्यात एकेन्द्रिय आदिमें कोई जीव सास्वादन भावसहित आकार जन्म ग्रहण नहीं करता ।

कृष्ण, नील और कापोत, इन तीन लेश्याओंमें छह गुणस्थान माने जाते हैं। इनमेंसे पहले चार गुणस्थान ऐसे हैं कि जिनकी प्राप्तिके समय और प्राप्तिके बाद भी उक्त तीन लेश्याएँ होती हैं। परन्तु पाँचवाँ और छठा ये दो गुणस्थान ऐसे नहीं हैं। ये दो गुणस्थान सम्यक्त्व मूलक धितिरूप हैं, इसलिये इनकी प्राप्ति तेज आदि शुभ लेश्याओंके समय होती है, कृष्ण आदि अशुभ लेश्याओंके समय नहीं। तो भा प्राप्ति हो जानेके बाद परिणाम शुद्धि कुछ घट जानेपर इन दो गुणस्थानोंमें अशुभ लेश्याएँ भी आ जाती हैं।

कहीं कहीं कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याओंमें पहले चार ही गुणस्थान कहे गये हैं, सो प्राप्ति कालकी अपेक्षासे अर्थात् उक्त तीन लेश्याओंके समय पहले चार गुणस्थानोंके सिवाय अन्य कोई गुण स्थान प्राप्त नहीं किया जा सकता।

तेजोलेश्या और पद्मलेश्यामें पहले सात गुणस्थान माने हुए हैं, सो प्रतिपद्यमान और पूष्यप्रतिपद्य, दोनोंकी अपेक्षासे अर्थात् सात गुणस्थानोंको पानेके समय और पानेके बाद भी उक्त दो लेश्याएँ रहती हैं।

१—मेरी बात भीमद्वारा सुन्यामीने कही है —

“सम्मत्तसुय सव्वा, सु लहइ सुद्धासु वोसु च चारत्त ।

पुव्वपट्ठिवज्जओ पुण, अन्नयरीए च लेसाए ॥८२२॥”

—भावश्यक निवृत्ति १०-२३८

अर्थात् सम्यक्त्वकी प्राप्ति मग्न लेश्याओंमें होती है चारित्रिकी प्राप्ति पिछली तीन शुद्ध लेश्याओंमें ही होती है। परन्तु चारित्रिक प्राप्त होनेके बाद लहयेसे कोई लेश्या आ सकती है।

२—इसकेलिये देखिये पञ्चमग्रह द्वार १ गा० ३० तथा बन्धस्थामित्य गा २४ और जीवशास्त्र गा० १३१ ।

पहले मतके अनुसार उनमें स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण बन जानेके बाद ही चक्षुर्दर्शन माना जाता है । दूसरे मतके अनुसार स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण होनेके पहले भी—अपर्याप्त अवस्थामें भी—चक्षुर्दर्शन माना जाता है, किन्तु इसकेलिये इन्द्रियपर्याप्तिका पूर्ण बन जाना आवश्यक है, क्योंकि इन्द्रियपर्याप्ति न बन जाय तब तक आँखके पूर्ण न बननेसे चक्षुर्दर्शन हो ही नहीं सकता । इस दूसरे मतके अनुसार चक्षुर्दर्शनमें छह जीवस्थान माने हुए हैं और पहले मतके अनुसार तीन जीवस्थान ॥ १७ ॥

धीनरपणिंदि चरमा, चउ अणहारेदु मनि छ अपज्जा ।  
ते सुट्टमअपज्ज विणा, नाम्मणिउत्तो गुणे वुच्छं ॥१८॥

जीनरपन्वेन्द्रिये चरमाणि, चत्वार्यनाहारके दो साज्जनौ पहचानता ।

ते सूक्ष्मपर्याप्त विना, सासादन इतो गुणान् वक्ष्ये ॥ १८ ॥

अर्थ—छोवेद, पुरुषवेद और पञ्चेन्द्रियजातिमें अन्तिम चार (अपर्याप्त तथा पर्याप्त असन्नि पञ्चेन्द्रिय, अपर्याप्त तथा पर्याप्त सन्नि पञ्चेन्द्रिय) जीवस्थान हैं । अनाहारकमार्गणमें अपर्याप्त पर्याप्त दो सन्नि और सूक्ष्म एकेन्द्रिय, वादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असन्नि पञ्चेन्द्रिय, ये छह अपर्याप्त, कुल आठ जीवस्थान हैं । सासादनमम्यक्त्वमें उक्त आठमेंसे सूक्ष्म अपर्याप्तको छोड़कर शेष सात जीवस्थान हे ।

अब आगे गुणस्थान बहे जायेंगे ॥ १८ ॥

भाषार्थ—छोवेद आदि उपर्युक्त तीन मार्गणाओंमें अपर्याप्त

“करणापर्याप्तेषु चतुरिन्द्रियादिष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्या चक्षुर्दर्शन-  
मपि प्राप्यते ।”

इन्द्रियपर्याप्तिको उक्त दोन व्याख्यामता उल्लेख लोकप्र० म० ३ ओ० २०-२१ में है ।

अनाहारकर्मगणामें पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवाँ और चौदहवाँ, ये पाँच गुणस्थान कहे हुए हैं। इनमेंसे पहले तीन गुणस्थान विप्रहगति कालीन अनाहारक अवस्थाकी अपेक्षासे, तेरहवाँ गुणस्थान केवलिसमुद्रपातके तीसरे चौथे और पाँचवें समयमें होनेवाली अनाहारक अवस्थाकी अपेक्षासे। और चौदहवाँ गुणस्थान योग निरोध-जन्य अनाहारक अवस्थाकी अपेक्षासे समझना चाहिये।

कहीं कहीं यह लिखा हुआ मिलता है कि तीसरे, चारहवें और तेरहवें, इन तीन गुणस्थानोंमें मरण नहीं होता, शेष ग्यारह गुणस्थानोंमें इसका समझ है। इसलिये हम जगह यह शङ्का होती है कि जब उक्त शेष ग्यारह गुणस्थानोंमें मरणका समझ है, तब विप्रहगतिमें पहला, दूसरा और चौथा, ये तीन ही गुणस्थान क्यों माने जाते हैं ?

इसका समाधान यह है कि मरणके समय उक्त ग्यारह गुणस्थानोंके पाये जानेका कथन है, सो व्यापहारिक मरणको लेकर (धर्तमान भावका अन्तिम समय, जिसमें जीव मरणोन्मुख हो जाता है, उसको लेकर), निश्चय मरणको लेकर नहीं। परमवकी आयुका प्राथमिक उदय, निश्चय मरण है। उस समय जीव विरति रहित होता है। विरतिका सम्यन्त्र धर्तमान भावके अन्तिम समय तक ही है। इसलिये निश्चय मरण कालमें अर्थात् विप्रहगतिमें पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थानको छोड़कर विरतिवाले पाँचवें आदि आठ गुणस्थानोंका समझ ही नहीं है ॥ २३ ॥



## (३)-मार्गणाओंमें योग ।

[ छह गाथाओंमें । ]

सद्येपरमीमञ्जस, - घमोसमणवहविडव्वियाहारा ।

उरलं भीसा कम्मण, इय जोगा कम्ममणहारे ॥ २४ ॥

सत्यतरमिभासत्यमृशमनोवचोवेकुर्विंकाहारकाणि ।

औदारिक मिभाणि कामणमिति योगा कामणमनाहारे ॥ २४ ॥

अर्थ—सत्य, अमत्य, मिश्र ( सत्वासत्य ) और असत्यामृष, चार भेद मनोयोगके हैं । वचनयोग भी उक्त चार प्रकारका ही है वैमिय, आहारक और औदारिक, ये तीन शुद्ध तथा ये ही तीन मिश्र और फामण, इस तरह सात भेद काययोगके हैं । सब मिला कर पन्द्रह याग हुए ।

अनाहारक अवस्थामें कामणकाययोग ही होता है ॥ २४ ॥

## मनायोगके भदोंका स्वरूप.-

भाषा—( १ ) जिस मनोयोगद्वारा वस्तुका यथार्थ स्वरूप विचारा जाय जैसे—जीव द्रव्याधिकनयसे नित्य और पयाया धिकनयसे अनित्य है, इत्यादि, यह 'सत्यमनोयोग' है ।

( २ ) जिस मनोयोगसे वस्तुके स्वरूपका विपरीत चिन्तन हो, जैसे—जीव एक ही है या नित्य ही है, इत्यादि यह 'असत्यमनोयोग' है ।

( ३ ) किसी अशमें यथार्थ और किसी अशमें अपयार्थ, ऐसा मिश्रित चिन्तन, जिस मनोयोगकेद्वारा हो, यह 'मिश्रमनोयोग' है । जैसे—किसी व्यक्तिमें गुण-दोष दोनोंके होते हुए

बाद जब किसीको औपशमिकसम्यक्त्व प्राप्त होता है, तब वह उसे त्याग करता हुआ सासादनसम्यक्त्वमहित एकेन्द्रिय आदिमें जन्म ग्रहण करता है। उस समय अपर्याप्त अवस्थामें कुछ काल तक दूसरा गुणस्थान पाया जाता है। पहला गुणस्थान तो एकेन्द्रिय आदिकेलिये सामान्य है क्योंकि वे सब अनाभोग (अभान) के कारण तत्त्व-श्रद्धा-हीन होनेसे मिथ्यात्वी होते हैं। जो अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि, दूसरे गुणस्थानके अधिकारी कहे गये हैं, वे कारण अपर्याप्त हैं, लब्धि अपर्याप्त नहीं क्योंकि लब्धि अपर्याप्त तो सभी जीव, मिथ्यात्वी ही होते हैं।

तेज काय और धायुकाय, जो गतिव्रत या लब्धिव्रत कहे जाते हैं, उनमें न तो औपशमिकसम्यक्त्व प्राप्त होता है और न औपशमिकसम्यक्त्वको यमा करनेवाला जीव ही उनमें जन्म ग्रहण करता है, इसीसे उनमें पहला ही गुणस्थान कहा गया है।

अभग्योंमें सिर्फ प्रथम गुणस्थान, इस कारण माना जाता है कि वे न्यमायसे ही सम्यक्त्व-लाभ नहीं कर सकते और सम्यक्त्य प्राप्त किये बिना दूसरे आदि गुणस्थान असम्भव हैं ॥ १६ ॥

वेद्यतिकमाय नव दस, लोभे च उ अजय हु ति अनापत्तिगे ।  
पारस अचरुचक्रुसु, पदमा अहराष्ट चरम च उ ॥ २० ॥

वेदप्रक्रियाये नव दश, लोभे चत्वार्यवते द्वे नाप्यस्तानत्रिके ।

द्वादशचक्रुश्चक्रुः, प्रथमानि यथाग्राते चरमाणि चत्वार ॥ २० ॥

अर्थ—तीन वेद तथा तीन कपाय (सज्वलन-क्रोध, मान और माया) में पहले नौ गुणस्थान पाये जाते हैं। लोभमें (सज्वलन लोभ) में दस गुणस्थान होते हैं। अयन (अविरति) में चार गुणस्थान हैं। तीन अज्ञान (मति अज्ञान, धृत अज्ञान और विमहज्ञान) में दो या तीन गुणस्थान माने जाते हैं। अचलुर्दशन और चक्षु



दोषी समझना । इसमें एक अर्थ मिथ्या है, क्योंकि दोषकी तरह गुण भी दोषरूपसे खयाल किये जाते हैं ।

(४) जिस मनोयोगकेद्वारा की जानेवाली कल्पना विधि निषेध ग्रन्थ हो,—जो कल्पना, न तो किसी वस्तुका स्थापन ही करती हो और न उत्थापन, वह 'असत्यामृत्यामनोयोग' है । जैसे —हे देवदत्त ! हे इन्द्रदत्त ! इत्यादि । इस कल्पनाका अभिप्राय अन्य कार्यमें व्यग्र-व्यक्तिको सम्योहित करना मात्र है, किसी तत्त्वके स्थापन उत्थापनाका नहीं ।

उक्त चार भेद, व्यवहारनयकी अपेक्षासे हैं, क्योंकि निश्चय दृष्टिसे सबका समावेश सत्य और असत्य, इन दो भेदोंमें ही हो जाता है । अर्थात् जिस मनोयोगमें छल कपटकी बुद्धि नहीं है, चाहे मित्र हो या असत्यामृत्य, उसे 'सत्यमनोयोग' ही समझना चाहिये । इसके विपरीत जिस मनोयोगमें छल कपटका अर्थ है, वह 'असत्यमनोयोग' ही है ।

### वचनयोगके भेदोंका स्वरूपः—

(१) जिस 'वचनयोग' केद्वारा वस्तुका यथार्थ स्वरूप स्थापित किया जाय, जैसेः—यह कहना कि जीव सद्रूप भी है और असद्रूप भी, वह 'सत्यवचनयोग' है ।

(२) किसी वस्तुको अवधारणरूपसे सिद्ध करनेवाला वचन योग, असत्यवचनयोग है जैसे —यह कहना कि आत्मा कोई चीज नहीं है या पुण्य-पाप कुछ भी नहीं है ।

(३) अनेकरूप वस्तुको एकरूप ही प्रतिपादन करनेवाला वचनयोग 'मिश्रवचनयोग' है । जैसे —आम, नीम आदि अनेक प्रकारके वृक्षोंके धनको आमका ही धन कहना, इत्यादि ।

(४) जो 'वचनयोग' किसी वस्तुके स्थापन उत्थापनकेलिये-

दर्शनमें पहले चारह गुणस्थान होते हैं । यथाक्यातचारित्र्यमें अंतिम चार गुणस्थान हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—तीन घेद और तीन सञ्ज्वलन कपायमें नौ गुणस्थान कहे गये हैं, सो उदयकी अपेक्षासे समझना चाहिये, क्योंकि उनकी सत्ता ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त पाई जा सकती है । नववें गुणस्थानके अंतिम समय तकमें तीन घेद और तीन सञ्ज्वलनकपाय या तो क्षीण हो जाते हैं या उपशान्त, इस कारण आगेकी गुणस्थानोंमें उनका उदय नहीं रहता ।

सञ्ज्वलनलोभमें दस गुणस्थान उदयकी अपेक्षासे ही समझने चाहिये क्योंकि सत्ता तो उसकी ग्यारहवें गुणस्थान तक पाई जा सकती है ।

अत्रिरतिमें पहले चार गुणस्थान इसलिये कहे हुए हैं कि पाँचवेंसे लेकर आगेके सब गुणस्थान विरतिकर हैं ।

अथान त्रिरुमें गुणस्थानों की संख्याके विषयमें दो मत हैं । पहला इसमें दस गुणस्थान मानता है और दूसरा तीन गुणस्थान । ये दोनों मत कामप्रथिक हैं ।

( १ ) दो गुणस्थान माननेवाले आचार्यका अभिप्राय यह है कि तीसरे गुणस्थानक समय शुद्ध सम्यक्त्व न होनेके कारण पूर्ण अघाघ ज्ञान भले ही न हो पर उस गुणस्थानमें मिथ-दृष्टि होनेसे यथार्थ ज्ञानकी थोड़ी बहुत मात्रा रहती ही है । क्योंकि मिथ-

१—“ननेसे पहला मत ही गाम्यम्भार जीवकायजकी ६८, वी भाष्यमें उल्लिखित है ।

२—“मिथ्यात्वाधिकृत्य मिथदष्टेरज्ञानबाहुल्य सम्यक्त्वाधिकृत्य पुन सम्यग्ज्ञानबाहुल्यमिति ।”

अर्थात् मिथ्यात्व अधिक होनेपर मिथ-दृष्टिमें अज्ञानकी बहुल्य और सम्यक्त्व अधिक होनेपर ज्ञानकी बहुल्य होती है ।”

प्रवृत्त नहीं होता, वह 'असत्यामृषवचनयोग' है, जैसे — किसीका ध्यान अपनी ओर खींचनेकेलिये कहना कि हे भोजदत्त ! हे मित्रसेन ! इत्यादि पद सम्बोधनमात्र हैं स्थापन उत्पादन नहीं । वचनयोगके भी मनोयोगकी तरह, तत्त्व दृष्टिसे सत्य और असत्य, वे दो ही भेद समझने चाहिये ।

### काययोगके भेदोंका स्वरूप —

( १ ) सिर्फ वैक्रियशरीरकेद्वारा धीर्य शक्तिका जो व्यापार होता है, वह 'वैक्रियकाययोग' । यह योग, देवों तथा नारकोंको पर्याप्त अवस्थामें सदा ही होता है । और मनुष्यों तथा तिर्यञ्चोंको वैक्रियलब्धिके चलने वैक्रियशरीर धारण पर लेोपर ही होता है । 'वैक्रियशरीर' उस शरीरको कहते हैं, जो कभी एकरूप और कभी अनेकरूप होता है, तथा कभी छोटा, कभी बड़ा, कभी आकाशगामी कभी भूमि-गामी, कभी दृश्य और कभी अदृश्य होता है । ऐसा वैक्रिय शरीर देवों तथा नारकोंका जन्म समयसे ही प्राप्त होता है, इसलिये वह 'औपगनिक' कहलाता है । मनुष्यों तथा तिर्यञ्चोंका वैक्रियशरीर 'लब्धिप्रत्यय' कहलाता है, क्योंकि उन्हें ऐसा शरीर, लब्धिके निमित्तसे प्राप्त हाता है, जन्मसे नहीं ।

( २ ) वैक्रिय और कामण तथा वैक्रिय और औदारिक, इन दो दो शरीरोंकेद्वारा होनेवाला धीर्य शक्तिका व्यापार, 'वैक्रियमिभकाययोग' है । पहल प्रकारका वैक्रियमिभकाययोग, देवों तथा नारकोंको उत्पत्तिके दूसरे समयसे लेकर अपर्याप्त अवस्था तक रहता है । दूसरे प्रकारका वैक्रियमिभकाययोग, मनुष्यों और तिर्यञ्चोंमें तभी पाया जाता है, जब कि वे लब्धिके सहारेसे वैक्रियशरीरका आरम्भ और परित्याग करते हैं ।

( ३ ) सिर्फ आहारकशरीरकी सहायतासे होनेवाला धीर्य-शक्ति का व्यापार, 'आहारककाययोग' है ।

दृष्टिके समय मिथ्यात्वका उदय जब अधिक प्रमाणमें रहता है, तब तो अज्ञानका अंश अधिक और ज्ञानका अंश कम होता है । पर जब मिथ्यात्वका उदय मन्द और सम्यक्त्व पुद्गलका उदय तीव्र रहता है, तब ज्ञानकी मात्रा ज्यादा और अज्ञानकी मात्रा कम होती है । चाहे मिथ्य दृष्टिकी कैसी भी अवस्था हो, पर उसमें न्यून अधिक प्रमाणमें ज्ञानकी मात्राका सभ्य होनेके कारण उस समयके ज्ञानको अज्ञान न मानकर ज्ञानही मानना उचित है । इसलिये अज्ञान त्रिकमें दो ही गुणस्थान मानने चाहिये ।

( २ ) तीन गुणस्थान माननेवाले आचार्यका आशय यह है कि यद्यपि तीसरे गुणस्थानके समय अज्ञानको ज्ञान मिश्रित कहा है तथापि मिथ्य ज्ञानको ज्ञान मानना उचित नहीं, उसे अज्ञान ही कहना चाहिये । क्योंकि शुद्ध सम्यक्त्व हुए बिना चाहे कैसा भी ज्ञान हो, पर वह है अज्ञान । यदि सम्यक्त्वके अंशके कारण तीसरे गुणस्थानमें ज्ञानको अज्ञान न मान कर ज्ञान ही मान लिया जाय तो दूसरे गुणस्थानमें भी सम्यक्त्वका अंश होनेके कारण ज्ञानको अज्ञान न मान कर ज्ञान ही मानना पड़ेगा, जो कि इष्ट नहीं है । इष्ट न होनेका सव्य यही है कि अज्ञान त्रिकमें दो गुणस्थान माननेवाले भी, दूसरे गुणस्थानमें मति आदिको अज्ञान मानते हैं । सिद्धांतवादीके सिवाय किसी भी कर्मप्रथिक विद्वान्को दूसरे गुणस्थानमें मति आदिको ज्ञान मानना इष्ट नहीं है । इस कारण सास्तादनकी तरह मिथ्यगुणस्थानमें भी मति आदिको अज्ञान मानकर अज्ञान त्रिकमें, तीन गुणस्थान मानना युक्त है ।

अचक्षुर्दर्शन तथा चक्षुर्दर्शनमें बारह गुणस्थान इस अभिप्रायसे

१—“मिरसामि वा मिस्ता” इत्यादि ।

अर्थात् मिथ्यगुणस्थानमें अज्ञान, ज्ञान-मिश्रित है ।

( ४ ) 'आहारकमिश्रकाययोग' वीर्य शक्तिका यह व्यापार है, जो आहारक और औदारिक, इन दो शरीरोंकेद्वारा होता है । आहारक-शरीर धारण करनेके समय, आहारकशरीर और उसका आरम्भ-परित्याग करनेके समय, आहारकमिश्रकाययोग होता है । चतुर्दश पूर्यधर मुनि, सशय दूर करने, किसी सूक्ष्म विषयको जानने अथवा समृद्धि देखनेके निमित्त, दूसरे क्षेत्रमें तीर्थङ्करके पास जानेकेलिये विशिष्ट लब्धिकेद्वारा आहारकशरीर बनाते हैं ।

( ५ ) औदारिककाययोग, वीर्य शक्तिका वह व्यापार है, जो सिर्फ औदारिकशरीरसे होता है । यह योग, सब औदारिकशरीरी जीवोंको पर्याप्त-दशमें होता है । जिस शरीरको तीर्थङ्कर आदि महान् पुरुष धारण करते हैं, जिससे मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, जिसके बननेमें भिंडीके समान थोड़े पुद्गलोंकी आवश्यकता होती है और जो मांस हड्डी और नस आदि अवयवोंने बना होता है, वही शरीर, 'औदारिक' कहलाता है ।

( ६ ) वीर्य शक्तिका जो व्यापार, औदारिक और कर्मण इन दोनों शरीरोंकी सहायतासे होता है, वह 'औदारिकमिश्रकाययोग' है । यह योग, उत्पत्तिके दूसरे समयसे लेकर अपर्याप्त अगत्या पर्यन्त सब औदारिकशरीरी जीवोंको होता है ।

( ७ ) सिर्फ कर्मणशरीरकी मददसे वीर्य शक्तिका जो प्रवृत्ति होती है, वह 'कर्मणकाययोग' है । यह योग, विप्रवृत्तिमें तथा उत्पत्तिके प्रथम समयमें सब जीवोंको होता है । और केवलिसमुद्रा तक तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें केवलीको होता है । 'कर्मणशरीर' यह है, जो कर्म पुद्गलोंसे बना होता है और आत्माके प्रदेशोंमें इस तरह मिला रहता है, जिस तरह दूधमें पानी । सब शरीरोंकी जड़, कर्मणशरीर ही है अर्थात् जब इस शरीरका समूल नाश होता है, तभी ससारका उच्छेद हो जाता है । जीव, नये जन्मको

माने जाते हैं कि उक्त दोनों दर्शन क्षायोपशमिक हैं, इससे क्षायिक दर्शनके समय अथात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें उनका अभाव हो जाता है, क्योंकि क्षायिक और क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शनका साहचर्य नहीं रहता ।

यथाव्याप्तचारित्र्यमें अन्तिम चार गुणस्थान माने जानेका अभिप्राय यह है कि यथाव्याप्तचारित्र्य, मोहनीयकर्मका उदय रुक जाने पर प्राप्त होता है और मोहनीयकर्मका उदयमात्र ग्यारहवें से चौदहवें तक चार गुणस्थानोंमें रहता है ॥ २० ॥

मण्णाणि सग जयाइ, समइयवेय चउ दुस्सि परिहारे ।  
केवलदुग्धि दो चरमा, जयाइ नव महसुआहिदुगे ॥ २१ ॥

मनोशाने सप्त यथादीनि, सामायिकच्छेद चत्वारि द्वे परिहारे ।

केवलद्विके द्वे चरमेऽयथादीनि नव मतिभुतावधिद्विके ॥ २१ ॥

अर्थ—मन पर्यायज्ञानमें प्रमत्तसयत आदि सात गुणस्थान, सामायिक तथा छेदोपस्थापनीय-सयममें प्रमत्तसयत आदि चार गुणस्थान परिहारविशुद्धसयममें प्रमत्तसयत आदि दो गुणस्थान, केवल द्विकमें अन्तिम दो गुणस्थान, मतिज्ञान, धृतज्ञान और अवधिद्विक, इन चार मार्गशास्त्रोंमें अविरतसम्यग्दृष्टि आदि नौ गुणस्थान हैं ॥ २१ ॥

भाषा—मन पर्यायज्ञानवाले, छूटे आदि सात गुणस्थानोंमें यत्नमान पाये जाते हैं । इस ज्ञानकी प्राप्तिके समय सातवाँ और प्राप्तिके बाद अथ गुणस्थान होत हैं ।

सामायिक और छेदोपस्थापनीय, ये दो सयम, छूटे आदि चार गुणस्थानोंमें माने जाते हैं, क्योंकि वीतराग भाव होनेके कारण ऊपरके गुणस्थानोंमें इन सयमोंका सम्भव नहीं है ।

पुद्गल ही साधा होते हैं, इसलिये उस समय, कामणकाययोग माननेकी जरूरत नहीं है। ऐसी शङ्का करना व्यर्थ है। क्योंकि प्रथम समयमें, आहाररूपसे ग्रहण किये हुए पुद्गल उसी समय शरीर रूपमें परिणत होकर दूसरे समयमें आहार लेनेमें साधन बन सकते हैं, पर अपने ग्रहणमें आप साधन नहीं बन सकते ॥ २५ ॥

तिरिह्तिअजयमामण, -अनणउवसमअमव्वाभिच्छंसु ।  
तेराहारहुगूण, ते उरलहुगूण सुरनरए ॥ २६ ॥

तियक् पयतसासादनाहानोपशमामयमव्यात्वेषु ।

अपोदशाहारकद्विकोनास्त भोदारिकद्विकोना सुरेनके ॥ २६ ॥

अर्थ—तियञ्जगति, स्त्रीवेद, अधिरति, सास्यादन, तीन अज्ञान, उपशमसम्यक्त्व, अभव्य और मिथ्यात्व, इन दस मार्गशास्त्रोंमें आहारक द्विकके सिवाय तेरह योग होते हैं। वेद्यगति और नरक गतिमें उक्त तेरहमेंसे औदारिक द्विकके सिवाय शेष ग्यारह योग होते हैं ॥ २६ ॥

भाषा—तियञ्जगति आदि उपर्युक्त दस मार्गशास्त्रोंमें आहारक द्विकके सिवाय शेष सय योग होते हैं। इनमेंसे स्त्रीवेद और उपशमसम्यक्त्वको छोड़कर शेष आठ मार्गशास्त्रोंमें आहारकयोग न होनेका कारण सचविरतिका अभाव ही है। स्त्रीवेदमें सचविरतिका समग्र होनेपर भी आहारकयोग न होनेका कारण स्त्रीजातिको दृष्टिगर्द—जिसमें चौदह पूर्व है—पढ़नेका निषेध है। उपशमसम्यक्त्वमें सचविरतिका समग्र है तथापि उसमें आहारकयोग न माननेका कारण यह है कि उपशमसम्यक्त्वो आहारकलब्धिका प्रयोग नहीं करते ।

तिर्यञ्चगतिमें तेरह योग कहे गये हैं। इनमेंसे चार मनोयोग, चार वचनयोग और एक औदारिककाययोग, इस तरहसे ये नौ योग पर्याप्त अवस्थामें होते हैं। वैक्रियकाययोग और वैक्रियमिश्रकाययोग पर्याप्त अवस्थामें होते हैं सही पर सय तिर्यञ्चोंको नहीं, किन्तु वैक्रिय-हृत्त्रिके बलसे वैक्रियशरीर बनानेवाले कुछ तिर्यञ्चोंको ही। कर्मण और औदारिकमिश्र, ये दो योग, तिर्यञ्चोंको अपर्याप्त अवस्थामें ही होते हैं।

छांवेदमें तेरह योगोंका सम्भव इस प्रकार है—मनके चार, वचनके चार, दो वैक्रिय और एक औदारिक, ये ग्यारह योग मनुष्य तिर्यञ्च स्त्रीको पर्याप्त अवस्थामें, वैक्रियमिश्रकाययोग देव स्त्रीको अपर्याप्त अवस्थामें, औदारिकमिश्रकाययोग मनुष्य तिर्यञ्च स्त्रीको अपर्याप्त अवस्थामें और कर्मणकाययोग पर्याप्त मनुष्य स्त्रीको केवलसमुद्भात अवस्थामें होता है।

अविरति, सम्यग्दृष्टि, सास्वादन, तीन अज्ञान, अभव्य और मिथ्यात्व, इन सात मार्गणाओंमें चार मनके, चार वचनके, औदारिक और वैक्रिय, ये दस योग पर्याप्त अवस्थामें होते हैं। कर्मण काययोग त्रिग्रहगतिमें तथा उत्पत्तिके प्रथम क्षणमें होता है। औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, ये दो योग अपर्याप्त अवस्थामें होते हैं।

१—स्त्रीवेदका मतलब इस जगह द्रव्यवेदमें है। क्योंकि उसीमें आहारकयोगका अभाव घट सकता है। भावस्त्रीवेदमें तो आहारकयोगका सम्भव है अर्थात् जो द्रव्यमें पुरुष होकर भावस्त्रीवेदका अनुभव करता है वह भी आहारकयोगवाला होता है। इसी तरह भागे उप योगाधिकारमें जहाँ वेदमें बारह उपयोग कहे हैं, वहाँ भी वेदका मतलब द्रव्यवेदमें ही है। क्योंकि दायिक उपयोग भाववेदरहितको ही होने हैं, इसलिये भाववेदमें बारह उपयोग नहीं घट सकते। इससे उलगा गुणस्थान अधिकारमें वेदका मतलब भाववेदसे ही है, क्योंकि वेदमें नौ गुणस्थान कहे हुए हैं सो भाववेदमें ही घट सकते हैं द्रव्यवेद तो चौदहवें गुणस्थान पचन्त रहता है।



केवल द्विक्, ये तीन उपयोग भी नहीं होते, शेष छह होते हैं । अहमें अवधि द्विक्का परिगणन "सलिये किया गया है कि धायकोंको अवधि उपयोगका वर्णन, शास्त्रमें मिलता है ।

मिश्र-दृष्टिमें छह उपयोग वही होते हैं, जो देशविरतिमें, पर विशेषता इतनी है कि मिश्र-दृष्टिमें तीन ज्ञान, मिश्रित होते हैं, शुद्ध नहीं अर्थात् मतिज्ञान, मति अज्ञान मिश्रित, धृतज्ञान, धृत अज्ञान मिश्रित और अग्रधिज्ञान, निमग्नज्ञान मिश्रित होता है । मिश्रितता इसलिये मानी जाती है कि मिश्र-दृष्टिगुणस्थानके समय अर्द्ध विशुद्ध दर्शनमोहनीय पुत्रका उदय होनेके कारण परिणाम कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध अर्थात् मिश्र होते हैं । शुद्धि की अपेक्षासे मति आदिको ज्ञान और अशुद्धि की अपेक्षासे अज्ञान कहा जाता है ।

गुणस्थानमें अग्रधिदर्शनका सम्यग्ध विचारनेवाले कर्मग्रन्थिक पक्ष दो हैं । पहला चौथे आदि नौ गुणस्थानोंमें अग्रधिदर्शन मानता है, जो २१वीं गा०में निर्दिष्ट है । दूसरा पक्ष, तीसरे गुणस्थानमें भी अग्रधिदर्शन मानता है, जो ४०वीं गा०में निर्दिष्ट है । इस जगह दूसरे पक्षको लेकर ही मिश्र दृष्टिके उपयोगमें अवधिदर्शन गिना है ॥ १ ॥

मणानाचक्रवृज्जा, अणहारि तिन्नि दसण चउ नाणा ।

चउनाणसजमोवस, -मवेयगे ओहिदमे ष ॥ ३४ ॥

मनागानचक्रवृज्जा अनाहारे त्रीणि दर्शनानि चत्वारि शास्त्रानि ।

चतुर्ज्ञानसयमोपशमवेदकेऽवधिदर्शने च ॥ ३४ ॥

अर्थ—अनाहारकमार्गस्थानमें मन पर्यायज्ञान और चतुर्दर्शनको छोड़कर, शेष दस उपयोग होते हैं । चार ज्ञान, चार समय, उप

१—ब्रह्म —श्रीगुरु धनपतिमिहजीद्वारा मुद्रित उपनिषद् १०००

२—गोमन्सारमें यही बात मानी हुई है । देखिये जीवकायिकी १०००

उपशमसम्यक्त्वमें चार मनके, चार ध्यानके, औदारिक और वैक्रिय, ये दस योग पर्याप्त अवस्थामें पाये जाते हैं । कर्मग्रन्थ और वैक्रियमिथ, ये दो योग अपर्याप्त अवस्थामें देवोंकी अपेक्षासे समझने चाहिये, क्योंकि जिनका यह मत है कि उपशमधेयिसे गिरने वाले जीव मरकर अनुत्तरविमानमें उपशमसम्यक्त्वसहित जन्म लेते हैं, उनके मतसे अपर्याप्त देवोंमें उपशमसम्यक्त्वके समय उक्त दोनों योग पाये जाते हैं । उपशमसम्यक्त्वमें औदारिकमिथयोग गिना है, सो सैद्धान्तिक मतके अनुसार, कर्मग्रन्थिक मतके अनुसार नहीं क्योंकि कर्मग्रन्थिक मतसे पर्याप्त अवस्थामें केवलीके सिवाय अन्य किसीको यह योग नहीं होता । अपर्याप्त अवस्थामें मनुष्य तथा तिर्यञ्चको होता है सहो, पर उन्हें उक्त अवस्थामें किसी तरहका उपशमसम्यक्त्व नहीं होता । सैद्धान्तिक मतमें उपशमसम्यक्त्वमें औदारिकमिथयोग घट सकता है, क्योंकि सैद्धान्तिक पिद्धान्त वैक्रियशरीरकी रचनाके समय वैक्रियमिथयोग न मानकर औदारिकमिथयोग मानते हैं, इसलिये वह योग, ग्रन्थ भेद-अन्य उपशमसम्यक्त्ववाले वैक्रियलब्धि सपक्ष मनुष्यमें वैक्रियशरीरकी रचनाके समय पाया जा सकता है ।

देवगति और नरकगतिमें धिरति न होनेसे दो आहारकयोगोंका सम्भव नहीं है तथा औदारिकशरीर न होनेसे दो औदारिकयोगोंका सम्भव नहीं है । इसलिये इन चार योगोंके सिवाय शेष ग्यारह योग उक्त दो गतियोंमें कह गये हैं, सो यथासम्भव विचार लेना चाहिये ॥ २६ ॥

१—यह मत स्वयं मनकारने ही आगेकी ४२वीं गाथामें बतलाने में आया है—

“विउज्जगाहारगे उरलमिस्स”

१७वीं गाथामें मनोयोगमें सिर्फ पर्याप्त सबी जीवस्थान माना है, सो वर्तमान मनोयोगवालोंको मनोयोगी मानकर । इस गाथामें मनोयोगमें अपर्याप्त पर्याप्त सक्षि पञ्चेन्द्रिय दो जीवस्थान माने हैं, सो वर्तमान भावी उभय मनोयोगवालोंको मनोयोगी मानकर । मनो योगसम्यग्धी गुणस्थान, याग और उपयोगके सम्यग्धमें क्रमसे २२, २८, ३१ वीं गाथाका जो मन्त्र है, इस जगह भी उही है, तथापि फिरसे उल्लेख करनेका मतलब सिर्फ मतान्तरको दिखाना है । मनो-यागमें जीवस्थान और योग विचारनेमें विषया भिन्न भिन्न की गयी है । जैसे — भावी मनोयोगवाले अपर्याप्त सक्षि पञ्चेन्द्रियको भी मनो योगी मानकर उसे मनोयोगमें गिना है । पर योगके विषयमें ऐसा नहीं किया है । जो योग मनोयोगके समकालीन हैं, उन्हींको मनो-योगमें गिना है । इसीसे उसमें कर्मण और औदारिकमिश्र, ये दो योग नहां गिने हैं ।

वचनयोगमें आठ जीवस्थान कहे गये हैं । वे ये हैं — श्रोत्रिय, श्रौत्रिय, चतुरिन्द्रिय और असक्षि पञ्चेन्द्रिय, ये चार पर्याप्त तथा अपर्याप्त । इस जगह वचनयोग, मनोयोगरहित लिया गया है, सो इन आठ जीवस्थानोंमें ही पाया जाता है । १७ वीं गाथामें सामान्य वचन-योग लिया गया है । इसलिये उस गाथामें वचनयोगमें सक्षि पञ्चेन्द्रिय जीवस्थान भी गिना गया है । इसके सिवाय यह भी भिन्नता है कि उस गाथामें वर्तमान वचनयोगवाले ही वचनयोगके स्वामी नियुक्त हैं, पर इस गाथामें वर्तमानकी तरह भावी वचनयोग-वाले भी वचनयोगके स्वामी माने गये हैं, इसी कारण वचनयोगमें वहाँ पाँच और यहाँ आठ जीवस्थान गिने गये हैं ।

वचनयोगमें पहला, दूसरा दो गुणस्थान, औदारिक, औदारिक-मिश्र, कर्मण और असत्यामृषावचन, ये चार योग, तथा मति अज्ञान, भुत अज्ञान, चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन, ये चार उपयोग हैं, ५

कम्पुलदुग यावरि, ते सविज्जिदुग पच इगि पवणे ।  
छ असनि चरमवहुजुय, ते विज्जदुगूण चउ विगले ॥२७॥

कर्मणौदारिकद्विक स्थावरे, ते सवैकियाद्विका पञ्चैरुमिन् पवने ।

पडसिग्गिनि चरमवचोयुतास्ते वैकियद्विकोनाचत्वारो विगले ॥२७॥

अर्थ—स्थावरकायमें, कर्मण तथा औदारिक द्विक, ये तीन योग होते हैं । एकेन्द्रियजाति ओर वायुकायमें उक्त तीन तथा वैकिय द्विक, ये कुल पाँच योग होते हैं । असर्गमें उक्त पाँच और चरमवचनयोग (असत्यामृपावचन) कुल छह योग होते हैं । विकलेन्द्रियमें उक्त छह-मेंसे वैकिय द्विकको घटाकर शेष चार (कर्मण, औदारिकमिश्र, औदारिक और असत्यामृपावचन) योग होते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ—स्थावरकायमें तीन योग कहे गये हैं, सो वायुकायके सिवाय अन्य चार प्रकारके स्थावरोंमें समझना चाहिये । क्योंकि वायुकायमें और भी दो योगोंका समव है । तीन योगोंमेंसे कर्मणकाय-योग, विप्रवृत्तिमें तथा उत्पत्ति समयमें, आदारिकमिश्रकाययोग, उत्पत्ति समयको छोड़कर शेष अपर्याप्त कालमें ओर औदारिक-काययोग, पर्याप्त अवस्थामें समझना चाहिये ।

एकेन्द्रियजातिमें, वायुकायके जीव भी आ जाते हैं । इसलिये उसमें तीन योगोंके अतिरिक्त, दो वैकिययोग मानकर पाँच योग कहे हैं ।

वायुकायमें अन्य स्थानोंकी तरह कर्मण आदि तीन योग पाये जाते हैं, पर इनके सिवाय और भी दो योग (वैकिय और वैकियमिश्र) होते हैं । इसीसे उसमें पाँच योग माने गये हैं । वायुकायमें पर्याप्त बादर

२२, २८ और ३१वीं गाथामें अनुक्रमसे वचनयोगमें तेरह गुण स्थान, तेरह योग और बारह उपयोग माने गये हैं । इस भिन्नता का कारण वही है । अर्थात् उहाँ वचनयोग सामान्यमात्र लिया गया है, पर इस गाथामें विशेष—मनोयोगरहित । पूर्वमें वचनयोगमें सम कालीन योग विवक्षित है, इसलिये उसमें कर्मण ओदारिकमिश्र, ये दो अपर्याप्त अवस्था भाषी योग नहीं गिने गये हैं । परन्तु इस जगह असम-कालीन भी योग विवक्षित है । अर्थात् कर्मण और ओदारिकमिश्र, अपर्याप्त अवस्था भाषी होनेके कारण, पर्याप्त अवस्था भाषी वचनयोगके असम कालीन हैं तथापि उक्त दो योगघालोंको भविष्यत्में वचनयोग होता है । इस कारण उसमें ये दो योग गिने गये हैं ।

काययोगमें सूक्ष्म और वादर, ये दो पर्याप्त तथा अपर्याप्त, कुल चार जीवस्थान, पहला और दूसरा दो गुणस्थान, ओदारिक, ओदारिकमिश्र, धैर्यिय, धैर्यियमिश्र और कर्मण, ये पाँच योग तथा मति अज्ञान, ध्रुत अज्ञान और अचक्षुर्दर्शन, ये तीन उपयोग समझने चाहिये । १३, २२, २५ और ३१वीं गाथामें चौदह जीवस्थान, तेरह गुण स्थान, पन्द्रह योग और बारह उपयोग, काययोगमें घतलाये गये हैं । इस मत भेदका तात्पर्य भी ऊपरके कथनानुसार है । अर्थात् वहाँ सामान्य काययोगको लेकर जीवस्थान आदिका विचार किया गया है, पर इस जगह विशेष । अर्थात् मनोयोग और वचनयोग, समयरहित काययोग, जो एकेन्द्रियमात्रमें पाया जाता है, उसे लेकर ॥ १५ ॥

जीव, वैक्रियलब्धि-सपन्न होते हैं, ये ही वैक्रिय द्विकके अधिकारी हैं, सब नहीं । वैक्रियशरीर बनाते समय, वैक्रियमिश्रकाययोग और बना चुकनेके बाद उसे धारण करते समय वैक्रियकाययोग होता है ।

असलीमें छह योग कहे गये हैं । इनमेंसे पाँच योग तो वायुकाय की अपेक्षासे, क्योंकि सभी एकेन्द्रिय असली ही हैं । छठा असत्या मृपापचनयोग, द्वीन्द्रिय आदिकी अपेक्षासे, क्योंकि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और समूर्च्छिमपञ्चेन्द्रिय, ये सभी असली हैं । 'द्वीन्द्रिय आदि असली जीव, भापालब्धि-युक्त होते हैं, इसलिये उनमें असत्यामृपापचनयोग होता है ।

त्रिकलेन्द्रियमें चार योग कहे गये हैं क्योंकि ये वैक्रियलब्धि सपन्न न होनेके कारण वैक्रियशरीर नहीं बना सकते । इसलिये उनमें असलीसम्बन्धी छह योगोंमेंसे वैक्रिय द्विक नहीं होता ॥ २७ ॥

कम्मुरलमीसविणु मण, बडममहपछेयचक्रवुमण्णनाणे ।  
उरलदुगकम्मपढम, -तिममणवह केवलदुगामि ॥ २८ ॥

कमादःरिकमिभ ।वना मनोवचरशामायिकच्छदचधुर्मनोशने ।

ओभारकद्विककमप्रथमातिममनावच केवलद्विके ॥ २८ ॥

अर्थ—मनोयोग, ध्यानयोग, सामायिकचारित्र, छेदोपस्थापनीयचारित्र, चक्षुर्दर्शन और मन पर्यायज्ञान, इन छह मार्गशास्त्रोंमें

“तिण्ह ताव रासीण, वेसन्विअल्लखी चेव नत्थि ।

वाहरपञ्चसाण पि, सखअह भागस्स सि ॥”

—अमममह-द्वार १ की टीकामें प्रमाणरूपमें उद्धृत ।

अर्थ—अपवीत तथा पर्याप्त सूक्ष्म और अपवीत बादर इन तीन प्रकारके वायुकायिकोंमें तो वैक्रियलब्धि है ही नहीं । पर्याप्त वातर वायुकायमें है परन्तु वह सबमें नहीं सिद्ध । उसके संस्कारतम भागमें ही है ।

१७वीं गाथामें मनोयोगमें सिर्फ पर्याप्त सत्त्व जीवस्थान माना सो वर्तमान मनोयोगवालोंको मनोयोगी मानकर । इस गाथा में मनोयोगमें अपर्याप्त पर्याप्त सत्त्व पञ्चेन्द्रिय दो जीवस्थान माने हैं, वर्तमान भावी उभय मनोयोगवालोंको मनोयोगी मानकर । ॥ योगसम्यग् की गुणस्थान, योग और उपयोगके सम्बन्धमें प्र. २२, २८, ३१ वीं गाथाका जो मन्तव्य है, इस जगह भी वही है; तथा फिरेसे उल्लेख करनेका मतलब सिर्फ मतान्तरको दिखाना है । म योगमें जीवस्थान और योग विचारनेमें त्रिवक्त्रा भिन्न भिन्न की ग है । जैसे — भारी मनोयोगवाले अपर्याप्त सत्त्व पञ्चेन्द्रियको भी म योगी मानकर उसे मनोयोगमें गिना है । पर योगके त्रिपदमें ये नहीं दिया है । जो योग मनोयोगके समकालीन हैं, उन्हींको म योगमें गिना है । इसीसे उसमें कार्मेण और औदारिकमिश्र, ये योग नहीं गिने हैं ।

वचनयोगमें आठ जीवस्थान कहे गये हैं । वे ये हैं — श्रोत्रि, श्रोत्रिय, चतुरिन्द्रिय और असत्त्व पञ्चेन्द्रिय, ये चार पर्याप्त त अपर्याप्त । इस जगह वचनयोग, मनोयोगरहित लिया गया है, सो आठ जीवस्थानोंमें ही पाया जाता है । १७ वीं गाथामें सामान्य वच योग लिया गया है । इसलिये उस गाथामें वचनयोगमें सत्त्व पञ्चेन्द्रिय जीवस्थान भी गिना गया है । इसके सिवाय यह भी भिन्न है कि उस गाथामें वर्तमान वचनयोगवाले ही वचनयोगके त्रिविध हैं; पर इस गाथामें वर्तमानकी तरह भावी वचनयोगवाले भी वचनयोगके स्वामी माने गये हैं; इसी कारण वचनयोगमें वहाँ पाँच और यहाँ आठ जीवस्थान गिने गये हैं ।

वचनयोगमें पहला, दूसरा दो गुणस्थान, औदारिक, औदारिक मिश्र, कार्मेण और असत्यामृषावचन, ये चार योग, तथा मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान,

कर्मण तथा औदारिकमिश्रको छोड़कर तेरह योग होते हैं । केवल द्विकमें औदारिक द्विक, कर्मण, प्रथम तथा अन्तिम मनोयोग ( सत्य तथा असत्यामृपामनोयोग ) और प्रथम तथा अन्तिम वचनयोग ( सत्य तथा असत्यामृपावचनयोग ), ये सात योग होते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ—मनोयोग आदि उपर्युक्त छह मार्गणार्थ पर्याप्त अवस्थामें ही पायी जाती हैं । इसलिये इनमें कर्मण तथा औदारिक-मिश्र, ये अपर्याप्त अवस्था भावी दो योग, नहीं होते । केवलीको केवलिसमुदातमें ये योग होते हैं । इसलिये बद्यपि पर्याप्त अवस्थामें भी इनका समय है तथापि यह जानना चाहिये कि केवलिसमुदातमें जब कि ये योग होते हैं, मनोयोग आदि उपर्युक्त छहमेंसे कोई भी मार्गणा नहीं होती । इसीसे इन छह मार्गणाओंमें उक्त दो योगके सिवाय, शेष तेरह योग कहे गये हैं ।

केवल द्विकमें औदारिक द्विक आदि सात योग कहे गये हैं, सो इस प्रकार —मयोगीकेवलीको औदारिककाययोग सदा ही रहता है, सिर्फ केवलिसमुदातके मध्यवर्ती छह समयोंमें नहीं होता । औदारिकमिश्रकाययोग, केवलिसमुदातके दूसरे, छठे और सातवें समयमें तथा कर्मणकाययोग तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें होता है । दो वचनयोग, देशना देनेके समय होते हैं और दो मनोयोग किसीके प्रश्नका मनसे उत्तर देनेके समय । मनसे उत्तर देनेका मतलब यह है कि जब कोई अनुत्तरविमानवासी देव या मन पर्यायशाली अपने स्थानमें रहकर मासे ही केवलीको प्रश्न करते हैं, तब उनके प्रश्नको केवलज्ञासे जानकर केवली भगवान् उसका उत्तर मनसे ही देते हैं । अर्थात् मनोद्रव्यको ग्रहणकर उसकी ऐसी रचना करते हैं कि

१—अध्या, परिशिष्ट 'ब' ।

२—गोमन्थार श्रीवाराहकी २२८वीं गाथामें भी केवलीकोद्रव्यमनका सम्बन्ध माना है ।





सो इसलिये कि 'अम्बुह' आदि थावकद्वारा चैक्रियलन्घिसे चैक्रिय शरीर बनाये जानेकी बात शास्त्रमें प्रसिद्ध है ।

यथाख्यातचारित्रवाला अप्रमत्त ही होता है, इसलिये उस चारित्रमें दो चैक्रिय और दो आहारक, ये प्रमाद-सहचारी चार योग नहीं होते, शेष ग्यारह होते हैं । ग्यारहमें कर्मण और औदारिकमिथ, ये दो योग गिने गये हैं, सो केवलिसमुद्घातकी अपेक्षासे । केवलिसमुद्घातके दूसरे, छठे और सातवें समयमें औदारिकमिथ और तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें कर्मणयोग होता है ॥२६॥



१—देखिये औपपादिक ५ २६ ।

२—देखिये परिशिष्ट ६ ।

## (५)-मार्गणाओंमें लेश्या ।

छसु लेसासु सटाण, एगिदिथसनिभूदगवणेसु ।

पढमा चउरो तिन्नि उ, नारयविगलगिपवणेसु ॥३६॥

पद्म लेश्यासु स्वस्थानयेकोन्द्रवाभाहमूदकवनसु ।

प्रथमाश्चतसारेणवसु, गरकविकलाग्निपवनेसु ॥ ३६ ॥

अर्थ—इह लेश्यामार्गणाओंमें अपना अपना स्थान है । एकेन्द्रिय, प्रमत्ति पञ्चेन्द्रिय, पृथ्वीकाय, जलकाय और धनस्पतिकाय, इन पाँच मार्गणाओंमें पहली चार लेश्यार्थ हैं । गरकगति, विकलेन्द्रिय त्रिक, प्रमत्तिकाय और धातुकाय, इन छह मार्गणाओंमें पहली ता लेश्यार्थ हैं ॥ ३६ ॥

भाषा—छह लेश्याओंमें अपना अपना स्थान है, इसका मतलब यह है कि एक समयमें एक जीवमें एक ही लेश्या होती है, दो नहीं । क्योंकि इहाँ लेश्याएँ समान फलकी अपेक्षासे आपसमें विरुद्ध हैं, कृष्णलेश्यावाले जीवोंने कृष्णलेश्या ही होती है । इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये ।

एकन्द्रिय आदि उपयुक्त पाँच मार्गणाओंमें कृष्णने तेज पर्यन्त चार लेश्याएँ मानी आती हैं । इनमेंसे पहली तीन तो भवप्रलय होकरे कारण सदा ही पायी जा सकती हैं, पर तेजोलेश्याके सम्बन्ध धर्म यह बान गदा, यह सिर्फ अर्यास अरुस्थामें पायी जाती है । इसका कारण यह है कि जब कोई तेजोलेश्यावाला जीव मरकर पृथ्वीकाय, अवकाय या वायुतिकायमें जनमता है, तब उसे कुछ काल तक पूर्व जन्मकी मरण कालीन तेजोलेश्या रहती है ।

नरकगति आदि उपयुक्त छह मार्गणाओंके जीवोंमें ऐसे अरुम परिणाम होते हैं, जिससे कि वे कृष्ण आदि अन्य लेश्याओंके अधिकारी नहीं ॥ ३६ ॥

## (४)-मार्गणाओंमें उपयोग ।

[ छह गाथाओंसे । ]

ति अनाण नाण पण चउ, दसण धार जियलक्खणुवयोगा ।  
 विणु मणनाणदुकेवल, नच सुरतिरिनिरयप्रजएसु ॥ ३० ॥

श्रीपञ्चानानि ज्ञानानि पञ्च चत्वारि दर्शनानि द्वादश आवलक्षणमुपयोगा, । -  
 विना मनोज्ञानाद्वेकवल, नच सुरतियद्विनिरयायेतु ॥ ३० ॥

अर्थ—तीन अज्ञान, पाँच ज्ञान और चार दर्शन ये चारह उप-  
 योग हैं, जो जीवके लक्षण हैं । इनमेंसे मन पर्यायज्ञान और  
 केवल द्विक, इन तीनके भिन्नाय शेष नौ उपयोग देवगति, तिर्यञ्च  
 गति, नरकगति और अविरतमें पाये जाते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ—किसी वस्तुका लक्षण, उसका असाधारण धर्म है,  
 क्योंकि लक्षणका उद्देश्य, लक्ष्यको अन्य वस्तुओंसे भिन्न करना है,  
 जो असाधारण धर्ममें ही घट सकता है । उपयोग, जीवके असाधा-  
 रण ( धास ) धर्म हैं और अजीवसे उसकी भिन्नता के लिये  
 इसी कारण ये जीवके लक्षण कहे जाते हैं ।

मन पर्याय और केवल द्विक, ये तीन उपयोग सर्वविशेष  
 हैं, परन्तु देवगति, तिर्यञ्चगति, नरकगति और अविरत, ये चार  
 मार्गणाओंमें सर्वविरतिका समावेश नहीं है, इस कारण ये चार  
 उपयोगोंको छोड़कर शेष नौ उपयोग माने जाते हैं ।

अविरतिबालोंमेंसे शुद्ध सम्यक्त्वोंको तीन  
 छह उपयोग और शेष सबको तीन अज्ञान और  
 उपयोग समझने चाहिये ॥ ३० ॥

पाँचवें वर्गके साथ छठे वर्गको गुणनेसे जो उन्तीस अङ्क होते हैं, वे ही यहाँ लेने चाहिये। जैसे —२को २के साथ गुणनेसे ४ होते हैं, यह पहला वर्ग। ४के साथ ४को गुणनेसे १६ होते हैं, यह दूसरा वर्ग। १६को १६से गुणनेपर २५६ होते हैं, यह तीसरा वर्ग। २५६को २५६से गुणनेपर ६५५३६ होते हैं, यह चौथा वर्ग। ६५५३६को ६५५३६से गुणनेपर ४२६४६६७२६६ होते हैं, यह पाँचवाँ वर्ग। इसी पाँचवें वर्गकी सहायका उसी सहायके साथ गुणनेसे १८४४६७४४०७३७०६५५१६१६ होते हैं, यह छठा वर्ग। इस छठे वर्गकी सहायका उपर्युक्त पाँचवें वर्गकी सहायसे गुणनेपर ७६२२८१६९५१४२६४३३७५६३५४३६१०३३६ होते हैं, ये उन्तीस अङ्क हुए। अथवा १का दूना २, २का दूना ४, इस तरह पूर्व पूर्व सहायको, उत्तरोत्तर छद्मानर्थात् धार दूना करनेसे, वे ही उन्तीस अङ्क होते हैं।

(क) उत्कृष्ट —जब समूर्च्छिम मनुष्य पैदा होते हैं, तब वे एक साथ अधिकसे अधिक असत्प्राप्त कर लेते हैं, उसी समय मनुष्योंकी उत्कृष्ट सदाया पायी जाती है। असत्प्राप्त सत्प्राप्तके असत्प्राप्त भेद हैं, इनमेंसे जो असत्प्राप्त सत्प्राप्त मनुष्योंकेलिये है, उसका परिचय शास्त्रमें काल और क्षेत्रों, दो प्रकारसे दिया गया है।

१—समान गे मर्यादित गुणनफलको उन सत्प्राप्तों का कहते हैं। जैसा —५ का वग २५।

२—ये ही उत्तम अङ्क गमज-मनुष्यकी मत्प्राप्तकेलिये प्रत्येक संकेतद्वारा गोमन्मार्ग जीवकाण्डकी १५७वीं गाथामें बतलाये हैं।

३—देखिये परिशिष्ट 'ध'।

४—नालम क्षेत्र अत्यंत सूक्ष्म माना गया है, क्योंकि अङ्क प्रमाण सूक्ष्म-अणुके प्रदेशों की मत्प्राप्त अमत्प्राप्त अवसर्पिकाई समर्पिकाई बराबर मानी हुई है।

तसजोयवेयसुका,-हारनरपणिदसनिमवि सव्ये ।

नयणेयरपणलेसा,-कसाइ दस केवलदुगणा ॥ ३१ ॥

प्रसयोगवेदशुद्धाहारकनरपञ्चेन्द्रियसंश्लेष्य सव्ये ।

नयनेतरपञ्चलेस्याकपाये दस केवलद्विकोना ॥ ३१ H

अर्थ—प्रसकाय, तीन योग, तीन वेद, शुक्ललेद्या, आहारक, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति, सभी ओर मव्य, इन तेरह मार्गणाओंमें सब उपयोग होते हैं । चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, शुक्लके सिवाय शेष पाँच लेश्याएँ और चार कपाय, इन ग्यारह मार्गणाओंमें केवल द्विक को जोड़कर शेष दस उपयोग पाये जाते हैं ॥ ३१ ॥

भाषा—प्रसकाय आदि उपर्युक्त तेरह मार्गणाओंमेंसे योग, शुक्ललेद्या और आहारकत्व, ये तीन मार्गणाएँ तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त और शेष दस, चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त पायी जाती हैं, इसलिये इन सबमें बारह उपयोग माने जाते हैं । चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त वेद पाये जानेका मतनय, द्रव्यवेदसे है, क्योंकि भागवेद तो नौवें गुणस्थान तक ही रहता है ।

चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन, ये दो बारहवें गुणस्थान पर्यन्त, कृष्ण आदि तान लेश्याएँ छठे गुणस्थान पर्यन्त, तेज पद्म, दो लेश्याएँ सातवें गुणस्थान पर्यन्त और कपायोदय अधिकसे अधिक दसवें गुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है, इस कारण चक्षुर्दर्शन आदि उक्त ग्यारह मार्गणाओंमें केवल द्विकके सिवाय शेष दस उपयोग होते हैं ॥ ३१ ॥

चउरिदिअसनि दुअना, एदसण इगियित्तिधावरि अचक्खु  
तिथनाण दसणहुग, अनाणत्तिगअमवि मिच्छदुगे ॥ ३२ ॥

इनको छोड़कर, शेष इकतालीस मार्गणाश्रमोंमें वृद्धों लेश्याएँ पायी जाती हैं। शेष मार्गणाएँ ये हैं —

१ देवगति, १ मनुष्यगति, १ तिर्यञ्चगति, १ पञ्चेन्द्रियनाति, १ असकाय, ३ योग, ३ वेद, ४ कषाय, ३ ज्ञान (मति आदि), १ अज्ञान, ३ चारित्र (सामायिक, छेदोपस्थापनीय और परिहार विशुद्ध), १ देशधिरति, १ अविरति, ३ दर्शन, १ अभयत्व, १ अभयत्व, ३ सम्यक्त्व (सायिक, सायोपशमिक और औपशमिक), १ साक्षात्त, १ सम्यग्मिथ्यात्व, १ मिथ्यात्व, १ सशित्व, १ आहारकत्व और १ अनाहारकत्व, कुल ४१।

[मनुष्यों, नारकों, देवों और तिर्यञ्चोंका परस्पर अल्प-बहुत्व, ऊपर कहा गया है, उसे ठीक ठीक समझनेकेलिये मनुष्य आदिकी सख्या शास्त्रोक्त शक्तिके अनुसार दिखायी जाती है] —

मनुष्य जगत्त उन्तीस अङ्ग प्रमाण और उत्कृष्ट, असंख्यात होते हैं।

(क) जगत्त — मनुष्योंके गर्भज और समूर्च्छिम, ये दो भेद हैं। इनमेंसे समूर्च्छिम मनुष्य किसी समय बिलकुल ही नहीं रहते, केवल गर्भज रहते हैं। इसका कारण यह है कि समूर्च्छिम मनुष्योंकी आयु, अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण होती है। जिस समय, समूर्च्छिम मनुष्योंकी उत्पत्तिमें एक अन्तर्मुहूर्त्तसे अधिक समयका अन्तर पड़ जाता है, उस समय, पहलेके उत्पन्न हुए सभी समूर्च्छिम मनुष्य मर चुकते हैं। इस प्रकार नये समूर्च्छिम मनुष्योंकी उत्पत्ति न होनेके समय तथा पहले उत्पन्न हुए सभी समूर्च्छिम मनुष्योंके मर चुकनेपर, गर्भज मनुष्य ही रह जाते हैं, जो कमसे कम नीचे लिखे उन्तीस अङ्गोंके पराधर होते हैं। इसलिये मनुष्योंकी कमसे कम यही सख्या हुई।

चतुरिन्द्रियासक्तिं दयमानदर्शनमेकद्वित्रयस्थावरेऽचक्षु ।

यज्ञान दर्शनाद्विक्रमज्ञानत्रिकामस्य मिथ्यात्वादिवे ॥ ३२ ॥

अर्थ—चतुरिन्द्रिय और असक्ति पञ्चेन्द्रियमें मति और धृत दो अज्ञान तथा चक्षु और अचक्षु दो दर्शन, कुल चार उपयोग होते हैं । एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और पाँच प्रकारके स्थावरमें उक्त चारमेंसे चक्षुर्दर्शनके सिवाय, शेष तीन उपयोग होते हैं । तीन अज्ञान, असम्य, और मिथ्यात्व द्विक ( मिथ्यात्व तथा आसादन ), इन द्वाद्व मार्गणाओंमें तीन अज्ञान और दो दर्शन, कुल पाँच उपयोग होते हैं ॥ ३० ॥

भार्य—चतुरिन्द्रिय और असक्ति पञ्चेन्द्रियमें विभक्तज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है तथा उनमें सम्यक्त्व न होनेके कारण, सम्यक्त्वके सहचारी पाँच ज्ञान और अग्रधि और केवल दो दर्शन, ये सात उपयोग नहीं होते, इस तरह कुल आठके सिवाय शेष चार उपयोग होते हैं ।

एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त आठ मार्गणाओंमें नेत्र १ होनेके कारण चक्षुर्दर्शन और सम्यक्त्व न होनेके कारण पाँच ज्ञान तथा अग्रधि और केवल, ये दो दर्शन और तथाविध योग्यता न होनेके कारण विभक्तज्ञान, इस तरह कुल नौ उपयोग नहीं होने, शेष तीन होने हैं ।

अज्ञान त्रिक आदि उपर्युक्त द्वाद्व मार्गणाओंमें सम्यक्त्व तथा विरति नहीं है, इसलिये उनमें पाँच ज्ञान और अग्रधि-केवल, ये दो दर्शन, इन सातके सिवाय शेष पाँच उपयोग होते हैं ।

सिद्धान्ती, विभक्तज्ञानीमें अवधिदर्शन मानते हैं और सास्त्रादन-गुणस्थानमें अज्ञान न मानकर ज्ञान ही मानते हैं, इसलिये इस जगह अज्ञान त्रिक आदि द्वाद्व मार्गणाओंमें अवधिदर्शन नहीं माना है और





सास्वादनमागणामें ज्ञान नहीं माना है, सो कर्मप्रथिक मतके अनुसार समझना चाहिये ॥ ३२ ॥

केवलदुगे निगदुग, नव तिथनाण विणु खइयअहखाये ।  
दसणनाणतिग दे,सि मीसि अन्नाणमीस त ॥ ३३ ॥

केवलद्विके निनाद्व, नव यज्ञान विना क्षाययथाप्याते ।

दशमज्ञानत्रिन् देश मिभेऽज्ञानमिभ तत् ॥ ३३ ॥

अर्थ—केवल द्विकमें निज द्विक (केवलज्ञान और केवलदर्शन) दो ही उपयोग हैं । क्षायिकसम्पत्त्व और यथाख्यातचारित्र्यमें तीन अज्ञानको छोड़, शेष नौ उपयोग होते हैं । देशविरतिमें तीन ज्ञान और तीन दर्शन, ये छह उपयोग होते हैं । मिथ-दृष्टिमें यही उपयोग अज्ञान मिश्रित होते हैं ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—केवल द्विकमें केवलज्ञान और केवलदर्शन दो ही उपयोग माने जानेका कारण यह है कि मतिज्ञान आदि शेष दस क्षायस्थिक उपयोग, केवलीको नहीं होते ।

क्षायिकसम्पत्त्वके समय, मिथ्यात्वका अभाव ही होता है । यथाख्यातचारित्र्यके समय, ग्यारहवें गुणस्थानमें मिथ्यात्व भी है, पर सिफ सत्तागत, उदयमान नहीं, इस कारण इन दो मार्गणाओंमें मिथ्यात्वोदय सहभाषी तीन अज्ञान नहीं होते । शेष नौ उपयोग होते हैं । सो इस प्रकार—उक्त दो मार्गणाओंमें छद्मस्थ अवस्थामें पहले चार ज्ञान तथा तीन दर्शन, ये सात उपयोग और केवलि अवस्थामें केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो उपयोग ।

देशविरतिमें, मिथ्यात्वका उदय न होनेके कारण तीन अज्ञान नहीं होते और सध्विविरतिकी अपेक्षा रखनेवाले मन पर्यायज्ञान और



मनुष्य स्त्रियाँ मनुष्यजातिके पुरुषोंसे मतार्हसगुनी' और ईस अधिक होती हैं । देवियों देवोंमें वत्तीसगुनी' और वत्तीसक होती हैं । इसी कारण पुरुषोंसे स्त्रियाँ सत्यातगुण मानी हैं । एकेन्द्रियमे चतुरिन्द्रिय पर्यन्त सब जीव, असंश्लिष्टेन्द्रिय नाटक, ये सब नपुंसक ही हैं । इसीसे नपुंसक स्त्रियोंकी ता अनन्तगुण माने हुए हैं ॥ ३६ ॥

य, ज्ञान, सपम और दर्शनमार्गणाओंका अल्प-बहुत्व.—

[ तीन गाथाआवे । ]

श्री कोही माई, लोही अहिय मणनाणिनो थोवा ।

असखा मडसुय, अहियसम असख विन्मगा ॥४०॥

क्रोधिना मायनो, लोभिनोऽविका मनापानन स्ताका ।

योऽसखा मतिश्रुता, अधिकास्तमा अवहृत्वा विमग्ना ॥ ४० ॥

अर्थ—मानकपायवाले अन्य कपायवालोंसे थोड़े हैं । क्रोधी नियोंसे विशेषाधिक हैं । मायाजी क्रोधियोंसे विशेषाधिक हैं । भी मायाधियोंसे विशेषाधिक हैं ।

मन पर्यायज्ञानी अन्य सब ज्ञानियोंसे थोड़े हैं । अधिज्ञानी । पर्यायज्ञानियोंसे अन्तर्यगुण हैं । मतिज्ञानी तथा श्रुतज्ञानी तसमें तुल्य हैं । परन्तु अधिज्ञानियोंसे विशेषाधिक ही हैं । भ्रूक्षानी श्रुतज्ञानवालोंसे असद्व्यगुण हैं ॥ ४० ॥

भावार्थ—मानवाले क्रोध आदि अन्य कपायवालोंसे कम हैं, उका कारण यह है कि मानकी स्थिति क्रोध आदि अन्य कपायों । स्थितिकी अपेक्षा अल्प है । क्रोध मानकी अपेक्षा अधिक देर

अल्प-बहुत्व सख्यातगुण कह्य है । कापोतलेश्या, अनन्तवनस्पतिका-  
यिक जीवोंको होती है, इसी सत्रबसे कापोतलेश्यावाले तेजोलेश्या-  
वालोंसे अनन्तगुण कहे गये हैं । नीललेश्या, कापोतलेश्यावालोंसे  
अधिक जीवोंमें और कृष्णलेश्या, नीललेश्यावालोंसे भी अधिक  
जीवोंमें होती है, क्योंकि नीललेश्या कापोतकी अपेक्षा क्लिष्टतर अर्ध  
वसायरूप और कृष्णलेश्या नीललेश्यासे क्लिष्टतम अर्धवसायरूप है ।  
यह देखा जाता है कि क्लिष्ट, क्लिष्टतर और क्लिष्टतम परिणामवाले  
जीवोंकी सख्या उत्तरोत्तर अधिकाधिक ही होती है ।

अल्प जीव, अल्पजीवोंकी अपेक्षा अनन्तगुण हैं, क्योंकि अल्प  
जीव 'जघन्ययुक्त' नामक चौथी अनन्तसख्या प्रमाण है, पर अल्प  
जीव अनन्तानन्त हैं ।

औपशमिकसम्यक्त्वको त्याग कर जो जीव मिथ्यात्वकी ओर  
झुकते हैं, उन्हींको सासादनसम्यक्त्व होता है, दूसरोंको नहीं ।  
इसीसे अन्य सब दृष्टियाँसे सासादनसम्यग्दृष्टिवाले कम ही  
पाये जाते हैं । जितने जीवोंको औपशमिकसम्यक्त्व प्राप्त होता है, वे  
सभी उस सम्यक्त्वको धमन कर मिथ्यात्वके अमिमुख नहीं होते,  
किन्तु कुछ ही होते हैं, इसीसे औपशमिकसम्यक्त्वसे गिरनेवालोंकी  
अपेक्षा उसमें स्थिर रहनेवाले सख्यातगुण पाये जाते हैं ॥ ४३ ॥

मीसा सखा वेयग, असखगुण खडयमिच्छ दु अणता ।  
सनियर थोव णंसा, णहार थोवेयर असंखा ॥ ४४ ॥

मिभा सखा वेदका, असखगुणा अमिकमिष्ठा दावनत्तौ ।

सशतरे स्तोकावन्ता, अनाहारका स्तोका इत्थेऽसख्या ॥ ४४ ॥

अर्थ—मिथ्यदृष्टिवाले, औपशमिकसम्यग्दृष्टिवालोंसे सख्यात-  
गुण हैं । वेदक (तायोपशमिक) सम्यग्दृष्टिवाले —

योग और वेदमार्गणाका अल्प बहुत्व ।

मणवयणकाययोगा, थोवा असखगुण अणतगुणा ।

पुरिसा थोवा इत्थी, सखगुणाणतगुण कीवा ॥ ३६ ॥

मनावचनकाययोगा, स्तोका अमङ्गलगुणा अनतगुणा ।

पुरुषा स्तोका स्त्रिय, सङ्गलगुणा अनन्तगुणा कीवा ॥ ३७ ॥

अर्थ—मनोयोगवाले अथ योगवालोंसे थोड़े हैं । वचनयोगवाले उनसे असत्वातगुण और काययोगवाले वचनयोगवालोंसे अनन्तगुण हैं ।

पुरुष सबसे थोड़े हैं । स्त्रियाँ पुरुषोंसे सङ्ख्यातगुण और नपुंसक स्त्रियोंसे अनन्तगुण हैं ॥ ३६ ॥

भाषा—मनोयोगवाले अथ योगवालोंसे इसलिये थोड़े माने गये हैं कि मनोयोग सभी जीवोंमें ही पाया जाता है और सभी जीव अन्य सब जीवोंसे अल्प ही हैं । वचनयोगवाले मनोयोगवालोंसे असङ्ख्यगुण कहे गये हैं । इसका कारण यह है कि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंख्य पञ्चेन्द्रिय और सखि पञ्चेन्द्रिय, ये सभी वचन योगवाले हैं । काययोगवाले वचनयोगियोंसे अनन्तगुण इस अभिप्रायसे कहे गये हैं कि मनोयोगी तथा वचनयोगीके अतिरिक्त एकेंद्रिय भी काययोगवाले हैं ।

तियञ्च स्त्रियां तिर्यञ्च

होती

१—यह अथ बहु-व प्रमाणनाके १३४ सख्याका विचार किया है । देखिये जीव०

वेद विषयक अल्प-बहुत्वका विचार  
गा २७६—२८० ।

। यह योगोंको लेकर  
प्रकारमे है । देखिये

असख्यातगुण हैं । क्षायिकसम्यग्दृष्टिवाले जीव, वेदकसम्यग्दृष्टिवालोंसे अनन्तगुण हैं । मिथ्यादृष्टिवाले जीव, क्षायिकसम्यग्दृष्टिवाले जीवोंसे भी अनन्तगुण हैं ।

सही जीव, असही जीवोंकी अपेक्षा कम हैं और असही जीव, उनसे अनन्तगुण हैं । अनाहारक जीव, आहारक जीवोंकी अपेक्षा कम हैं और आहारक जीव, उनसे असख्यातगुण हैं ॥४४॥

भाषार्थ—मिथ्यदृष्टि पानेवाले जीव दो प्रकारके हैं । एक तो वे, जो पहले गुणस्थानको छोड़कर मिथ्यदृष्टि प्राप्त करते हैं और दूसरे वे, जो सम्यग्दृष्टिसे व्युत्त होकर मिथ्यदृष्टि प्राप्त करते हैं । इसीसे मिथ्यदृष्टिवाले औपशमिकसम्यग्दृष्टिवालोंसे सख्यातगुण हो जाते हैं । मिथ्यसम्यग्दृष्टिवालोंसे क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिवालोंके असख्यातगुण होनेका कारण यह है कि मिथ्यसम्यक्त्वकी अपेक्षा क्षायोपशमिकसम्यक्त्वकी स्थिति बहुत अधिक है, मिथ्यसम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहसत्ताकी ही होती है, पर क्षायोपशमिकसम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक क्षयासठ सागरोपमकी । क्षायिकसम्यक्त्वों, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वोंसे अनन्तगुण हैं, क्योंकि सिद्ध अनन्त हैं और वे सब क्षायिकसम्यक्त्व ही हैं । क्षायिकसम्यक्त्वोंसे भी मिथ्यात्वोंके अनन्तगुण होनेका कारण यह है कि सब धनस्पतिकायिक जीव मिथ्यात्मी ही हैं और वे सिद्धोंसे भी अनन्तगुण हैं ।

देव, नारक, गभज मनुष्य तथा गर्भज तिर्यञ्च ही सही हैं, शेष सब ससारी जीव असही हैं, जिन्हें अनन्त धनस्पतिकायिक जीवों का समावेश है इसीलिये असही जीव सशियोंकी अपेक्षा अनन्त गुण फट्टे जाते हैं ।

विग्रहगतिमें वर्तमान, केवलिसमुद्घातके तोंसर, चौथे और पाँचवें समयमें वर्तमान, चौदहवें गुणस्थानमें वर्तमान और





ये सब जीव अनाहारक हैं, शेष सब आहारक हैं । इसीसे अनाहारकोंकी अपेक्षा आहारक जीव असख्यातगुण कहे जाते हैं । वनस्पतिकायिक जीव सिद्धोंसे भी अनन्तगुण हैं और वे सभी ससारी होनेके कारण आहारक हैं । अत एव यह शङ्का होनी है कि आहारक जीव, अनाहारकोंकी अपेक्षा अनन्तगुण होने चाहिये, असंख्य गुण कैसे ?

इसका समाधान यह है कि एक एक निगोद गोलकमें अनन्त जीव होते हैं, इनका असख्यातजाँ भाग प्रतिसमय मरता और विग्रहगतिमें वर्तमान रहता है । ऊपर कहा गया है कि विग्रहगतिमें वर्तमान जीव अनाहारक हो होते हैं । ये अनाहारक इतने अधिक होते हैं, जिससे कुल आहारक जीव, कुल अनाहारकोंकी अपेक्षा अनन्तगुण कमी नहीं होने पाते, किन्तु असख्यातगुण ही रहते हैं ॥४४॥

## योग और वेदमार्गणाका अल्प बहुत्व ।

मणवयनकायजोगा, थोवा असखगुण अणतगुणा ।  
पुरिसा थोवा इत्थी, सखगुणाणतगुण कीवा ॥ ३६ ॥

मनावचाकाययोगा, स्तोका अनङ्खयगुणा अनन्तगुणा ।

पुरुषा स्तोका खिय, सङ्खयगुणा अनन्तगुणा कीवा ॥ ३९ ॥

अथ—मनोयोगवाले अथ योगवालोंसे थोड़े हैं । ध्वनयोगवाले उनसे असङ्ख्यातगुण और काययोगवाले ध्वनयोगवालोंसे अनन्तगुण हैं ।

पुरुष सबसे थोड़े हैं । स्त्रियों पुरुषोंसे सङ्ख्यातगुण और नपुंसक स्त्रियोंसे अनन्तगुण हैं ॥ ३६ ॥

भाषा—मनोयोगवाले अथ योगवालोंसे इसलिये थोड़े माने गये हैं कि मनोयोग सक्षी जीवोंमें ही पाया जाता है और सक्षी जीव अन्य सब जीवोंसे अल्प ही हैं । ध्वनयोगवाले मनोयोगवालोंसे असङ्ख्यगुण कहे गये हैं । इसका कारण यह है कि छौद्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, अक्षि पञ्चेन्द्रिय और सक्षि पञ्चेन्द्रिय, ये सभी ध्वनयोगवाले हैं । काययोगवाले ध्वनयोगियोंसे अनन्तगुण इस अभिप्रायसे कहे गये हैं कि मनोयोगी तथा ध्वनयोगीके अतिरिक्त एकेंद्रिय भी काययोगवाले हैं ।

तिपञ्च स्त्रियां तिर्यञ्च पुरुषोंसे तीन गुनी और तीन

१—यद अथ बहुच प्रकाशनात् १३४वें पृष्ठमें है ।

सत्याका विचार किया है । देखिये नीचे भा० २

वेद विषय अथ बहुत्वका विचार भी

भा० २०६—२०० ।

## द्वितीयाधिकारके परिशिष्ट ।



### परिशिष्ट "ज" ।

#### पृष्ठ ५२, पङ्क्ति २३के 'योगमार्गणा' शब्दपर—

तीन योगोंके बाह्य और आन्तर्य कारणोंका विचार उनकी व्याख्या राजवातिकमें बहुत ही स्पष्ट की गई है । उनका सारांश इस प्रकार है —

(क) बाह्य और आन्तर्य कारणों होनेवाला जो मननके अभिमुख आत्माका प्रदर्श परित्यक्त रह मनोयोग है । इसका बाह्य कारण मनोवर्गणाका आत्मभवन और आन्तर्य कारण बीजान्तरायकर्मका अथ चोपशम तथा नाशद्वारावरणकर्मका अथ चयापराम (मनो लम्बि) है ।

(ख) बाह्य और आन्तर्य कारण-अन्व आत्माका भाषाभिमुख प्रदर्श परित्यक्त बचन योग है । इसका बाह्य कारण पुद्गलविषयो शरीरनामकर्मक उद्देश्य होनेवाला बचनवर्गणाका आत्मभवन है और आन्तर्य कारण बीजान्तरायकर्मका अथ चोपशम तथा मतिज्ञानावरण और अपरभुजानावरण आदि कर्मका अथ चयापराम (बचनलम्बि) है ।

(ग) बाह्य और आन्तर्य कारण-अन्व समनादि-विषयक आत्माका प्रदर्श परित्यक्त 'काय योग' है । इसका बाह्य कारण किसी न किसी प्रकारकी शरीरवर्गणाका आत्मभवन है और आन्तर्य कारण बीजान्तरायकर्मका अथ चोपशम है ।

यद्यपि तेरहवें और चौदहवें इन दोनों गुणस्थानोंके समय बीजान्तरायकर्मका अथक आन्तर्य कारण समान ही है परन्तु वर्तमानस्थिति बाह्य कारण समान नहीं है । अर्थात् वह तेरहवें गुणस्थानके समय पाया जाता है पर चौदहवें गुणस्थानके समय नहीं पाया जाता । इसीसे तेरहवें गुणस्थानमें योग-विधि होती है चौदहवेंमें नहीं । अगस्त्यविरचिते देखिये, तत्त्वार्थ भाष्यप ६ सू १ राजवातिक १० ।

योग विषयके शङ्का-न्यायधन —

(क) यह शङ्का होती है कि मनोयोग और बचनयोग काययोग ही है क्योंकि इन दोनों योगोंके समय शरीरका व्यापार अवश्य रहना ही है और इन योगोंके अन्तर्भवभूत मनेन्द्रिय तथा भावद्रव्यका प्रत्यक्ष भी किसी-न किसी प्रकारक शारीरिक-योगमें ही होता है ।

हैं। मनुष्य स्त्रियाँ मनुष्यजातिके पुरुषोंसे सत्ताईसगुनी' और सत्ताईस अधिक होती हैं। देवियाँ देवोंमें बत्तीसगुनी और बत्तीस अधिक होती हैं। इसी कारण पुरुषोंसे स्त्रियाँ सत्प्रातगुण मानी हुई हैं। एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय पर्यन्त सब जीव, असंख्य पञ्चेन्द्रिय और नारक, ये सब नपुंसक ही हैं। इसीसे नपुंसक स्त्रियोंकी अपेक्षा अनन्तगुण माने हुए हैं ॥ ३६ ॥

कषाय, ज्ञान, समय और दर्शनमार्गणाओंका अल्प-बहुत्व,—

[ तीन गाथाओंसे । ]

माणी कोही माई, लोही अहिय मणनाणिनो थोवा ।

ओहि असत्ता मडसुय, अहियसम असख विडमगा ॥४०॥

माभिन क्रोधिना मायनो, लोभिनोऽधिका मनापानन स्ताका ।

अवधयोऽसत्ता मतिश्रुता, अधिकाम्बमा अठह्वया विमङ्गा ॥ ४० ॥

अर्थ—मानकषायवाले अन्य कषायवालोंसे थोड़े हैं। क्रोधी मानियोंसे विशेषाधिक हैं। मायावी क्रोधियोंसे विशेषाधिक हैं। लोभी मायाधियोंसे विशेषाधिक हैं।

मन पर्यायज्ञानी अन्य सब ज्ञानियोंसे थोड़े हैं। अवधिज्ञानी मन पर्यायज्ञानियोंसे असत्प्रातगुण हैं। मतिज्ञानी तथा श्रुतज्ञानी आपसमें तुल्य हैं। परन्तु अविधिज्ञानियोंसे विशेषाधिक ही हैं। विमङ्गज्ञानी श्रुतज्ञानवालोंसे अमद्वयगुण हैं ॥ ४० ॥

भावार्थ—मानवाले क्रोध आदि अन्य कषायवालोंसे कम हैं, कि मानकी स्थिति क्रोध आदि अन्य कषायों-  
अल्प है। क्रोध मानकी अपेक्षा अधिक देर

इसका समाधान नहीं है कि मनोयोग तथा वचनयोग, काययोगसे जुगुप्सु है किन्तु काययोग विशेष ही है । जो काययोग मनन करनेमें सहायक होता है वही उस समय 'मनो योग' और जो काययोग भाषाके बोलनेमें सहायक होता है वही उस समय वचनयोग माना गया है । सरासरी यह है कि व्यवहारकेलिये ही काययोगक तीन भेद किये हैं ।

(ख) यह भी शङ्का होती है कि उक्त रीतिसे श्वासोच्छ्वासमें सहायक होनेवाले काययोग का 'श्वासोच्छ्वासयोग' कहना चाहिये और तीनही उक्त शब्द योग मानने चाहिये ।

इसका समाधान यह दिया गया है कि व्यवहारमें, जैसा भाषाका और मनका विशिष्ट प्रधान दोष होता है, वैसा श्वासोच्छ्वासका महा । अर्थात् श्वासोच्छ्वास और शरीरका प्रवेदन वैसा निम्न नहीं है जैसा शरीर और मन-वचनका । इसीसे तीन ही योग माने गये हैं । इस विषयके विगण विचारकेलिये विगण वरदत्त नाथ्य भा० ३५६—३६४ तथा लक्ष्मणराहा-संग ३ भा० १३५४—१३५५ के बीचका गद्य दृष्टाव्य चाहिये ।

द्रव्यमन द्रव्यवचन और शरीरका स्वयं —

(क) जो पुद्गल मन बननेके योग्य है तिनकी शक्तिमें मनोवर्णा कहते हैं वे जब मनरूपमें परिवर्तन हो जाते हैं—विचार करनेमें सहायक हो सकें ऐसी स्थितिको प्राप्त कर लेते हैं—तब उन्हें मन कहते हैं । शरीरमें द्रव्यमनक रहनेका कार्य साम रसान तथा उमका नियत प्रकारात्मान्तरिक प्रत्यक्षमें नहीं है । श्वेताम्बर-सम्प्रदायक जगुमार द्रव्यमनको शरीर व्यापी और शरीरकर समझना चाहिये । श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें उत्पत्ति स्थान हृदय तथा प्रकार कमल कल्पना माना है ।

(ख) वचनरूपमें परिवर्तन एक प्रकारके पुद्गल जिन्हें वचनवर्णा कहते हैं वही वचन कहलाता है ।

(ग) जिसमें धनना फिरना खाना पीना आदि हो सकता है, जो सुख दुःख भोगनेका स्थान है और जो औद्योगिक, वैज्ञानिक आदि वस्तुओंसे बनता है वह शरीर कहलाता है ।

तक ठहरता है । इसीसे क्रोधजाले मानियोंसे अधिक हैं । मायाकी स्थिति क्रोधकी स्थितिसे अधिक है तथा वह क्रोधियोंकी अपेक्षा अधिक जीवोंमें पायी जाती है । इसीसे मायावियोंको क्रोधियोंकी अपेक्षा अधिक कहा है । मायावियोंसे लोभियोंको अधिक कहनेका कारण यह है कि लोभका उदय दसवें गुणस्थान पर्यन्त रहता है, पर मायाका उदय नववें गुणस्थान तक ही ।

जो जीव मनुष्य दहधारी, सयमवाले और अनेक लब्धि सम्पन्न हों, उनको ही मन पर्यायज्ञान होता है । इसीसे मन पर्यायज्ञानी अन्य सब ज्ञानियोंसे अल्प है । सम्यक्त्वी कुछ मनुष्य तिर्यञ्चोंको और सम्यक्त्री नव देव-नारकोंको अवधिज्ञान होता है । इसीकारण अवधिज्ञानी मन पर्यायज्ञानियोंसे असत्यगुण हैं । अवधिज्ञानियोंके अतिरिक्त सभी सम्यक्त्री मनुष्य तिर्यञ्च मति अत ज्ञानवाले हैं । अत एव मति श्रुत ज्ञानी अवधिज्ञानियोंसे कुछ अधिक है । मति-श्रुत दोनों, नियमसे सहचारी हैं, इसीसे मति श्रुत ज्ञानवाले आपसमें तुल्य हैं । मति श्रुत ज्ञानियोंसे विभक्तज्ञानियोंके असत्यगुण होने का कारण यह है कि मिथ्यादृष्टियां देव नारक, जो कि विभक्तज्ञानी ही हैं, वे सम्यक्त्वी जीवोंसे असत्यगुण हैं ॥ ४० ॥

केवलिणो णतगुणा, महसुयअज्ञाणि णतगुण तुल्ला ।

सुहमा थोवा परिहार सख अहखाय सखगुणा ॥ ४१ ॥

कवलिनोऽनन्तगुणा, मतिश्रुताऽज्ञानिनोऽनन्तगुणास्तुल्ला ।

सु मा स्तोका परिहार सखा यथाख्याता सखगुणा ॥ ४१ ॥

अर्थ—केवलज्ञानी विभक्तज्ञानियोंसे अनन्तगुण हैं । मति अज्ञानी और श्रुत अज्ञानी, ये दोनों आपसमें तुल्य हैं, परन्तु केवलज्ञानियोंसे अनन्तगुण हैं ।

## परिशिष्ट "क्ष" ।

## पृष्ठ ६५, पङ्क्ति ८के 'सम्यक्त्व' शब्दपर—

इसका स्वरूप विशेष प्रकारसे जाननेकेलिये निम्न-लिखित कुछ भागोंका विचार करना बहुत उपयोगी है—

(१) सम्यक्त्व सहेतुक है या निहेतुक ?

(२) आद्योपरामिक भाषि में क्या आधार क्या है ?

(३) औपरामिक और आद्योपरामिक सम्यक्त्वका आपसमें अन्तर तथा आधिक्यसम्बन्ध की विरापणा ।

(४) शास्त्रा समाधान विचारकोण्य और मदेरौदयका स्वरूप ।

(५) आद्योपराम और उपरामकी व्याख्या तथा युक्त्याभावर विचार ।

(१)—सम्यक्त्व परिणाम सहेतुक है या निहेतुक ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि हमको निहेतुक नहीं मान सकते क्योंकि जो वस्तु निहेतुक हो वह सब कालमें सब जगह प्रकटी होती चाहिये जबकि उसका अभाव होना चाहिये । सम्यक्त्व परिणाम न तो सबमें ममान है और न उसका अभाव है ; इसलिये हम सहेतुक मानना ही चाहिये । सहेतुक मान लेनेपर यह प्रश्न होता है कि उसका निमित्त हेतु क्या है । प्रवचन प्रवण, भगवत्पूजन आदि की-जा काय निमित्त माने जाते हैं व तो सम्यक्त्वक निमित्त कारण हो ही नहीं सकते क्योंकि इन काय निमित्तोंक होने हुए भी अमर्त्योंकी तरह अनेक अर्थात्को सम्यक्त्व प्राप्ति नहीं होती । परन्तु इसका उत्तर यना ही है कि सम्यक्त्व परिणाम प्रकट होनेमें नियत कारण जीवका तथाविध अमर्त्य-नामक अनादि परिणामिक-रवभाव विशेष ही है । जब इस परिणामिक अमर्त्यका परिणाम होता है सभी सम्यक्त्व-सम्पन्न होता है । अमर्त्य परिणाम साध्य रोगके समान है । कई साध्य रोग रक्तमय (शास्त्र उप यक विना ही) शास्य हो जाता है । किन्ती साध्य रोगके शास्य होनेमें यैबका व्यवहार भी दरवार है और कोई साध्य रोग येमा भी होता है जो बहुत दिनोंके बाद मिटता है । अमर्त्य-स्वभाव ऐसा ही है । अनेक जीवोंका अमर्त्य बाध निमित्तक विना ही परिणाम प्राप्त करता है । यम जो जीव है त्रिजके अमर्त्य-स्वभावका परिणाम होनेमें शास्त्र-अवयव आदि बाध निमित्तोंकी आवश्यकता पड़ती है । और अनेक जीवोंका अमर्त्य परिणाम दीय काल न्यतोल हो चुकनेपर रवय ही परिणाम प्राप्त करता है । शास्त्र मवण अहत्पूजन भाषि की बाध निमित्त है वे सहाकारीमय हैं । उनवद्वारा कभी कभी अमर्त्यका परिणाम होनेमें मदद मिलती है इसीसे व्यवहारमें वे सम्यक्त्वके कारण माने गये हैं और उनके आत्मभवनकी अवस्था रवकता दितायी जाती है । परन्तु निश्चय-दृष्टिमें तथाविध अमर्त्यके विनाशको

हारविशुद्धचारिप्रवाले सूक्ष्मसम्परायचारित्रियोंसे सख्यातगुण हैं ।  
यथाख्यातचारिप्रवाले परिहारविशुद्धचारित्रियोंसे सख्यातगुण हैं ।

भाषार्थ—सिद्ध अनन्त हैं और वे सभी केवलज्ञानी हैं, इसीसे केवलज्ञानी विभक्तज्ञानियोंसे अनन्तगुण हैं । वनस्पतिकायिक जीव सिद्धोंसे भी अनन्तगुण हैं और वे सभी मति अज्ञानी तथा श्रुत अज्ञानी ही हैं । अत एव मति अज्ञानी तथा श्रुत अज्ञानी, दोनोंका केवलज्ञानियोंसे अनन्तगुण होना सगत है । मति और श्रुत ज्ञानकी तरह मति और श्रुत अज्ञान, नियमसे सहचारी हैं, इसीसे मति अज्ञानी तथा श्रुत अज्ञानी आपसमें तुल्य हैं ।

सूक्ष्मसम्परायचारित्री उत्कृष्ट दो सोने नौ सौ तक, परिहार-विशुद्धचारित्री उत्कृष्ट दो हजारसे नौ हजार तक और यथाख्यात-चारित्री उत्कृष्ट दो करोडसे नौ करोड तक हैं । अत एव इन तीनों प्रकारके चारित्रियोंका उत्तरोत्तर भक्ष्यातगुण अल्प-बहुत्व माना गया है ॥ ४१ ॥

छेयसमर्प्य सखा, देस असखगुण एतगुण अजया ।

थोवअसखदुणता, थोहिनयणकेवलअचक्खू ॥४२॥

छेदसामायिका सरथा, देशा असखगुणा अनन्तगुणा अयता ।

स्तोकाऽसम्पद् यन ताभ्यवधिनयनकेवलाचक्षुषि ॥ ४२ ॥

अर्थ—छेदोपस्थापनीयचारिप्रवाले यथाख्यातचारित्रियोंसे सख्यातगुण हैं । सामायिकचारिप्रवाले छेदोपस्थापनीयचारित्रियोंसे सख्यातगुण हैं । देशविरतिवाले सामायिकचारित्रियोंसे अस-ख्यातगुण हैं । अविरतिवाले देशविरतोंसे अनन्तगुण हैं ।

अपधिदर्शनी अन्य सब दर्शनवालोंसे अल्प हैं । चक्षुर्दर्शनी अपधिदर्शनवालोंसे असख्यातगुण हैं ।

अनन्तगुण हैं । अचक्षुर्दर्शनी केवलदर्शनियोंसे



अव्यभिचारी (निश्चित) कारण मानना चाहिये । इससे शास्त्र अवयव प्रतिमा-पूजन आदि बाध क्रियाओंकी अनेकान्निकता या अधिकारी भेदपर अवलम्बित है उसका सुधार हो जाता है । यही मात्र भगवान् उमास्वातिने 'तस्मिन्सर्गादधिगमाद्वा —नत्वार्य अ० १ सूत्र ३५ प्रकट किया है । और यही बात पञ्चसमग्र द्वार १ भा० ८ को मनवर्गिर-टीकामें भी है ।

(२)—साम्यत्व गुण प्रकट होनेके आभ्यन्तर कारणोंकी जो विविधता है वही चायोप-  
रामिक आदि भेदोंका आधार है —अनन्तानुबन्धि-वस्तुक्त और दशानमोहनीय-त्रिक, इन मान  
प्रकृतियोंका चायोपरामिकमन्यत्वका उपराम औपरामिकसम्यक्त्वका और त्रय,  
चायिकसम्यक्त्वका कारण है । तथा साम्यत्वमें गिरा कर मिथ्यात्वकी ओर अन्वेषणात्तनन्ता  
नुबन्धी कथनका उदय सामादनमस्यत्वका कारण और मिश्रमोहनीयका उदय, मिश्रमन्यत्व-  
का कारण है । औपरामिकमन्यत्वमें साम्यत्व आदि त्रय तथा २ निमित्त करने-हित है और  
यह किम २ गतिमें किन २ कारणोंमें होता है इसका विवेक बताना त्रयिक और चायो-  
परामिकसम्यक्त्वका वयन प्रमरा —नत्वाध अ० २ म ३ के १८ और २२ राजवर्णिकमें तथा  
सू० ४ और ५ क ७ के राजवर्णिकमें है ।

(३)—औपरामिकमन्यत्वक समय शानमोहनीयका किन्ती प्रकारका उदय नहीं होना  
पर चायोपरामिकमन्यत्वके समय सम्यक्त्वमोहनीयका विराद्योत्थ और मिथ्यात्वमोहनीय का  
प्रदेशोदय होता है । इसी मिश्रताके कारण साम्यमें औपरामिकमन्यत्वकी, 'अधममन्यत्व' का  
चायोपरामिकमन्यत्वको इत्यमन्यत्व कहा है । इन दोनों मन्त्रत्वमें अन्वेषणमन्त्र विहित  
है क्योंकि यह स्थायी है और ये दोनों अस्थायी हैं ।

(४)—यह शङ्का होता है कि मोहनायकम वस्तुत्व है । यह सम्यक्त्व और चायि  
कथनका ध्यान करना है इसलिये सम्यक्त्वमोहनायकके विराद्योदय और मिथ्यात्वमोहनायकके प्रो  
शोदयके समय सम्यक्त्व परिणाम व्यक्त कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि  
सम्यक्त्वमोहनीय मोहनीयकर्म है नहीं, पर तन्मके दैविक विगुह होते हैं क्योंकि शुद्ध अथवा  
रमवाले और दिन्यान अनिमित्त रसवने दैविक सम्यक्त्वमोहनायक करणते हैं । जैम —चायि  
आदि पारमार्थिक वस्तुमें त्रेक दशान-कर्मने स्वरूप नहीं दावना वैम । मिथ्यात्वमोहनायक  
शुद्ध चित्तोंका विराद्योत्थ सम्यक्त्व-परिणामके अर्थमात्रमें प्रतिबन्ध नहीं करता । इसका  
मिथ्यात्वका प्रदेशोदय या वह ही, सम्यक्त्व-परिणामका प्रतिबन्धक नहीं होता । अन्वेषण  
चित्तोंका ही प्रदेशोदय होता है । चायिक मन्त्र रसवने है उनका विराद्योत्थ ही  
गुणका ध्यान नहीं करना तब औरत दैविक प्रमाणमें गुणके ध्यान होनेकी सम्यक्त्वमोहनायक  
की आसक्ति । देखिये पञ्चसमग्र-द्वार १ शोकायकी टीकामें उपरान्त उपरान्त

भावार्थ—यथारथानचारित्रवाले उत्कृष्ट दो करोड़से नौ करोड़ तक होते हैं, परन्तु छेदोपस्थापनीयचारित्रवाले उत्कृष्ट दो सौ करोड़से नौ सौ करोड़ तक और सामायिकचारित्रवाले उत्कृष्ट दो हजार करोड़से नौ हजार करोड़ तक पाये जाते हैं। इसी कारण ये उपयुक्तरीतिसे सख्यातगुण माने गये हैं। तिर्यञ्च भो देशधिरत्त होते हैं ऐसे तिर्यञ्च असख्यात होते हैं। इसीसे सामायिकचारित्र वालोंसे देशधिरत्तिवाले असख्यातगुण कहे गये हैं। उक्त चारित्र वालोंको छोड़ अन्य सब जीव अधिरत्त हैं जिनमें अनन्तानन्त धन स्वतिकायिक जीवोंका समावेश है। इसी अभिप्रायसे अधिरत्त जान देशधिरत्तिवालोंकी अपेक्षा अनन्तगुण माने गये हैं।

द्वयो, नारको तथा कुछ मनुष्य तिर्यञ्चोंको ही अवधिदर्शन होता है। इसीसे अन्य दशनवालोंकी अपेक्षा अवधिदर्शनी अल्प हैं। चक्षुदशन, चतुरिन्द्रिय, असन्नि पञ्चेन्द्रिय और सन्नि पञ्चेन्द्रिय, इन तीनों प्रकारके जीवोंमें होता है। इसलिये चक्षुदर्शनवाले अवधिदर्शनियोंकी अपेक्षा असख्यातगुण कहे गये हैं। सिद्ध अनन्त हैं और वे सभी फेवलदशनी हैं, इसीसे उनकी सख्या चक्षुदर्शनियोंकी सख्यासे अनन्तगुण है। अचक्षुदर्शन सभी सखारी जीवोंमें होता है, जिनमें अकेले धनस्वतिकायिकजीव ही अनन्तानन्त हैं। इसी कारण अचक्षुदर्शनियोंको फेवलदशनियासे अनन्तगुण कहा है।

लेश्या आदि पाँच मार्गशास्त्रिका अल्प-महुत्वे ।

[ दो गायकोंसे । ]

पञ्चाणुपुण्ड्रिलेसा, थोवा दो सख णत दो अहिया ।

अभविपर थोवणता, सासण थावोवम्म सखा ॥४३॥



(५)—छयोपराम अन्य पर्याय छायोपरामिक और छपराम अन्य पर्याय भीपरामिक कहलाता है । इसलिये किमी भी छायोपरामिक और भीपरामिक मानना यथार्थ ज्ञान करनेके लिये पहले छयोपराम और छपरामका ही स्वरूप जान लेना आवश्यक है । भूत इनका स्वप्न राक्षोय प्रक्रयाके अनुसार लिखा जाता है —

(क) छयोपराम शब्दमें दो पद हैं —छय तथा उपराम । छयोपराम शब्दका मतलब कर्मक छय और उपराम दोनोंमें है । छयका मतलब आत्माके कर्मका विशिष्ट सम्बन्ध बूझ जाना और उपरामका मतलब कर्मका अपने स्वरूपमें आत्माके साथ समाग्र रह कर भी उसपर अमर न बालना है । यह ठी हुआ सामान्य अर्थ पर समझा पारिभाषिक अर्थ कुछ अधिक है । स्वावलम्बिता पूर्ण हो जानेपर किमी विवक्षित कर्मका जब छयोपराम शुरू होता है तब विवक्षित कर्ममान समयसे आवलम्बिता पर्यन्तक दलित निर्द्वन्द्ववलम्बिता प्राप्त या उगीर्ण-दलित कहते हैं उनका तो प्रेरणोदय व विपाकोद्भवद्वारा छय (अभाव) होता रहता है, और जो दलित विवक्षित कर्ममान समयसे आवलम्बिता तकमें कर्म पाये योग्य नहीं है—मिथे उदयावलम्बिता बहुमत या अनुगीर्ण दलित कहते हैं—उनका उपराम (विपाकोद्भवी योग्यताका अभाव या तीव्र रसमें गन्द रसमें परिणमन) हो जाता है जिसमें जेष्ठलित अपनी उदयावलम्बिता प्राप्त होनेपर प्रेरणोदय या मन्द विपाकोद्भवद्वारा छोद्य हो जाने है अर्थात् आत्मापर अपना पद प्रकट नहीं कर सकने या काम प्रकट करना है ।

इस प्रकार आवलम्बिता पर्यन्त उदय प्राप्त समन्तिकोंका प्रेरणोदय व विपाकोद्भवद्वारा छय और आवलम्बिताके बन्धके उदय पाने योग्य समन्तिकोंकी विपाकोद्भवमन्त्रिणी माधयनारा अभाव या तीव्र रसका मन्द रसमें परिणमन होने रहनेसे कर्मका छायोपराम कहलाता है ।

छयोपराम-योग्य कर्म —छयोपराम मर कर्मोंका नहीं होता किन्तु धानिकर्मोंका होता है । धानिकर्मके देशपाणि और मर्यादाणि दो ही भेद हैं । दोनोंमें छयोपराममें कुछ विभिन्नता है ।

(क) जब देशपातिकर्मका छयोपराम प्रवृत्त होता है, तब उसके मन्द रस-मुक्त कुछ दलितोंका विपाकोद्भव साथ ही रहता है । विपाकोद्भव प्राप्त दलित अल्प रस मुक्त होनेसे स्वाभाव गुणका पाठ नहीं कर सकी इसमें यह सिद्धान्त माना गया है कि देशपातिकर्मके छयोपराममें समय विपाकोद्भव विरुद्ध नहीं है अर्थात् वह छयोपरामके कार्यके—स्वाभाव गुणके विकासको—पीक नहीं सकता । परन्तु यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि देशपातिकर्म के विपाकोद्भव मिमित छयोपरामके समय अस्तर मर्यादाणि-रस मुक्त कार्य भी दलित उदयमान नहीं होता । इसमें यह सिद्धान्त मान लिया गया है कि जब स्वधाति-रस मुक्त अथवा माधमे देशपातिकर्ममें परिणत हो जाता है तभी अर्थात् देशपाणि स्पर्शके ही विपाकोद्भव-कालमें छयोपराम अवश्य प्रवृत्त होता है ।

पञ्चानुपूर्व्या देश्या, स्तोका द्वे सरये अनन्ता द्वे अर्धके ।

अमयेतरा स्तोकानन्ता, सासादना स्तोका उपशमा सत्या ॥४३॥

अर्थ—लेश्याओंका अल्प बहुत्व पञ्चानुपूर्वीसे—पीछेही ओरसे—  
ज्ञानना चाहिये । जैसे—शुक्ललेश्यावाले, अन्य सब लेश्यावानोंमें  
अल्प हैं । पद्मलेश्यावाले, शुक्ललेश्यावालोंमें सख्यातगुण हैं । तेजो  
लेश्यावाले, पद्मलेश्यावालोंमें सख्यातगुण हैं । तेजोमलेश्यावालोंमें  
कापोतलेश्यावाले अनन्तगुण हैं । कापोतलेश्यावालोंमें नीललेश्यावानोंमें  
विशेषाधिक हैं । रुष्णलेश्यावाले, नीललेश्यावालोंमें मी मित्रेणाधिक हैं ।

अमय जीव, मय जीवोंसे अल्प हैं । मय जीव, अमय  
जीवोंकी अपेक्षा अनन्तगुण हैं ।

सासादनसम्यग्दृष्टिवाले, अन्य सब दृष्टिवालोंमें कम हैं ।  
औपशमिकसम्यग्दृष्टिवाले, सामान्यसम्यग्दृष्टिवालोंमें सख्यात-  
गुण हैं ॥४३॥

भाषार्थ—लान्तक देशलोकसे लेकर अनुत्तरविमान तकके पैमा-  
निकदेशोंकी तथा गर्म-जन्य सत्यातवर्ष आनुगाले कुछ मनुष्य ति-  
र्थओंको शुक्ललेश्या होती है । पद्मलेश्या, सनन्कुमारसे प्रसूताक तकके

महिमागता १० १३१ और अन्तरङ्गमन्त्र १ १२३ का है । अन्यबहुत्व वर्णों  
में परब्रह्माणादी जो अल्प बहुत्व १० १३२ का है, वह स एनाय है ।

गोमन्त्रमारजीयकाकटकी १३६ संकेत १४१ ही तल्ली वाद्ययोगों जो ऐरावता अन्य  
बहुत्व द्रव्य क्षेत्र काल आदिजो जेष्ठ ब्रह्मण्य है, वह कर्म-कर्म यहाँसं मित्रा है और  
कहीं-कहीं नहीं मिलता ।

अन्तरङ्गमन्त्रों के सम्यक्की सम्यक् उन्ने के अन्तरङ्गमन्त्रों का वह अवयवमुत्पन्न नहीं हुई है ।

—गी० गा० १११ ।

—गी० गा० १११—११२—११३—११४ ।

पातिकर्मकी पचीस प्रकृतियाँ देशपातिनी हैं जिनमेंसे मतिज्ञानावरण, भूतज्ञानावरण, अन्तर्बुद्ध्यावरण और पाँच अन्तराय इन आठ प्रकृतियोंका छायोपशम तो सदासे ही प्रवृत्त है क्योंकि श्रद्धार्थ मतिज्ञान आदि पर्याय अनादि कालसे छायोपशमिकाव्यपमें रहते ही हैं। इसलिये, यह मानना चाहिये कि उक्त आठ प्रकृतियोंके देशपातिनरमरूपका ही उदय होता है, सर्व धाति रसरूपका कभी नहीं।

अवधिज्ञानावरण मम पर्यायज्ञानावरण चतुर्दशनावरण चर अवधिर्ज्ञानावरण इन चार प्रकृतियोंका लघोपराम काशाविक (अनियत) है अर्थात् जब उनके सवपाति रसम्पदक देशपातिरूपमें परिणत हो जाते हैं तभी उनका लघोपराम होता है और जब सवपाति-रसम्पदक लक्ष्यमान होते हैं तब अवधिज्ञान आदिका बात ही होता है। उक्त चार प्रकृतियोंका लघोपराम भी देशपाति रसम्पदकके विपाकोदयमे निमित्त ही समझना चाहिये।

उक्त बारहवें मिदाय रोप लेख (चार सज्जलन और नौ नोकथाय) प्रकृतिदा जी मोह  
नीयकी हैं वे अनुवादित हैं। इसलिये जब उनका ज्योपराम प्रवेशोद्यमनामे युक्त होता  
है, तब तो वे स्वाभाव गुणका सेरा भी घात भदा करती और न देशपानिनी ही मानी जाती है  
पर जब उनका ज्योपराम विप्राकोन्यमे मिश्रित होता है तब वे स्वाभाव गुणका कुछ बात करती  
हैं और देशपानिनी कहलाती है।

(ख) धातुकर्मही बीस प्रकृतियों सवर्णतिनी है। इनमेंमें केवल छह प्रकार के धातु दारानावरण इन दोषों तो चषोपराम होता ही नहीं, क्योंकि उनके द सङ्घ कभी देशातिराम युक्त बनते ही नहीं और न उनका विषाकोदय ही रोका जा सकता है। रोष कटार प्रकृतियों ऐनी है जिनका चषोपराम हो सकता है, परंतु यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि देश धातिनी प्रकृतियोंके चषोपरामके समय जैसे विषाकोदय होता है, वैसे इन प्रकृतियों सवर्णतिनी प्रकृतियोंके चषोपरामके समय नहीं होता, अर्थात् इन कटार प्रकृतियोंके चषोपराम तभी सम्भव है जब उनका प्रदेशोदय ही हो। इसलिये यह सिद्ध होना है कि 'विषाकोदयनी प्रकृतियोंका चषोपराम यदि होता है तो देशातिनीहीन सवर्णतिनी ही है।

अतः एव उक्त अठारह प्रकृतियों, विराट्देवके निवेशके सौन्दर्य नही जाती है बल्कि अनन्त भावार्थ गुणोंका साधोपराधिक स्वस्मै व्यक्त होना शुरू है जो विराट्देवके निरीधके सिवाय पत्र नहीं सकता ।

[illegible]

धैमानिकदेवोंको और गर्म जन्य सख्यात वर्ण आयुशाले कुछ मनुष्य-  
तिर्यञ्चोंको होती है। तेजोलेश्या, वादर पृथ्वी, जल और घनस्पति  
कापिष जीवोंको, कुछ पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च मनुष्य, भवनपति और  
ध्यन्तरोंको, उद्योतियोंको तथा साधम ईशान कटपके धैमानिकदेवों  
को होती है। सब पद्मलेश्यावाले मिलाकर सब शुक्ललेश्यावालोंकी  
अपेक्षा सख्यातगुण हैं। इसा तरह सब तेजोलेश्यावाले मिलाये जायें  
तो सब पद्मलेश्यावालोंसे सख्यातगुण ही होते हैं। इसीसे इनका

१—साल्मकसे लेकर अनुचरविमान तकके धैमानिकदेवोंका अपेक्षा सप्तकुमारमे लेकर  
मङ्गलेश्या तकके धैमानिकदेव अमरयातगुण हैं। इसी प्रकार मन्त्रकुमार आदिक धैमानिकदेवोंकी  
अपेक्षा कश्च क्वातिपण्डे की असरयातगुण हैं। अत एव यह राश्या होती है कि पद्मलेश्यावाले  
शुक्ललेश्यावालोंसे और तेजोलेश्यावाले पद्मलेश्यावालोंसे अमरयातगुण न मानकर सख्यातगुण  
क्यों माने जायें ?

इसका समाधान इतना ही है कि पद्मलेश्यावाले देव शुक्ललेश्यावाले देवोंसे असरयातगुण  
हैं उसी पर पद्मलेश्यावाले देवोंकी अपेक्षा शुक्ललेश्यावाले त्रिषण अमरयातगुण हैं। इसी प्रकार  
पद्मलेश्यावाले देवोंसे तेजोलेश्यावाले देवोंके अमरयातगुण होनेपर भी तेजोलेश्यावाले देवोंमें  
पद्मलेश्यावाले त्रिषण अमरयातगुण हैं। अत एव सब शुक्ललेश्यावालोंसे सब पद्मलेश्यावाले और सब  
पद्मलेश्यावालोंमें सब तेजोलेश्यावाले सख्यातगुण ही होते हैं। सारांश केवल देवोंकी अपेक्षा  
शुक्ल अग्नि उक्त तीन तरयश्रीका अध्यन्तु न विचार जाता तब ही अमरयातगुण कहा जाता  
परन्तु यह अत एव अनुचर विमान ओकराशिको लेकर कहा गया है और पद्मलेश्यावाले देवोंसे शुक्ल  
लेश्यावाले देवोंकी तथा तेजोलेश्यावाले देवोंमें पद्मलेश्यावाले त्रिषणकी मर्यादा इनकी नहीं है,  
जिसमें कि उक्त सख्यातगुण ही अध्यन्तुल वर सख्या है।

कीट्योमसूरिने शुक्ललेश्यावाले तेजोलेश्या तकका ॥ १२६॥ अमरयातगुण लिखा है  
वर्षोंके उन्ने गाना-गान से संख्या पण्डे ग्यान्ने रासख्या का पाठान्तर लेकर व्याख्या की है  
और अपने ही गुण भी लिखा है कि किसी किसी प्रतिमें वा सख्या का पाठान्तर ॥ जिसके  
अनुसार सख्यातगुणका अध्यन्तु न समझना चाहिये जो सुनोको विचारणीय है।

ऐसा ही यह पाठान्तर कायिरि नहीं है। इस सब पाठ ही नष्ट है। इनके अनु-  
सार सख्यातगुण अध्यन्तुल कहा गया है कि जिसके अनु-  
सार सख्यातगुण अध्यन्तुल तथा लेश्यावाली अपनी कृति-  
विचार शुक्ललेश्यावाले सूरिने  
नसे किया है।—१०

अयोपशममें कमका घब भी जारी रहता है, जो वमसे वम प्रदेशोदयके सिवाय हो ही नहीं सकता । परन्तु उपशममें यह बात नहीं जब कमका उपशम होता है, तभीमें उसका घब कम हो जाता है अतः एव उमक प्रयोग होनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती । इसीसे उपशम अवस्था तभी मानो जाती है जब कि अन्तरकरण होता है । अन्तरकरणमें अन्तर्मुहूर्तमें उदय पानेके योग्य दैनिकोंमेंसे कुछ तो पढ़न ही भोग लिये जाने हैं और कुछ दैनिक पीछे उदय पानेके योग्य बना देने जात हैं अर्थात् अन्तरकरणमें वेद-लिकोंका अभाव होता है ।

अतः जब अयोपशम और उपशमकी सविस्तार व्याख्या बननी ही की जाती है कि अयोपशममें समय प्रदेशोदय या मन्द विपाकोदय होता है पर उपशमके समय वह भी नहीं होता । यह नियम मान रखना चाहिये कि उपशम की वाचिककर्मका ही हो सकता है, सो भी सब वाचिक कर्मका नहीं, किन्तु केवल मोहनीयकर्मका । अर्थात् प्रदेश और विपाक दोनों प्रकारका उदय यदि रोका जा सकता है तो मोहनीयकर्मका ही । इसलिये देखिये नली सू ८ की टीका सू ७७ कम्मपयडी शीयशोबिजवजी नृन टीका, पृ० १३ पृष्ठ ० छा० १ गा० २१ की मन्वगिरि व्याख्या । सम्बन्धक स्वयं उपपत्ति और मन् प्रदेशादिका मन्विर विचार देखनेकलिये देखिये भा० प्र०-मन् १ प्रो० ५६६—७० ।

## परिशिष्ट "ट" ।

## पृष्ठ ७४, पङ्क्ति २१ के "सम्भव" शब्दपर—

अठारह मार्गशामे अचक्षुःशान् परिगणित है अत एव उसमें भी चौदह जावस्थान सम्भूत चाशिये। परन्तु इसपर प्रश्न यह होता है कि अचक्षुःशान्तम जा अपयात जावस्थान माने जाने हैं सो क्या अपयात अवस्थामे इन्द्रियपयासि पूर्ण होनेक बाद अचक्षुःशान् मान कर य इन्द्रियपयासि पूर्ण होनेक पहलें भी अचक्षुःशान् होता है यह मान कर ?

यदि प्रथम पक्ष माना जाय तब तो ठीक है क्योंकि इन्द्रियपयासि पूर्ण होनेक बाद अपयात अवस्थामें ही उच्छुभिरिन्द्रियद्वारा सामान्य बोध मान कर । जैसे—अचक्षुःशान्तमें तीन अपयात जीवस्थान १७वीं गायामें मनान्तरमे बतपाये हुए हैं जैसे ही इन्द्रियपयासि पूर्ण होनेक बाद अपयात अवस्थामें चक्षुःभिन्न इन्द्रियद्वारा सामान्य बाह्य भाव कर अचक्षुःशान्तम भाव अपयात जीवस्थान धरिये जा सकने हैं ।

परन्तु श्रीजयसोमसूरिने इस गायामें अपने स्वयं इन्द्रियपयासि पूर्ण होनेक पहलें भी अचक्षुःशान् मान कर उसमें अपयात जीवस्थान माने हैं । और सिद्धान्तक आवारमे बतपाया है कि विग्रहगति और कामण्ययोगमं अवधिःशान्तरहित जीवकी अचक्षुःशान् होता है । इस पक्षमें प्रश्न यह होता है कि इन्द्रियपयासि पूर्ण होनेक पहलें इन्द्रिय न होनेमे अचक्षुःशान् कैम मानता ? इसका उत्तर दो तरहमे दिया जा सकता है ।

(१) द्रव्येन्द्रिय होनेपर द्रव्य और भाव, उभय इन्द्रिय तय उपयोग और द्रव्येन्द्रियते अभावमे केवल भवेन्द्रिय-अव्य उपयोग इस तरह दो प्रकारका उपयोग है । विग्रहगतिमें और इन्द्रियपयासि होनेके पहलें पहलें प्रकारका उपयोग नहीं हो सकता, परन्तु दूसरे प्रकारका शान्तमक सामान्य उपयोग गना जा सकता है । ऐसा माननेमें तत्त्वार्थ भ० २ सू० ६ की वृत्ति—

“अथवेन्द्रियनिरपेक्षमेव तत्त्वस्यचिद्भवेद् यतः पृष्ठत उपसर्पन्त सर्पं बुद्धयैवन्द्रियव्यापारनिरपेक्षं पश्यतीति ।”

यह कथन प्रमाण है। माराश इन्द्रियपयासि पूर्ण होनेक पहलें उपयोगरूपक अचक्षुःशान् मान कर समाधान किया जा सकता है ।

(२) विग्रहगतिमें और इन्द्रियपयासि पूर्ण होनेक पहलें अचक्षुःशान् माना जाता है सो शक्तिरूप अभाव ध्योपशमरूप उपयोगरूप नहीं । यह समाधान प्राचीन चतुर्थ कमग्रन्थकी ४१वीं गायामें टीकाके—



धीरे-धीरे बहुत बड़ी और कुछ राजाधिराजों के बाद प्रसिद्ध, कुम्हार आदि कई कारखानों उनमें बहुत कुछ जागर-भरा हुआ जिसमें कि ईश्वर-मन्त्र एक तरहसे स्थित समझा जाने लगा। सम्भव है इस परिस्थितिका जैन सम्प्रदाय में भी कुछ कमर पड़ा हो, जिसमें शिखर-काचापाने नौ ग्रीका मितुपण्डितों को ही अग्रणी करार दिया हो और शिखर-काचापाने ने न केवल स्त्री-पुरुषों का अधिकार बरामद करने हुए भी स्वयं ईश्वर-पूजा आदि धर्मोपदेशों को समझा दिया कि शिखर-काचापाने ने क्या-क्या प्रमाणों के सहयोगों के समर्थन में प्रमाण पढ़ना अनिवार्य है।



“त्रयाणामप्यचक्षुर्दर्शनं तस्यानाहारकावस्थायामपि लब्धिमात्रित्याभ्युपगमात् ।”

इस वल्लेखक आधारपर लिया गया है ।

प्र. ४—इन्द्रियपयोति पूर्ण होनेव पहले कैसे उपयोगरूप या अव्योपशमरूप अचक्षुर्दर्शन माना जाता है, कैसे ही अचक्षुर्दर्शन क्यों नहीं माना जाता ?

उत्तर—अचक्षुर्दर्शन नेत्ररूप विरोध इन्द्रिय अन्य दर्शनकी कहने है । दाना दशान वसी समद माना जाता है जब कि द्रव्यनेत्र हा । अत एव अचक्षुर्दर्शनका इन्द्रियपयोति पूर्ण होनेके वा" ही माना है । अचक्षुर्दर्शन किमी एक इन्द्रिय-ज"य सामान्य उपयोगको नहीं कहते बल्कि नेत्र भिन्न किसी द्रव्येन्द्रियसे होनेवाले द्रव्यमनमे होनेवाले या द्रव्येन्द्रिय तथा द्रव्यमनके अभावमें अव्योपशममात्रसे होनेवाले सामान्य उपधानकी कहते है । इसीमे अचक्षुर्दर्शनको इन्द्रियपयोति पूर्ण होनेव पहले और पीछे दानों अवस्थाओंमें माना है ।

एसा वस्तु स्थिति होनेपर भी म्रियोंका ही अध्ययनका निषेध क्यों किया गया ? इस प्रश्नका उत्तर यह सरलमें दिया जा सकता है -- (१) सामान सामग्री मिलनेपर भी पुस्तक मुद्राबिलमें म्रियोंका कम मरवाने योग्य होना और (२) प्रतिस्पर्धिक परिस्थिति ।

(१) — जिन परिस्थितियोंमें म्रियोंको पढ़ने आदिको सामग्री पुस्तक के समान प्राप्त होती है वहाँ इतिहास पढ़नेसे यही ज्ञान पड़ता है कि म्रियों पुस्तकोंके लिये हा सज्जी हैं म्रियो पर जोर पकड़ियों सहज खाया नहीं क्योंकि पुस्तकानिमें अधिक पाटी पाती है ।

(२) — पुस्तक अध्ययन मग्रीके प्रतिपक्षक गिम्बर आचार्योंने स्वीकारितो शारीरिक और मानसिक दोष कारणोंका तत्परलिये अवगम्य ठहराया ।

“स्तिगमि य इत्थोण, थणत्ते णाहिकक्खदेसम्मि ।

भणिआ सुहमो काओ, तास कह होइ पणवजा ॥”

— पट्टपाहुड सुमपाहुड गा २४-५ ।

और ०२ विज्ञान । अतोहि सुद्धिको अप स्थान देशर सी और सु म्रियों के मा प ने व्ययन लिये अवगम्य ठहराया —

“ओशुद्धी नाधीयाता”

एक दिवसी मर्यादशायीका कलकामर पढ़ा कि उसने प्रकाशित होकर पुस्तकानिमें समान म्रियानिधो योग्यता मानत हुए भी श्रेष्ठतर आचार्य उसे विशेष अध्ययनके लिये अवगम्य ठहराने जग हात ।

अगरह अत्र आ पन्नेहा अत्रिना मानने हुए भी निष्क कारणोंसे कहने निषेधका सत्र सद भी जान पड़ता है कि इतिहासका इस्तेमाल मर्याद बना रह । उस समय विचारणया शारीरिक-सुद्धिपूर्वक पढ़नेसे बे आनि प्रकाश मर्याद भगवती जाती था । इतिहास सब अर्थोंमें भगवत या इसलिये अवगम्य ठहराने उसको मर्यादा रखनेके लिये अत्र ब पक्षोंसे समझाया अनुकरण कर लेना आवश्यक है । इस कारण आचार्य-सुद्धिमें लीको संपूर्णतया योग्य मानने हुए भी आचार्योंने अवगम्य ठहराने शारीरिक प्रसुद्धि का व्यापक उत्तरा शास्त्रिक-अवगम्य ठहराने के लिये अवगम्य ठहराया होता ।

भगवान् गोमसुद्धने स्वीकारितो मितुनकेलिये अवगम्य निर्धारित किया था परन्तु भगवान् महावीरने ता प्रथम ही उसको पुस्तक के समान मितुनकी अधिकारिता निश्चित किया था । इससे जैनरासजने अतुलित सत्र प्रथम ही स्थापित है और मर्याद का अवगम्य अत्रा मर्यादों तथा अवगम्योंकी मर्यादा अत्रासे ही अधिक रही है परन्तु अपने निष्पन्न आचार्य के अवगम्य सुद्ध भगवान् । मितुन प म्रिया तब उनको

## परिशिष्ट “ठ” ।

पृष्ठ ७=, पङ्क्ति ११के ‘अनाहारक’ शब्दपर—

अनाहारक जीव दो प्रकारके होते हैं — दुष्पच्य और बीतराग । बीतरागमें जो भराहीरी (मुक्त) है वे सभी सदा अनाहारक ही हैं परन्तु जो ‘गीर धारी’ है, वे केवलसमुदायके तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें ही अनाहारक होते हैं । उष्णस्य जीव अनाहारक तभी होते हैं जब वे विप्रह्वानिमें वर्तमान हों

जमान्तर ग्रहण करनेकालिये जीवको पूर्व-स्थान छोड़कर दूसरे स्थानमें जाना पड़ता है । दूसरा स्थान पहले स्थानमें विरहित गति (वक्र-रेखा) में हो तब उसे वक्र-गति करनी पड़ती है । वक्र-गतिके सम्बन्धमें हम जगह तीन धारोंपर विचार किया जाता है —

( १ ) वक्र-गतिमें विप्रह्व (उमाव) की मन्था, ( २ ) वक्र-गतिक का ल शरिमाण और ( ३ ) वक्र गतिमें अनाहारकत्वका काल-मान ।

(१) कोई उष्णसि स्थान पेना होता है कि जिसकी जीव एक विप्रह्व करके ही प्राप्त कर लेता है । द्विती स्थानकेलिये दो विप्रह्व करने पड़ने हैं और तिसरेकेलिये तीन भी । नतीज उष्णसि-स्थान पूर्व-स्थासे कितना ही विप्रेक्षि-पतित क्यों न हो, पर वह तीन विप्रह्वों से अवश्य ही प्राप्त हो जाता है ।

हम विषयमें दिग्दर्श साहित्यमें विचार भेद नजर नहीं आता, क्योंकि—

“विप्रह्वती च सप्तारिण प्राक् चतुर्भ्यः ।” —तत्त्वाध अ० २, सू० २८ ।

हम सूत्रकी मवाधमिद्धि-शेकमें शीघ्र-वशा-स्थानीने अधिकसे अधिक तीन विप्रह्वानी गतिका ही उल्लेख किया है । तथा —

“एक द्वौ त्रिन्वाऽनाहारकः ।” —तत्त्वाध अ० २, सू० ३० ।

हम सूत्रके दृष्टे राजव तिकने महारक शोधक-बुद्धेयने जो अधिकसे अधिक त्रि-विप्रह्व गतिका ही मन्यन किया है । जेभिवद् तिसा-उचकनी भी सम्मन्तार जीवकाएहकी ६६२वीं गायने वन्ध मन्का ही निर्णय काल है ।

शेनाभराय प्र-लोमें हम विषयपर न्याय-वर्तिष्ठत पया जाता है —

“विप्रह्वती च सप्तारिण प्राक् चतुर्भ्यः ।” —तत्त्वाध अ० २ सूत्र २६ ।

‘एक द्वौ वाऽनाहारकः ।’ —तत्त्वाध-अ० २, सू० ३० ।



श्वेताम्बर प्रभिद्ध तरुशर्पे अ २ के भाष्यमें भगवान् उमास्वानिने तथा उसकी टीकामें श्रीसिद्धसेनगण्डिने त्रिविग्रहगणिका उल्लेख किया है। साथ ही उक्त भाष्यकी टीकामें चतुर्विग्रहगणिका मतांतर भी प्रमाणा है। इस मतांतरका उल्लेख बृहत्समग्रणीकी ३२५वीं श्लोकमें और श्रीभगवती-शाक ३३ अंश १की तथा शाक १४ अंश १की टीकामें भी है। किन्तु इस मतांतरका जहाँ-कहाँ उल्लेख है वहाँ सब जगह वही भिन्न है कि चतुर्विग्रहगणिका निर्देश किसी मूल सूत्रमें नहीं है। इसमें जान पड़ता है कि ऐसी गति करनेवाले जो वही बहुत कम हैं। उक्त सूत्रोंके भाष्यमें तो यह स्पष्ट लिखा है कि त्रिविग्रहसे अधिक विग्रहवाली गणिका समझ ही नहीं है।

“अथिग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहा त्रिविग्रहा इत्येताश्चतुस्समयपराश्चतुर्विधा गतयो भवन्ति, परतो न सम्भवन्ति ।”

भाष्य इस वचनमें तथा त्रिगम्बर प्रयोगमें अधिकतम अधिक त्रिविग्रहगणिका ही निर्देश पाये जानेमें और भगवती टीका आदिमें जहाँ-कहाँ चतुर्विग्रहगणिका मतांतर है वहाँ सब जगह उसकी अपेक्षा त्रिविधा जानकर करण अधिकमें अधिक तान विग्रहवाला गणिनीरा पक्ष बहु भाष्य समझना चाहिये।

(२) वक्र-गणिके काल परिमाणक सम्बन्धमें यह नियम है कि वक्र-गणिका समय विग्रहकी अपेक्षा एक अधिक ही होता है। अर्थात् त्रिगणिके एक विग्रह का समय काल-मान का समकोण। इस प्रकार द्विविग्रहगणिका काल मान तीन समयोंका और त्रिविग्रहगणिका काल-मान चार समयोंका है। इस नियममें श्वेताम्बर-त्रिगम्बरका कोई मत भेद नहीं। हाँ अगर चतुर्विग्रह गणिके मतांतरका जो उल्लेख किया है उसका अनुसार उस गणिका काल-मान पाँच समयोंका बतलाया गया है।

(३) विग्रहगणिके अनाहारकत्वकाल मानका विचार व्यवहार और निश्चय वा दृष्टिकोने किया हुआ पाया जाता है। व्यवहारवादीयोंका अभिप्राय यह है कि पूर शरीर धोकेसे समान या वक्र-गणिका प्रथम समय है उसमें पूर शरीर-लोभ्य कुट्टर शुद्धत लाभाहारद्वारा ग्रहण किये जाने है।—बृहत्समग्रणी गा ३२६ तथा उसकी टीका श्लोक० सग ३ श्लो० ११ ७ म आये। परन्तु निश्चयवादीयोंका अभिप्राय यह है कि पूर शरीर धोकेसे समझमें अर्थात् वक्र-गणिके प्रथम समयमें न ता पूर शरीरका ही म वृत्त है और न नवा शरीर बना है इसलिये उस समय किसी प्रकारके आहारका समझ नहीं।—श्लोक० स ३ श्लो० ११ १५ में आये। व्यवहारवादी ही वा निश्चयवादी दोनों इस बातका बराबर मानते हैं कि वक्र-गणिका अभिमत समय जितमें जीव नवीन स्थानमें उत्पन्न होता है उसमें अवश्य आहार ग्रहण होता है। व्यवहारवादीके अनुसार अनाहारकत्वकाल मान इस प्रकार समझना चाहिये —

## परिशिष्ट “५” ।

## पृष्ठ १०१, पङ्क्ति १२के ‘माधाय’ पर—

इस जगत् चतुर्गुणोंमें तरह योग माने गये हैं पर योग्यव्यक्तिगो उसमें व्यापक दण्ड बनाने है । कर्मण्य औदारिकमित्र वैजियमित्र और आहारकमित्र ये चार योग छोड़ दिये हैं ।

—पृष्ठ १०१ की १२वीं गाथाकी टीका ।

व्यापक माननेका तात्पर्य यह है कि जमे अपवात अवस्थामें अनुसरान न होनेसे उसमें कर्मण्य और औदारिकमित्र ये दो अपवात अवस्था-मात्री सीग नहीं जाने वैसे ही वैजियमित्र व आहारकमित्र उपयोग रहता है तब तक अपवात वैजियमित्र या आहारकशरीर अपूर्ण होतबतक चतुर्गुण नहीं होता इसलिये उसमें वैजियमित्र और आहारकमित्र योग भी न मानने चाहिये ।

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि अपवात अवस्थामें इन्द्रियवृत्ति पूर्ण बन जानेसे वा ३७वीं गाथामें उल्लिखित मन्वानरक अनुसार यदि चतुर्गुण मान लिया जाय तो उसमें औदारिकमित्रकावधान जो कि अपवात अवस्था मात्री है उसका अभाव देने माना जा सकता है ?

इस शङ्काका समाधान यह किया जा सकता है कि पञ्चमग्रहमें एक ऐसा मन्वानर है जो कि अपवात अवस्थामें शरीरव्यति पूर्ण न बन जाय तब तक मिश्रयोग मानता है वा जाने कब बाद नहीं मानता । —पृष्ठ १०१ की ७वां गाथाकी टीका । इस मतानुसार अपवात अवस्थामें जब चतुर्गुण हाता है तब मिश्रयोग न होनेसे कारण चतुर्गुणमें औदारिकमित्रकावधान योगका वञ्चन विवक्षित नहीं है ।

इस जगह मन पदावधानमें तरह योग मान दूरे हैं जिनमें आहारक द्विकला समावेश है । पर योग्यमात्र-कमकाल यह नहीं मानता क्योंकि उसमें शिवा है कि परिहारनिशुद्ध चात्रिज ज्ञान मन पर्याप्तज्ञानके समय आहारकशरीर तथा आहारक अक्षोपाहवासक्रमका उदय नहीं होता—दमकावृद्ध या ३२४ । तब तक आहारक द्विकला उत्पन्न न हो तब तक आहारक शरीर रचा नहीं जा सकता और उसकी रचनाके मित्राय आहारकमित्र और आहारक ये दो बात सम्भव है । इससे सिद्ध है कि योग्यमात्र मन पदावधानमें ही आहारकका अक्षो मानता । इसी बातकी पुष्टि श्रीवाङ्मयी ७२२ वीं गाथासे भी होती है । उसका मतलब यही है कि मन पदावधान परिहारनिशुद्धसकल प्रकाशप्रमत्तमन्वानर और आहारक द्विकला माना में किनी एकके प्राप्त होनेपर एक भाव प्राप्त नहीं होते ।

एक विग्रहवाली गति त्रिमयी काल-मयादा गो समयकी है उसके दोनों समयमें जीव आहारक ही होता है क्योंकि पहले समयमें पूर शरीर-योग्य भोजनाहार ग्रहण किया जाता है और दूसरे समयमें नीन शरीर योग्य आहार । दो विग्रहवाली गति, जो तीन समयकी है और तीन विग्रहवाली गति जो चार समयकी है, उनमें प्रथम तथा अन्तिम समयमें आहारकत्व होने पर भी बीचके समयमें अनाहारक-अवस्था पायी जाती है । अर्थात् विग्रहगतिके मध्यमें एक समय तक और विग्रहगतिके प्रथम तथा अन्तिम समयको छोड़ करके दो समय पर्यन्त अनाहारक स्थिति रहता है । व्यवहारमयरी यह मन रि विग्रहकी अपेक्षा अनाहारकत्वका समय पर्यन्त ही होता है तत्पश्चात् अर्थात् २० वें मूल में तथा उत्तर भाग्य अरु दारामें निर्दिष्ट है । साथ ही टीकामें व्यवहारमयरी अनुसार उपर्युक्त पाँच समय परिमाण चुनविग्रहवाली गतिक मत्तानरको उत्तर तीन समयका अनाहारकत्व भी बतलाया गया है । माराग व्यवहार मयरी अपेक्षाने तीन समयका अनाहारकत्व चुनविग्रहवाली गतिके भगान्तरमें ही घट सकता है कथना नहीं । निश्चयपूर्वक अनुसार यह बात नहीं है । उनका अनुसार तो जिनने विग्रह उत्तने ही समय अन्तःकरणत्व होने हैं । अतएव उस दृष्टिक अनुसार एक विग्रहवाली वक्र-अन्तिम एक समय दो विग्रहवाली गतिमें दो समय और तीन विग्रहवाली गतिमें तीन समय अनाहारकत्वके सम्मन्ने चाहिये । यह बात दिग्भर प्रसिद्ध तत्कार्य अ० २० के ३० वें मूल तथा उमकी स्वाधिसिद्धि और शान्तानिर्णय में है ।

श्रुत वक्र-अ० २० में चुनविग्रहवाली गतिक मत्तानरका उक्त है उसको लेकर निश्चयपूर्वक विचार किया गया तो अनाहारकत्व चार समय का कहे जा सकते हैं ।

सारांश इन शरीर तरंग भाग्य आदिमें एक या दो समयमें अनाहारकत्वका जो उद्भव है वह व्यवहारदृष्टि और दिग्भरीय तत्त्वाध आदि प्रयोगोंमें जो एक या तीन समयका अनाहारकत्वका उद्भव है वह निश्चयपूर्वक । अतएव अनाहारकत्वका काल मानक विषयमें दोनों मन्त्र पर्यन्त वास्तविक विरोधको अवकाश ही नहीं है ।

प्रसङ्ग-यह यह बात जानने-योग्य है कि पूर शरीर परित्याग पर भयरी सञ्चुका उदय और गति (चारे अनु दो या वर) ये तीना एक समयमें होने हैं । विग्रहगतिके दूसरे समयमें पर भयरी सञ्चुका उदयका वयन है सो स्थूल व्यवहारवाली अपेक्षा—पूर शरीर अन्तिम समय तिममें जो विग्रहगतिके अभिमुख हो जाता है, उसका उपचारमें विग्रहाधिक प्रथम समय मानकर—सुसम्झना चाहिये ।

—वृहत्संहिता अ० ३२१ मलयगिरि टीका ।



## परिशिष्ट "द" ।

पृष्ठ १०४, पङ्क्ति ६के 'केवलिसमुदात्त' शब्दपर—

[ केवलिसमुदात्तके सम्बन्धकी कुछ बातोंका विचार — ]

(क) पूर्ववाची क्रिया—केवलिसमुदात्त रचनेके पहले एक विशेष क्रिया की जाती है शुभपोलक्ष्य है जिसकी स्थिति अन्तमुहूर्त्त प्रमाण है और निश्चय कार्य उदयावलिताने कम लिकारि निषेध करना है । इस क्रिया विशेषको आयोजिकाकरण कहते हैं । मोक्षकी ओर आवागमन (भुक्ते हुए) आत्माके द्वारा किये जानेके कारण इसका आवर्जितकरण कहते हैं । और सब कवलज्ञानियोंके द्वारा अवश्य किये जानेके कारण इसको 'आवश्यककरण' भी कहते हैं । श्रुतान्तर-साहित्यमें आयोजिकाकरण आदि तीनों मग्यें प्रसिद्ध हैं । —विशे० भा०, गा० ३०१० ५१ तथा पथ० द्वा० १ गा० २६की टीका ।

द्विगन्धर-साहित्यमें सिर्फ आवर्जितकरण सहा प्रसिद्ध है । लक्षण भी समम् स्पष्ट है—

“हेट्टा दहस्सतो,—मुहुत्तमावजिद हवे करण ।

त च समुग्घाटस्स थ, अटिमुहभावो जिणिंदस्स ॥”

—विदमार गा० ६१७ ।

(ग) केवलिसमुदात्तका प्रमाण और विधान समय —

जब वैदनीय आग्नि अग्निसमवा स्थिति तथा दलित आशुक्मकी स्थिति तथा दलिकम अधिव हा तब उनको आपसमें बराबर करनेके लिये केवलिसमुदात्त करना पड़ता है । इसका विधान अन्तमुहूर्त्त प्रमाण आयु जाती रहनेके समय होता है ।

(ग) चामी—अज्ञानाना हा अज्ञानिसमुदात्तका रचने है ।

(घ) काल-मान—केवलिसमुदात्तका काल-मान आठ मसयका है ।

(ङ) प्रक्रिया—प्रथम समयम आ माथ प्रदर्शवि, गरीरु बाहर निकालकर फैला दिया जाता है । उस समय उन्हा आकार दण्ड चैम बनता है । आत्मप्रदेशोंका दह दण्ड ऊँचाईमें भोक्ते उपर न नीचे तक अथात् चौदह रानु परिमाण होता है परन्तु उसकी मोटाई सिर्फ गरीरके बराबर होती है । दूसरे समयमें उक्त दण्डको पूरा पश्चिम या उत्तर दक्षिण फैलाकर उसका आकार क्या (किवाड़) जैसा बनाया जाता है । तीसरे समयम वषागका आत्म प्रदेशोंका मन्था कार बनाया जाता है अर्थात् पूव-पश्चिम, उत्तर दक्षिण दोनों तरफ फैलानेमें उनका आकार रश्मि (मधनी) का सा बन जाता है । चौथे समयम विदिशाओंके खाली भागोंको आत्म प्रदेशोंसे पूरा कर उनसे सम्पूर्ण लोकको प्राप्त किया जाता है । पाँचवें समयमें आत्माके लोक यापी प्रदेशों

## परिशिष्ट “ङ” ।

पृष्ठ ८५, पङ्क्ति ११के ‘अवधिदर्शन’ शब्दपर—

अवधिरान और गुणस्थानका सम्बन्ध विचारनेके समय मुख्यतया दो बातें जाननेकी हैं  
(१) पक्षभेद और (२) उनका तात्पर्य ।

(१)—पक्ष भेद । प्रस्तुत विषयमें मुख्य दो पक्ष हैं —(क) कामग्रन्थिक और (ख) मैत्रेय  
निरुक्त ।

(क) कामग्रन्थिक पक्ष भी दो हैं । इनमेंसे पहले पक्ष चौथे भाषित्री गुणस्थानोंमें अवधिरान मानता है । यह पक्ष प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थकी २६वीं गाथामें निर्दिष्ट है जो पहले तीन गुणस्थानोंमें अज्ञान माननेवाले कामग्रन्थिकोंका मान्य है । दूसरा पक्ष तीसरे भाषित्री गुणस्थानोंमें अवधिरान मानता है । यह पक्ष आगेकी ४८वीं गाथामें तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थकी ७० और ७१वीं गाथामें निर्दिष्ट है जो पहले दो गुणस्थान तक अज्ञान माननेवाले कामग्रन्थिकोंको मान्य है । ये दोनों पक्ष गोमन्थसार पौष्पाष्टकी ६६० और ७०४वीं गाथामें हैं । इनमेंसे प्रथम पक्ष तत्सार्थ अ. १के ८वें मन्त्री सर्वाधभिर्दिष्ट भी है । वर यह है —

“अवधिदर्शने अस्यतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकपायान्तानि ।”

(ख) मैत्रेयनिरुक्त पक्ष विस्तृत निम्न है । वर पहले भाषित्री बारह गुणस्थानोंमें अवधिरान मानता है । ये मन्त्रकी सूत्रमें मालूम होता है । इस पक्षको भीमलक्ष्मणिसूत्रने पञ्चसप्तद्वन्द्वार १ की ३१वीं गाथाकी टीकामें तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थकी २६वीं गाथाकी टीकामें स्पष्टतासे निरूपित है ।

‘ओहिदसणअणगारोवउत्ताण भते । किं नाणी अन्नाणी ?  
गोयमा । णाणी वि अन्नाणी वि । जइ नाणी ते अत्थेगइआ तिण्णाणी,  
अत्थेगइआ चउणाणी । जे तिण्णाणी, ते आभिणिबोहियणाणी सुय  
णाणी ओहिणाणी । जे चउणाणी ते आभिणिबोहियणाणी सुयणाणी  
ओहिणाणी मणपज्जवणाणी । जे अण्णाणी ते णियमा मइअण्णाणी  
सुयअण्णाणी निभगनाणी ।”

—मग्वत्ती रात्रक ८ उदेष २ ।

(२)—उनका (उक्त पक्षोंका) तात्पर्य —

(क) पहले तीन गुणस्थानोंमें अज्ञान माननेवाले और पहले दो गुणस्थानोंमें

को सङ्ग्रह किया जाता फिर मन्थाकार बनाया जाता है । छठ ममयमें मन्थाकारसे वपागकार बना लिया जाता है । मातर्वें ममयमें आ म प्रवेश फिर दण्डस्थ बनाये जाते हैं और आठवें समयमें उनको अमची स्थितिमें—शरीरस्थ—रिखा जाता है ।

(च) जैन दृष्टिके अनुसार आत्म-वापस्तन्त्रो मन्त्रि — “अन्विष्य मन्त्रिणां आत्मां यथोपमां नदी व्यापनानां दण्डनं विधातुम् ।”

‘विश्वतश्चक्षुरुस्त विश्वतां मुखो विश्वतां बहुकृत विश्वतस्स्यात् ।’

—अथानुसंगिक ३—३ ११—१५

“सर्वत पाणिपाद तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वत श्रुतिमन्त्रोके, सर्वमागृत्य तिष्ठति ॥”—अथानुसंगिक, १२ १२ ।

जैन-दृष्टिके अनुसार यह सर्वत अर्थात् है सर्वत आत्माकी महत्ता व प्रशंसाका मन्त्रक है । इस अर्थका अर्थ आचार वचनमनुष्ठानके चौधे ममयमें आत्माका लोच-व्यापी बनना है । यही बात उपाध्याय भीषरोविजयनाथे शास्त्रवात्तामसमुच्चयक ३.८८वें पृष्ठपर लिखी है ।

जैन वेत्तीय आत्मा कसौका शीघ्र भागनेकेलिये समुदात किया जाती जाती है जैसे ही पात-लग-योगदशानमें बहुकामनिमाणविधा होती है जिसको तरबसाचाहता योगी सोपक्रम कम शीघ्र भागनेके लिये करता है । —पात ३ म० २२वां माध्य तथा दृष्टि पात ४ म० ४८वां माध्य तथा दृष्टि ।

माननेवाले दोनों प्रकारके कामग्रन्थिक विद्वान् अवधिज्ञानसे अवधिदर्शनको अलग मानने हैं, पर विमर्शज्ञानसे नहीं । वे कहते हैं कि—

विशेष अवधि-उपयोगसे सामान्य अवधि उपयोग मिश्र है, इसलिये जिस प्रकार अवधि उपयोगवाले मन्वन्त्योंमें अवधिज्ञान और अवधिदर्शन दोनों अलग अलग हैं, इसी प्रकार अवधि उपयोगवाले भगवन्त्यों में विमर्शज्ञान और अवधिदर्शन ये दोनों वस्तुतः मिश्र हैं मही तथापि विमर्शज्ञान और अवधिदर्शन, उन दोनोंके पारस्परिक भेदकी अविवक्षामात्र हैं । भेद विवक्षित न रखनेका सबब दोनोंका सादृश्यमात्र है । अर्थात् जैसे विमर्शज्ञान विषयका अर्थ निश्चय नहीं कर सकता वैसे ही अवधिदर्शन सामान्यरूप होनेके कारण विषयका निश्चय नहीं कर सकता ।

इस अभेद विवक्षाके कारण पहले मतके अनुसार चौथे आदि नौ गुणस्थानोंमें और दूसरे मतके अनुसार तीसरे आदि दस गुणस्थानोंमें अवधिदर्शन समझना चाहिये ।

(४) सैद्धान्तिक विद्वान् विमर्शज्ञान और अवधिदर्शन दोनोंके भेदकी विवक्षा करने हैं अभेदकी नहीं । इसी कारण वे विमर्शज्ञानोंमें अवधिदर्शन मानते हैं । उनके मनमें केवल पहले गुणस्थानमें विमर्शज्ञानका सभाव है, दूसरे आदिमें नहीं । इसलिये वे दूसरे आदि ग्यारह गुणस्थानोंमें अवधिज्ञानके साथ और पहले गुणस्थानमें विमर्शज्ञानके साथ अवधिदर्शनका सादृश्य मानकर पहले बारह गुणस्थानोंमें अवधिदर्शन मानते हैं । अवधिज्ञानीके और विमर्शज्ञानीके दर्शनमें निराकारता अश समान ही है । इसलिये विमर्शज्ञानीके दर्शनकी विमर्शदर्शन के समान सदा न रखकर अवधिदर्शन ही मथा रक्खा है ।

सारांश कामग्रन्थिक पक्ष विमर्शज्ञान और अवधिदर्शन इन दोनोंके भेदकी विवक्षा नहीं करता और सैद्धान्तिक पक्ष करता है । —लोकप्रकाश मग ३ शीर २०५७ में भाग ।

इस मत भेदका उल्लेख विशेषणवती ग्रन्थमें गीर्जामद्रगणि छमाश्रमखने किया है त्रिम की सूचना प्रकाशना पद १८, पृष्ठ ४० (वनकक्षा) ५६६ पर है ।

## परिशिष्ट “घ” ।

### पृष्ठ ११७, पङ्क्ति १८के ‘काल’ शब्दपर—

काल के सम्बन्धमें जैन और वैदिक दोनों दर्शनोंमें करीब पाई हजार वर्ष पद्य बनाए जाते हैं । श्वेतम्बर ग्रन्थोंमें दोनों पद्य वर्णित हैं । दिगम्बर ग्रन्थोंमें एक ही बताया जाता है ।

(१) पहला पद्य कालका स्वयं प्रत्यक्ष द्रव्य नहीं मानता । वह मानता है कि जीव और अजीव द्रव्यका पर्याय प्रसाह ही काल है । इस पद्यके अनुसार जागतीव द्रव्यका पर्याय परिणाम ही उपचारम काय माना जाता है । इसलिये वस्तुतः जीव और अजावको ही काल द्रव्य समझना चाहिये । वह जनम जन्मग तरव नहीं है । यह पद्य ‘जावाभिगम’ आदि आगमोंमें है ।

(२) दूसरा पद्य कालको रसतन्त्र द्रव्य मानता है । वह कहता है कि जैसे जीव पुद्गल आदि स्वयं प्रत्यक्ष द्रव्य है वैसे ही काल भी । इसलिये इस पद्यके अनुसार कालको जीवकादिये पयाय प्रवाहरूप न समझकर जीवादिमें भिन्न तत्त्व ही समझना चाहिये । यह पद्य भगवती आदि आगमोंमें है ।

आगमोंमें बाइस ग्रन्थोंमें जैसे—तरवार्थसूत्रमें वाचक उमास्वातिने द्वात्रिंशिकां भी मिदमन्त्रियावरने विशेषावरवक मध्यमें श्रीनिभद्रवणि क्षमाधरणने धमसगहणीं श्रीहरि भद्रसरिने योगशास्त्रम श्रीश्वभद्रसूरिने द्रव्य गुण पर्यायका राममें श्रीउपाध्याय वरोविजयजीने लोकप्रसारमें श्रीवेनवज्रवज्रजीने और नयवज्रमार तथा आगमसारमें श्रीदेवराजीने आगम-गन उक्त दोनों पद्योंका उद्योग किया है । श्वेतम्बर-संप्रदायमें सिर्फ दूसरे पद्यका स्वीकार है जो सबमें पहिले श्रीश्वभद्रसूरिने ग्रन्थोंमें मिलता है । इसका बाद पूज्यपादरवामी महारक श्रीश्वभद्रदेव विद्यारम्भजी नेमिचन्द्र मिदमन्त्रग्रन्थों और रत्नाम्नीशान् आदिने भी उस एक ही पद्यका उद्योग किया है ।

पहले पद्यका तात्पर्य—पहला पद्य कहता है कि समय आवलितका सुत्त दिन-रात आदि का व्यवहार, काल साध्य बताया जाने है या नवीनता पुराणता ज्येष्ठता-कनिष्ठता आदि जो अवस्थाएँ काल साध्य बन गयी जाती हैं वे सब मिया विशेष (पयाय विशेष) के ही समेत हैं । जैसे—जीव या अजीवका जो पयाय अविभाज्य है, अर्थात् जुड़से भी निसका दूसरा हिस्सा नहीं हो सकता उस आखिरी अविमूर्त पयायको ‘ममय’ कहते हैं । येम असम्प्रात पयायोंके उत्तरा आगमिका कहते हैं । अनेक आगमिकाओंको मुहत्त और नीस मुहत्तको दिन-रात

होता पूर्व क ज्ञानक बिना शुद्धिज्ञानके प्रथम दो पाद प्राप्त नहीं होने और पूर्व इष्टिज्ञान एक हिस्सा है । यह मयोदा गान्धर्व निर्विवाद स्वीकृत है ।

“शुद्धे चाद्ये पूर्वविदः ।”

—सत्त्वार्थ प्र० १ पृ० १

इस कारण इष्टिज्ञानके अभ्ययनकी अनधिकारिणी लोको केवलज्ञानकी अधिकारिणी होने स्पष्ट विरुद्ध जान पड़ता है ।

इष्टिज्ञानके अनधिकारक कारणसे विषयमें ये पद हैं —

(क) पहला पद श्रीजिनमद्रूपसि चमाश्रमस्य आदिका है । इस पदमें खने गुण्य अभिमान श्रद्धि चक्षुष्य मनि मान्य आदि मानसिक मोह दिखाकर उसको इष्टिज्ञानके ज्ञानका निषेध किया है । इसकमिये देखिये निरा० भा ५५२वीं गाथा ।

(ख) दूसरा पद श्रीहरिभद्रसूरि आदिका है । इस पदमें अशुद्धिरूप शरीरिभक्त निरूपण उसका निषेध किया है । यथा —

‘कथं द्वादशाङ्गप्रतिषेधः ? तथाविधविग्रहे ततो दोषात् ।’

सत्त्वार्थविम्वरा पृ० १११

[नयन्त्रिमे विरोधका परिहार —] इष्टिज्ञानके अनधिकारसे लोको केवलज्ञानके दोष का कार्य-कारण भावका विरोध दीक्षता है वह वस्तुतः विरुद्ध नहीं है क्योंकि शास्त्र । इष्टिज्ञानके अर्थ ज्ञानकी योग्यता मानता है निषेध सिर्फ गान्धर्व अभ्ययनका है ।

‘श्रेणिपरिणतौ तु फालगभयद्भावतो मायोऽविरुद्ध एव ।’

—सत्त्वार्थविम्वरा तथा इसका श्रीमुनिमद्रूपसूरि हुए पक्षिका पृ० १

तब मन्वना आग्नि जब शानावरणीयका खयोपशम तीव्र हो जाता है तब शब्दिक अभ्ययनक सिवाय ही इष्टिज्ञानका सम्पूर्ण अवगान कर लेगी है और शुद्धिज्ञान दो पाद पाकर वचनज्ञानकी भी पा लेगी है—

“यदि च ‘शास्त्रयोगागम्यसामर्थ्ययोगावसयभावप्राप्तिसूक्ष्मेण तेषां विशिष्टक्षयोपशमप्रभवप्रभावयोगात् पूर्वधरस्येव बोधातिरेकसम्भवाद्वाशुद्धिज्ञानद्वयप्राप्ते केवलावामिवमेण मुक्तिप्राप्तिरिति’



अब रहा शाब्दिक अध्ययनका निषेध सो इसपर अनेक तर्क वितरक उत्पन्न होते हैं । यथा—निमित्तमें अर्थ ज्ञानकी योग्यता मान ली जाय उससे मित्र शाब्दिक अध्ययनकेलिये अयोग्य बनवाना क्या समझ है ? शब्द अर्थ ज्ञानका माधनमात्र है । तब भावना आदि अन्य माधनोमें जो अर्थ ज्ञान संपादन कर सकता है वह उस ज्ञानको शब्दद्वारा संपादन करनेकेलिये अयोग्य है वह कहना कहाँ तक समझ है ? शाब्दिक अध्ययनका निषेधकेलिये तुच्छत्व अभिमान आदि जो मानसिक-दोष सिद्धांतोंमें आते हैं वे क्या पुच्छतानिमित्त नहीं होते ? यदि विशिष्ट पुरुषोंमें वस्तु लोपोक्ता अभाव ज्ञानके कारण पुरुष-सामान्यकेलिये शाब्दिक अध्ययनका निषेध नहीं किया है तो क्या पुरुष तुच्छ विशिष्ट स्थितियोंका समझ नहीं है ? यदि समझ होता तो श्री मोक्षका वयन क्यों दिया जाता ? शाब्दिक अध्ययनकेलिये जो शारीरिक-दोषोंकी सम्भावना की गयी है वह भी क्या सब स्थितियोंको लागू पड़नी है ? यदि तुच्छ स्थितियोंको लागू पड़नी है तो क्या कुछ पुरुषोंमें भी शारीरिक अशुद्धि की सम्भावना नहीं है ? ऐसी दशा में पुरुषजातिको छोड़ कर आत्मिककेलिये शाब्दिक अध्ययनका निषेध किम अभिप्रायमें किया है ? इस तर्कापे सम्बन्धमें सत्त्वमें 'तना हा कहना है कि मानसिक या शारीरिक-दोष दिखाकर शाब्दिक अध्ययनका निषेध किया गया है वह प्रायिक तान पड़ता है अर्थात् विशिष्ट स्थितियोंकेलिये अध्ययनका निषेध नहीं है । 'तना' समझनेमें यह कहा जा सकता है कि जब विशिष्ट स्थितियों दृष्टिवात्का अर्थ ज्ञान बीतराभास केवलज्ञान और मोक्ष तत्त्व पानेमें समर्थ हो सकती है तो फिर उनमें मानसिक लोपोक्ता सम्भावना ही क्या है ? तथा वृद्ध अप्रमत्त और परमपवित्र आचारवान्नी स्थितियोंमें शारीरिक अशुद्धि कम बननाही जा सकती है ? अतः ही 'तना' अध्ययनकेलिये योग्य समझा जाता है । य पुरुष भी, जैसे —'शृङ्गार' तत्त्विका पुष्पमित्र आदि तुच्छत्व स्मृति-दोष आदि कारणोंमें दृष्टिवात्की रक्षा न कर सके ।

“तेण चिन्तिय भागणीण इट्ठि हरिमेमिच्छि मीहरूख विचच्छवह ।”

—भावश्यकवृत्ति १० ई०३१ ।

‘ततो आयरिण्हि दुच्चलियपुस्समित्तो तस्म वायणायरिण्हो टिण्णा, ततो सो कइवि दिवसे वायण दाउण आयरियमुवट्ठितो भणइ मम वायण देतस्स नासति, ज च सण्णायघरे नाणुप्पेहिंय, अतो मम अज्जरतस्स नवम पुट्ठ नासिदित्ति, ताहे आयरिया चित्तेति-जइ ताव एयस्स परममेहाविस्स एव शरतस्स नासइ अन्नस्स चिरनट्ठ येव ।’



देने काल अणुका एक समय-पर्यय व्यक्त होता है । अर्थात् समय हमारे प्रदेश तककी परमाणुकी मन्द गति इन दोनोंका परिमाण बराबर है ।  
 'अर प्रमोमे है ।

वस्तु-स्थिति क्या है — निश्चय-दृष्टिमें देखा जाय तो कालको अलग-  
 जकरत नहीं है । उसे जीवाजीवने पर्यायरूप माननेमें ही सब काय व सब व्यवहार  
 जाने है । इसलिये यहाँ पञ्च, सात्त्विक <sup>२</sup> । अथ पञ्च 'व्यावहारिक व औपचारिक है ।  
 मनुष्य छेत्र प्रमाण माननेका पञ्च स्थूल लोक-व्यवहारपर निर्भर है । और उसे अणुस्थ  
 पञ्च औपचारिक है देखा स्वैच्छा न किया जाय तो यह प्रश्न होता है कि जब मनुष्य  
 बाहर भी नवम्ब पुराणस्थ आदि मन्त्र होते हैं, तब फिर कालको मनुष्य क्षेत्रमें ही कैसे माना  
 मरना है ? हमारे यह माननेमें क्या सुक्ति है कि काल ज्योतिष् चक्रमें संचारकी  
 है ? यदि अनेका रचना भी हो तो क्या वह मक-व्यापी होकर ज्योतिष चक्रमें संचारकी मन्द  
 नहीं ले सकता ? इसलिये हमसे मनुष्य क्षेत्र प्रमाण माननेकी कल्पना स्थूल लोक-व्यवहारपर  
 निर्भर है — कालको अणुस्थ माननेकी कल्पना औपचारिक है । प्रत्येक पुत्रल परमाणुकी ही उप  
 चारमें कालाणु समन्वय चाहिये और कालाणु अग्रदशवने वयनकी मन्दति इनी तरह कर  
 लेनी चाहिये ।

देमा न मानकर कालाणुको स्वयं माननेमें प्रयत्न होता है कि यदि काल स्वयं द्रव्य  
 माना जाता है तो किन् वह धन अन्तिमपर्यन्त तरह स्वरूपमें क्यों नहीं माना जाता है ? 'मैंने  
 मिश्रण एक यह भी प्रश्न है कि जो प्रतीवने पर्यायमें तो निमित्तकारण समय पर्याय है । पर  
 समय पर्यायमें निमित्तकारण क्या है ? यदि वह स्वाभाविक होनेने अथ निमित्तकी अनेका नती  
 रचना तो फिर जीव-प्रतीवने पर्याय की स्वाभाविक क्यों न माने 'य' ? यदि समय पर्यायके  
 वाले अन्य निमित्तकी कल्पना का जाय तो अनवस्था आती है । इसलिये अनु-पक्षकी औपचा  
 रिक मानना ही ठीक है ।

वैश्वदर्शनमें कालक स्वरूप — वैदिकदर्शनमें भी कालक मन्त्रधर्म मुख्य दो पक्ष हैं ।  
 वैश्वदर्शन म ७ आ० ७ सूत्र १—१० तथा 'वायदर्शन का'को मन्त्रधारी ध्वनन्त्र द्रव्य  
 मानने हैं । साध्य म० ७ सूत्र १० दाग तथा वेदान्त आदि दान-कालको स्वयं द्रव्य न  
 मानकर उस प्रवृत्ति-मुख्य (नट-चैनन)का ही रूप मानते हैं । यह दूसरा पक्ष निश्चय-दृष्टि-मूलक  
 है और पहला पक्ष व्यवहार-मूलक ।

जैनदर्शनमें जिसको समय और दशानांतरोंमें जिसको 'वय' कहा है उसका स्वरूप  
 जाननेके लिये तथा 'काल' नामक कोई स्वयं वस्तु नहीं है वह केवल लौकिक-दृष्टि-लोक

एमी वस्तु मियनि होनेपर भी मियोंको ही अध्वपनरा निषेध क्यों किया गया ? इस प्रश्नका उत्तर । सरहमे दिया जा सकता है — (१) समान सामग्री निम्ननेपर भी पुष्पांक मुकाबिले मियका कम मरुयाने वाग्य होना ७ (२) प्रतिस्पर्धिक परिस्थिति ।

(१) — चिन परिभाषा दर्शोंमें मियोंको पड़ने आदिही सामग्री पुष्पोंके समान प्राप्त होती है वगैरह शनिदाम दरमने यही जग पड़ता है कि मियों पुष्पोंके तुल्य हो सकती है यह । पर दोषद व्यति शोंकी संगत स्वात्रा तभी अपने पुष्पानामिमें अधिक पायी जाती है ।


(२) — पुष्पाङ्क अध्वपनरीले प्रतिस्पर्धिक निम्ननेर आचरणोंने स्व पानिकों शारीरिक और मानसिक लेक कारण गीला तबकलिये अवोग्य ठहराया ।

“लिंगमिह य इत्थीण, यणतरे णाहिककयदेसमि ।

भणिओ सुहमो काओ, ताम फह होइ पव्वज्जा ॥”

—अष्टादश सूत्रपाठक गा० २४-२५ ।

और य प्र विज्ञानमें शारीरिक शुद्धिओ अम ग्यान दर्श रही और शुद्ध मानिकों नामा दन में अध्वपनरालये अनविशारी बनलाया —

“म्रीशुद्धौ नाधीयाता” 



## (३) — गुणस्थान अधिकार

### (१) — गुणस्थानोंमें जीवस्थान ।

सद्य जियठाण मिच्छे, सग सासणि पण अपज्ज ।  
समे सन्नी दुविहो, सेसेसुं संनिपज्जतो ॥ ४५ ॥

यथाणि जायस्थानानि मिथ्यात्वे, सत्त सासादने पञ्चापपांता उशिद्विफम् ।  
सम्भस्त्वे सही द्विविध, दोषेषु उशिपर्याप्त ॥ ४५ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वगुणस्थानमें सय जीवस्थान हैं । सासादनमें पाँच अपर्याप्त ( पाठर एकेन्द्रिय, द्वौन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असशि पञ्चेन्द्रिय ) तथा दो सही ( अपर्याप्त और पर्याप्त ) कुल सात जीवस्थान हैं । अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमें दो सही ( अपर्याप्त और पर्याप्त ) जीवस्थान हैं । उक्त तीनके सिवाय शेष ग्यारह गुणस्थानोंमें पर्याप्त सहीजीवस्थान है ॥ ४५ ॥

१—गुणस्थानमें जीवस्थानका जो विचार यहाँ है गोम्यसारमें समान भिन्न प्रकारका है । उसमें दूसरे छठ और तेरहवें गुणस्थानमें अपर्याप्त और पर्याप्त सही ये दो जीवस्थान माने हुए हैं ।

—जीव० गा० ६३८ ।

गोम्यसारका यह वर्णन अपेक्षाकृत है । कमपाण्डको ११२वीं गाथामें अपर्याप्त एकन्द्रिय द्वौन्द्रिय आदिको दूसरे गुणस्थानका अधिकारी मानकर उनको जीवकाएटमें रहने गुणस्थानप्रदा अधिकारी कहा है, सो तृतीय गुणस्थानवर्ती अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि जीवांसी अवतारांसी अपेक्षासे । दूठे गुणस्थानके अधिकारीको अपर्याप्त कहा है, सो आहारकमित्रकाय लोगकी अपेक्षासे ।

—जीवकाएट गा० १२६ ।

तेरहवें गुणस्थानके अधिकारी सब गो केवलको अपर्याप्त कहा है सो योगका अपर्याप्तकी अपेक्षासे ।

—जीवकाएट गा० १२५ ।

गुणस्थानमें) तेज, पद्म और शुद्ध, ये तीन लेश्याएँ हैं। आठवेंसे लेकर तेरहवें तक छह गुणस्थानोंमें केवल शुक्ललेश्या है। चौदहवें गुणस्थानमें कोई भी लेश्या नहीं है।

बन्ध हेतु—कर्म बन्धके चार हेतु हैं।—१ मिथ्यात्व, २ अविरति, ३ कपाय और ४ योग ॥ ५० ॥

भाषार्थ—प्रत्येक लेश्या, असद्व्याप्त लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अभ्यसायस्थान (सङ्कोश मिश्रित परिणाम) रूप है, इसलिये उसके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि उतने ही भेद समझने चाहिये। अतः पद्म रूप आदि अशुभ लेश्याओंको छूटे गुणस्थानमें अतिमन्दतम और पहले गुणस्थानमें अतितीव्रतम मान कर द्वादश गुणस्थानों तक उनका सम्बन्ध कहा गया है। सातवें गुणस्थानमें आर्त तथा रोद्र ध्यान न होनेके कारण परिणाम इतने विशुद्ध रहते हैं, जिससे उस गुणस्थानमें अशुभ लेश्याएँ सबंधा

इमं विवेकं श्रीजिनमद्रूपि समाप्तमणने भाष्यका २७४१मे ४० तरुनी पाथामोंमें श्रीजिमद्रूपिने अपनी टीकामें और मनभारा श्रीमचद्रूपिने भाष्यशक्तिम विस्तारपूर्वक किया है। इम विषयकनिये मोरप्रकाशने २२ मर्गक ३१३ मे ३२३ तकके श्लोक द्रष्टव्य ॥

चौथा गुणस्थान प्राप्त होनेक समय द्रव्यलेश्या शुभ और अशुभ दोनों मानी जाती है और भावनेरवा शुभ है। इसलिये यह रङ्गा होती है कि क्या अशुभ द्रव्यलेश्यावालोंकी भी शुभ भावनेरवा होती है ?

इमरा समाधान यह है कि द्रव्यलेश्या और भावनेरवाके सम्बन्धमें यह नियम नहीं है कि दोनों समान होनी चाहिये क्योंकि यद्यपि मनुष्य तिस्र जिनकी द्रव्यलेश्या अस्तिर होती है उनमें तो तैसी द्रव्यलेश्या घेमी हो भावनेरवा होती है। पर देव-नारक जिनकी द्रव्यलेश्या अवस्थित (रिवर) मानी गयी है उनक विषयमें इसमें उल्टा है। अर्थात् नारकोंमें अशुभ द्रव्यलेश्याके होने हुए भी भावनेरवा शुभ हो सकती है। इसी प्रकार शुभ द्रव्यलेश्यावाले देवोंमें भावनेरवा अशुभ भी हो सकती है। इस बातको सुशामे १ मयमनेनलिय प्रशङ्कनाका १७वाँ पद तथा उसकी टीका देखनी चाहिये।

भाषार्थ—एकेन्द्रियादि सब प्रकारके सत्तारों जीव मिथ्यावा  
पाये जाते हैं, इसलिये पहले गुणस्थानमें सब जीवस्थान कहे गये हैं।  
हमारे गुणस्थानमें सात औषस्थान ऊपर कहे गये हैं, उनमें  
छद्म अपयाप्त है, जो समी करण अपर्याप्त खममून चाहिये, क्योंकि  
तत्पि अपर्याप्त जाय, पहले गुणस्थानधाते ही होते हैं ।

चौथ गुणस्थानमें अपर्याप्त सभी कहे गये हैं, तो भी उक्त कार  
णसे करण अपर्याप्त ही समझने चाहिये ।

पश्चात् सत्तोंके सिवाय अन्य किसी प्रकारके जीवमें ऐसे परि  
णाम नहीं होते, जिनसे ये पहले, दूसरे और चौथेको छोड़कर  
शुद्ध ग्यारह गुणस्थानोंको पा सकें । इसीलिये इन ग्यारह गुण  
स्थानोंमें केवल पचास सत्तोंको जीवस्थान माना गया है ॥ ४४ ॥

(४-५)-गुणस्थानोंमें लेश्या तथा बन्ध-हेतु ।

छसु सन्धा तेजतिग, इगि छसु सुक्का अयोगि अल्लेसा ।

यधस्स मिच्छ अविरह, -कसायजोगत्ति चउ हेऊ ॥५०॥

पट्सु सवास्तेषस्त्रिकमेकस्मिन् पट्सु शुक्काऽयोगिनोऽल्लेसा ।

वधस्स विस्थात्वाविरातकपाययोगा इति चत्वारो इत्यथ ॥ ५० ॥

अर्थ—पहले छह गुणस्थानोंमें छह लेश्याएँ हैं । एक ( सातव

१—गुणस्थानोंमें लेखा या लेखामें गुणस्थान माननेक सम्बन्धन दा मन बले जाने है । पहला मन पट्टी चार गुणस्थानोंमें छह लेश्याएँ और दूसरा मन पहले छह गुणस्थानोंमें छह लेश्याएँ मानता है । पहला मत पञ्चमग्रह शा० १ गा ३०, प्राचीन बन्धस्वामिच गा ४०, नवांग बन्धस्वामिच गा २५ तत्त्वार्थसिद्धि पृ० २४ और गौड्यनार-जीवकाण्ड गा० ७०। रोके माकाधमें है । दूसरा मन प्राचीन अनुध कर्मग्रन्थ गा ७३ में तथा यहाँ है । दोनों मत अपेक्षा इन हैं बल इनमें कुछ भी विरोध नहीं है ।

पहले मनका आशय यह है कि द्वादशों प्रकारकी द्रव्यलेश्याओंकी श्रीया गुणस्थान प्राप्त होता है पर पचवीं वा द्वादश गुणस्थान भिन्न तीन शुभ द्रव्यलेश्यावालोंकी । इसलिये गुणस्थान प्राप्तिमें समय बतमान द्रव्यलेश्याकी अपेक्षास गये गुणस्थान पदन्त छह लेश्याएँ माननी चाहिये और पाँचवे और द्वादश तीन ही ।

दूसरे मनका आशय यह है कि यद्यपि द्वादश लेश्याओंक समय काया गुणस्थान और तीन शुभ द्रव्यलेश्याओंक समय पाँचवीं और द्वादश गुणस्थान प्राप्त होता है परन्तु प्राप्त होनेके बाद पाँचवे और द्वादश तीनों गुणस्थानवालोंमें द्वादश द्रव्यलेश्याएँ पायी जाती हैं । इसलिये गुणस्थान प्राप्तके उत्तर कालमें बतमान द्रव्यलेश्याओंकी अपेक्षामें द्वादश गुणस्थान पदन्त छह लेश्याएँ मानी जाती हैं ।

इस पण्डित यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि श्रीया पाँचवीं और द्वादश गुणस्थान प्राप्त होनेक समय भावलेखा ती शुभ ही होती है अनुम नहाँ पर प्राप्त होनेके बाद भावलेखा भी अनुम है ।

"सम्मत्तसुय सन्धा सु, लहइ, सुद्धासु तीसु य चरित्त ।

पुण, अण्णयरीए च लेसाए ।"

नियुक्ति गा० ८२२ ।

## (२)—गुणस्थानोंमें योग

[दो गाथाओंसे ।]

मिच्छद्गुणअजह जोगा, - हारदुगुणा ७  
मणयह उरल सविउ, - व्व मीसि १३ ७,

मिथ्यात्वदिकायते योगा, आहारकद्विकोना अपूषपञ्चके ७  
मनोवच औदारिक सवैक्रिय मिभे सवैक्रियादिक देणे ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, सासादन और नमें आहारक छिकको छोडकर तेरह योग हैं । पाँच गुणस्थानोंमें चार भाषे चार धचनके और एक ये नौ योग हैं । मिथ्यगुणस्थानमें उक्त नौ तथा एक वैक्रिय, ये योग हैं । देशविरतगुणस्थानमें उक्त नौ तथा वैक्रिय दिक, कुल ग्यारह योग हैं ॥ ४२ ॥

भावार्थ—पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थानमें तेरह योग इस प्रकार हैं—कर्मणयोग, विग्रहातिमें तथा उत्पत्तिके प्रथम समयमें, वैक्रियमिथ और औदारिकमिथ, ये दो योग उत्पत्तिके प्रथम समयके अनन्तर अवस्था अवस्थामें और चार मनके, चार धचनके, एक औदारिक तथा एक वैक्रिय, ये दस योग पर्याप्त अवस्थामें । आहारक और आहारकमिथ, ये दो योग चारित्र सापेक्ष होनेके कारण उक्त तीन गुणस्थानोंमें नहीं होते ।

१—गुणस्थानोंमें योग विषयक विचार ऐसा यहाँ है वैसे ही पञ्चसूत्र भा० १ गा० १६—  
= तथा प्राचीन बहुत कर्मग्रन्थ गा० ६६—६६ में है ।

गोमटमारमें कुछ विचार भेद है । उन्में पाँचवें और मानवें गुणस्थानमें नौ और छठे स्थानमें ग्यारह योग माने हैं ।  
—मी० गा० ७०३ ।



मिथ्यात्वमोहनीयकर्मके उदयसे होता है और जिससे कदाग्रह, सशय आदि दोष पैदा होते हैं । ( २ ) 'अचिरति', वह परिणाम है, जो अप्रत्याख्यानावरणकपायके उदयसे होता है और जो चारित्र्यको रोकता है । ( ३ ) 'कपाय', वह परिणाम है, जो चारित्र्यमोहनीयके उदयसे होता है और जिससे क्षमा, विनय, सरलता, सतोष, गम्भीरता आदि गुण प्रगट होने नहीं पाते या बहुत कम प्रमाणमें प्रकट होते हैं । ( ४ ) 'याग', आत्म प्रदेशोंके परिस्पन्द (चाञ्चल्य) को कहते हैं, जो मन, ध्यान या शरीरके योग्य पुद्गलोंके आलम्बनसे होता है ॥ ५० ॥

यन्ध-हेतुओंके उत्तरभेद तथा गुणस्थानोंमें  
मूल यन्ध-हेतु ।

[ दो गाथाओंमें । ]

अभिग्राहियमणमिग्राहिया, भिनिवेशियससहयमणमोगं  
पण मिच्छ दार आविरह, मणरुणानियमु छजियवहो ५१

आभिग्राहिकमनाभिग्राहिकाभिनिवेशिकासाशयिकमनाभोगम् ।

पञ्चमिध्यात नि द्वादशाविस्तयो, मन करणानिषम पङ्जीवय ॥५१॥

अर्थ—मिथ्यात्वके पाँच भेद हैं—१ आभिग्राहिक, २ अनाभिग्राहिक, ३ आभिनिवेशिक, ४ साशयिक और ५ अनाभोग ।

१—य विषय एवमग्रह १० ४री २ मे ४ तकका गाथाओंमें तथा गोमन्तार-कम कागन्ती ७८६ से ७८८ तककी गाथाओंमें है ।

गोमन्तारमें मिथ्यात्वक १ अग्रह २ विनीत ३ वैयर्थिक ४ साशयिक और ५ अज्ञान ये पाँच प्रकार हैं ।

—जी०, गा० १५ ।

अचिरतिवैयर्थ्ये जीवनादिकी २८ तथा ४७७वीं गाथा और कपाय व योगवैयर्थ्ये कमरा उमकी कपाय व योगमारा दायनी चाहिये । तत्सार्थक ८२ अध्यायके १२ मन्त्रक भाष्यमें निन्दान्वय अभिगृहीत और अनभिगृहीत, ये दो ही भेद हैं ।

भावार्थ—एकेन्द्रियादि सब प्रकारके ससारी जीव मिथ्यात्वो पाये जाते हैं, इसलिये पहले गुणस्थानमें सब जीवस्थान कहे गये हैं।

दूसरे गुणस्थानमें सात जीवस्थान ऊपर कहे गये हैं, उनमें छह अपर्याप्त हैं, जो समी करण अपर्याप्त समझने चाहिये, क्योंकि तन्धि अपर्याप्त जीव, पहले गुणस्थानवाले ही होते हैं ।

चौथे गुणस्थानमें अपर्याप्त सत्ता कहे गये हैं, सो भी उक्त कारणसे करण अपर्याप्त ही समझने चाहिये ।

पर्याप्त सत्ताके सिवाय अन्य किसी प्रकारके जीवमें ऐसे परिणाम नहीं होते, जिनसे वे पहले, दूसरे और चौथेको छोड़कर शेष ग्यारह गुणस्थानोंको पा सकें। इसीलिये इन ग्यारह गुणस्थानोंमें केवल पर्याप्त सत्ता जीवस्थान माना गया है ॥ ५५ ॥



नहीं होती, किन्तु तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं । पहले गुणस्थानमें तेज और पद्म लेश्याको अतिमन्दतम और सातवें गुणस्थानमें अति तीव्रतम, इसी प्रकार शुक्ललेश्याको भी पहले गुणस्थानमें अति मन्दतम और तेरहवेंमें अतितीव्रतम मानकर उपर्युक्त रीतिसे गुण स्थानोंमें उनका सम्बन्ध बतलाया गया है ।

चार बन्ध हेतु—(१) 'मिथ्यात्व', आत्माका यह परिणाम है जो

१—ये ही चार बन्ध हेतु पञ्चमऽह—१) ४वीं १९वीं गाथा तथा कमलागन्धी ७७६वीं गाथामें है । यत्रि तरंगवले ८वें ३० पादक (ले सुत्रमें एक चार हेतुओं) अतिरिक्त प्रमाणों भी बन्ध हेतु माना है परन्तु उमरा समावेश अविरति कषाय आदि हेतुओंमें ही माना है । जैसे —विषय-सेवनरूप प्रमाण अविरति और लज्जा प्रवागरूप प्रमाण योग है । वस्तुतः कषाय और योग वे भी ही बन्धहेतु समझने चाहिये क्योंकि मिथ्यात्व और अविरति कषायके ही कारण हैं । इसी अभिप्रायमें पूर्ववर्त्तनप्रश्नकी १६वीं गाथामें दो ही बन्ध हेतु माने गये हैं ।

इस तरह कम-बन्धक सामान्य हेतु दिखाय द सा निश्चयवृष्टिमें अत एव उन्हें अन्तरज हेतु समझना चाहिये । पहले कमप्रश्न १४३ ६१ तककी गाथाओंमें तन्त्राद्यके द्वे प्रत्याक्षये १) म २ तकके सुत्रमें तथा कमलागन्धी ८०० स ८१ तककी गाथाओंमें हर एक कर्मवै कलगत अतः बन्ध हेतु कहे हुए हैं जो व्यवहारवृष्टिसे अत एव उन्हें बहिराद् हेतु समझना चाहिये ।

साक्षात्—प्रत्येक समयमें आशुत निवास मान कर्मोंका बाँधा जाना प्रशङ्कनाय २४वें पदमें कहा गया है इस लिये ज्ञान ज्ञानी आशुत प्रदूष वा धनका निहव करी समय भी ज्ञाना वरणीय दर्शनावरणीयकी तरह अन्य कर्मोंका बन्ध होता ही है । इस अवस्थामें 'तत्' पतिव्रत अति नरकवर्क २८ अध्यायके ११ मे २६ तकके सर्गोंमें कहे हुए आशुत शानावरणीय और दर्शनावरणीय आ ३ कमव निरूप हेतु कैसे कह आ सकते ह ?

समाधान—तन्त्रादिनिहव आदि आसक्तोंकी प्रत्येक कर्मका जो विशेष विशेष हेतु कहा है सो अनुमागबन्धः अपेक्षाम प्रवृत्तिवचकी अपेक्षामें नहै । अर्थात् किसी भी आसक्त के सेवक के समय प्रवृत्तिवच सब प्रकारका होता है । अनुमागबन्धमें फर्क है । जैसे —ज्ञान ज्ञानी ज्ञानो-पकरण आशुत प्रदूष करने पर समय ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीयकी तरह अन्य प्रवृत्तियों का बन्ध होगा वर एव समय अनुमागबन्ध विशेषरूपसे ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कमका ही माना है । साक्षात् विशेष हेतुओंका विभाग अनुमागबन्धकी अपेक्षासे किया गया है प्रवृत्तिवचकी अपेक्षासे नहै ।

—तत्प्राप्त म० ६ सू० २७की संग्रह मन्त्रि ।



प्रकारका, इसी तरह गुरु और धर्मके विषयमें सदेह शील बने रहना 'साशयिकमिध्यात्व' है । (५) विचार व विशेष ज्ञानका अभाव अर्थात् मोहकी प्रगाढतम अवस्था 'अनाभोगमिध्यात्व' है । इन पाँच मेंसे आभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक, ये दो मिध्यात्व, गुरु हैं और शेष तीन लघु, क्योंकि ये दोनों विपर्यासरूप होनेसे तीव्र क्लेशके कारण हैं और शेष तीन विपर्यासरूप न होनेसे तीव्र क्लेशके कारण नहीं हैं ।

मनको अपने विषयमें स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवृत्ति करने देना मन अविरति है । इसी प्रकार त्वचा, जिह्वा आदि पाँच इन्द्रियोंकी अविरतिको भी समझ लेना चाहिये । पृथ्वीकायिक जीवोंकी हिंसा करना पृथ्वीकाय अविरति है । शेष पाँच कार्योंकी अविरतिको इसी प्रकार समझ लेना चाहिये । ये बारह अविरतियाँ मुख्य हैं । मृषा वाद अविरति, अदत्तादान अविरति आदि सब अविरतिओंका समावेश इन बारहमें ही हो जाता है ।

मिध्यात्वमोहनीयकर्मका ओषधिक परिणाम ही मुख्यतया मिध्यान्य कहलाता है । परन्तु इस जगह उससे होनेवाली आभिग्रहिक आदि बाह्य प्रवृत्तिओंको मिध्यात्व कहा है, सो कार्य कारणके भेदकी विद्यत्ता न करके । इसी तरह अविरति, एक प्रकारका काया

१—महम विपर्यया सशय उच्च-कोटिके साधुभागे भी पाया जाता है पर वह मिध्यात्व रूप नहीं है क्योंकि अतल —

“तमेव सद्य णीसक, ज जिणेहि पवेइय ।”

इत्यादि भावनासे आगमको प्रमाण मानकर जमे मंत्राद्योंका निवर्तन किया जाता है । इसलिये जो सराय आगम प्रामाण्यके द्वारा भी निवृत्त नहीं होता वह अतल अनाभारका उत्पादक होनेके कारण मिध्यात्वरूप है ।

—धर्मसमग्र १० ५१ ।

२—वह अकेन्द्रिय आदि सुदृढ जन्तुमर्म और मृदु प्राणिमर्म होता है ।

—धर्मसमग्र १० ५० ।

आठवेंसे लेकर बारहवें तक पाँच गुणस्थानोंमें छह योग नहीं हैं, क्योंकि ये गुणस्थान विग्रहगति और अपर्याप्त अवस्थामें नहीं पाये जाते । अत एव इनमें कामण और औदारिकमिथ्र, ये दो योग नहीं होते तथा ये गुणस्थान अप्रमत्त अवस्था भावी हैं । अत एव इनमें प्रमादजन्य लब्धि प्रयोग न होनेके कारण वैक्रिय द्विक और आहारक द्विक ये चार योग भी नहीं होते ।

तीसरे गुणस्थानमें आहारक द्विक, औदारिकमिथ्र, वैक्रियमिथ्र और कामण, इन पाँचके सिवाय शेष दस योग हैं ।

आहारक द्विक मयम सापेक्ष होनेके कारण नहीं होता और औदारिकमिथ्र आदि तीन योग अपर्याप्त अवस्था भावी होनेके कारण नहीं होते, क्योंकि अपर्याप्त अवस्थामें तीसरे गुणस्थानका सम्भव ही नहीं है ।

यह शङ्का होती है कि अपर्याप्त अवस्था भावी वैक्रियमिथ्रका ययोग, जो देव और गरकोंको होना है, वह तीसरे गुणस्थानमें मले ही न माना जाय, पर जिस वैक्रियमिथ्रकाययोगका सम्भव वैक्रियलब्धि धारी पर्याप्त मनुष्य तिर्यञ्चोंमें है, वह उस गुणस्थानमें क्यों न माना जाय ?

इसका समाधान भीमलयरिगिरिसूरि प्रादिने यह दिया है कि सम्प्रदाय नष्ट हो जानेसे वैक्रियमिथ्रकाययोग न माने जानेका

१८ अज्ञात है तथापि यह जान पड़ता है कि वैक्रियलब्धियाँ तिर्यञ्च तीसरे गुणस्थानके समय वैक्रियलब्धिका प्रयोग कर बनाते न होंगे ।

देशविरतियाँ वैक्रियलब्धि-सम्पन्न मनुष्य व तिर्यञ्च वैक्रिय बनाते हैं इसलिये उनके वैक्रिय और वैक्रियमिथ्र, ये दो योग

अविरतिके पारह भेद है । जैसे —मन ओर पाँच इन्द्रियाँ, इन छहको नियममें रखना, ये छह तथा पृथ्वीकाय आदि छह कार्योंका पथ करना ये छह ॥५७॥

भाषाथ—(१) तरुनी परीक्षा किये बिना ही किसी एक सिद्धांतका पक्षपात करके अथ पक्षका पक्षपन करना 'आभिप्रहितमिच्छात्' है । (२) गुण-दोषकी परीक्षा बिना किये ही सब पक्षोंको धरावर समझना 'अनाभिप्रहितमिच्छात्' है । (३) अपने पक्षको असत्य जानकर भी उसकी स्थापना करनेकेलिये दुरमिनिवेश (दुराग्रह) करना 'आभिनिवेशिकमिच्छात्' है । (४) ऐसा देव होगा या अन्य

१—सम्भारवी कृ वि ११ १६६ सिद्धांतका पक्षपात नहीं करता अतः भी पक्षि न परीक्षापुनः किमी एक पक्षको मानकर अन्य पक्षका खयान करता है वह आभिप्रहित नहीं है । न गुणधारमात्रग परीक्षो जन (उभयवा) मानकर तरुनी परीक्षा नहीं करता वह न माने न न पर नु पक्षपन आभिप्रहितमिच्छात् है । मपक्षप गुण आदिकी तरह तरु परीक्षा व नने स्वयं असमय लाभ यदि गताथ (यथा परीक्षक) व अभिन हो तो उन्हें आभिप्रहितमिच्छात् भी नहीं समझें क्योंकि गताथ आशय रहनेसे मिच्छा पक्षपात का समझ नहीं आता ।

—धर्मसंग्रह पृ. ४९

२—यत् मन्दबुद्धिवाले व परीक्षा करनेमें असमय साथ रख लेंगेमें पाया जाता है । पक्षपात अवगमन कला करने हैं कि सब धर्म बरबर है ।

३—अभिनिवेशिकमिच्छात् १ रहनेके कारण या भाग २ राँवकी गलतीके कारण निमकी अज्ञा विवरण हो जाता है वह आभिनिवेशिकमिच्छात् भी नहीं है क्योंकि यथाथ-वक्ता मिलनेपर जमाने दिया तात्त्विक बन जाती है अर्थात् यथाथ-वक्ता मिलनेपर भी यद्वाका विपरीत बना रहना दुरमिनिवेश है । यदि श्रीमिच्छमेत निराकर श्रीनिजसद्वर्ण्य छमात्रमल आदि आचार्यों ने अपने अपने पक्षका समर्थन व ऊँचुन बुद्ध कथा है तथापि उन्हें आभिनिवेशिकमिच्छात् नहीं का सही तथापि उन्होंने अविच्छिन्न अवचनक परपक्ष काधारपर राख-नात्यर्थको अपने अपने पक्ष के अनुकूल समझकर वही अपने पक्षका समर्थन किया है पक्षपात नहीं । इसका विपरीत जगति गेहमाहित आदि शास्त्र-ग्रन्थों के स्वयंके प्रतिकूल जानने हुए भी निम-व्यथा सत्य न किंवा इच्छिते वे आभिनिवेशिक कहे जाते हैं । —धर्म० पृ. ४० ।

चार मनके, चार ध्वनके और एक औदारिक, ये नौ योग मनुष्य तिर्यश्चकेलिये साधारण हैं । अत एव पाँचवें गुणस्थानमें कुल ग्यारह योग समझने चाहिये । उसमें सर्वधिरति न होनेके कारण दो आहारक और अपर्याप्त अवस्था न होनेके कारण कामण और औदारिकमिथ, ये दो, कुल चार योग नहीं होते ॥ ४६ ॥

साक्षरदुग्ध पमत्ते, ते विडवाहारमीस विष्णु इयरे ।  
कम्मुदलदुग्गताइम,—मणवयण सयोगि न अजोगी ॥४७॥

साक्षरद्विक प्रमत्ते, ते वैक्रियाहारकमिथ विनेतरस्मिन् ।  
कामणौदारिकद्विका तादिममनोवचन सयोगिनि नायोगिनि ॥

अर्थ—प्रमत्तगुणस्थानमें अपिपतिगुण  
आहारक द्विक, कुल तेरह योग हैं ।  
तेरहमेंसे वैक्रियमिथ और आहारकमिथको  
योग हैं । सयोगिके उल्लिख्यगुणस्थानमें कामण,  
मनोयोग, असत्यामृपमनोग, सत्यवचनयोग  
ध्वनयोग, ये सात योग हैं ।  
योग नहीं होता—योगका सर्वथा अभाव है ॥ ४७ ॥

भावार्थ—छठे गुणस्थानमें तेरह योग कहे गये  
चार मनके, चार ध्वनके और एक औदारिक, ये  
मुनियोंके साधारण हैं और वैक्रिय द्विक तथा  
चार योग वैक्रियशरीर या आहारकशरीर बतानेवाले  
मुनियोंके ही होते हैं ।

वैक्रियमिथ और आहारकमिथ, ये दो योग, वैक्रिय  
आहारकशरीरका आरम्भ तथा परित्याग करनेके समय  
हैं, जब कि प्रमाद अवस्था होती है । पर सातवाँ गुण



दूसरे आदि चार गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वोदयके सिवाय अन्य सब हेतु रहते हैं इससे उस समय होनेवाले कर्म-बन्धनमें तीन कारण माने जाते हैं । छुटे आदि पाँच गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वकी तरह अविरति भी नहीं है, इसलिये उस समय होनेवाले कर्म-बन्धनमें कपाय और योग, ये दो ही हेतु माने जाते हैं । ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानोंमें कपाय भी नहीं होता, इस कारण उस समय होनेवाले बन्धनमें सिर्फ योग ही कारण माना जाता है । चौदहवें गुणस्थानमें योगका भी अभाव हो जाता है, अतः एव उसमें बन्धका एक भी कारण नहीं रहता ॥५॥

एक सौ बीस प्रकृतियोंके यथासंभव मूल बन्ध हेतु ।  
चउमिच्छमिच्छअविरट्,—पच्चइया सायसोलपणतीसा ।  
जोग विणु तिपच्चइया,—हारगजिणवज्ज संसाओ ॥५॥

चतुर्मिथ्यामय्याऽविरतिप्रत्यायका सातपाड्यपञ्चविंशत ।

योगान् यथा विप्रत्यायका आहारकनिवन्धेया ॥५॥

अर्थ—सातवेदनीयका बन्ध मिथ्यात्व आदि चारों हेतुओंसे होता है । नरक त्रिक आदि सोलह प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यात्वमात्र से होता है । तिर्यश्च गिक आदि पंतीस प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यात्व और अविरति, इन दो हेतुओंसे होता है । तोर्धद्वार और आहारक द्विकको छोड़कर शेष सब (ज्ञानावरणीय आदि पंसठ) प्रकृतियोंका बन्ध, मिथ्यात्व, अविरति और कपाय, इन तीन हेतुओंसे होता है ॥५॥

भाचार्य—बन्ध योग्य प्रकृतियों एक सौ बीस हैं । इनमेंसे सात वेदनीयका बन्ध चतुर्हेतुक (चारों हेतुओंसे होनेवाला) कहा गया है । सो इस अपेक्षासे कि यह पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्वसे, दूसरे आदि चार गुणस्थानोंमें अविरतिसे, छुटे आदि चार गुणस्थानोंमें

मत्त अवस्था भावी है, इसलिये उसमें छूटे गुणस्थानवाले तेरह योगोंमेंसे उक्त दो योगोंको छोड़कर ग्यारह योग माने गये हैं। वैक्रियशरीर या आहारकशरीर बना लेनेपर अप्रमत्त अवस्थाका भी समय है, इसलिये अप्रमत्तगुणस्थानके योगोंमें वैक्रियकाययोग और आहारककाययोगकी गणना है।

सयोगिकेवलीको केवलिसमुद्घातके समय कर्मण और ओदारिकमिथ्र, ये दो योग, अन्य सब समयमें औदारिककाययोग, अनुनर विमानवासी देव आदिके प्रशंसा मनसे उत्तर देनेके समय दो मनोयोग और देशना देनेके समय दो वचनयोग होते हैं। इसीसे तेरहवें गुणस्थानमें सात योग माने गये हैं।

केवली भगवान् सब योगोंका निरोध करके अयोगि अवस्था प्राप्त करते हैं, इसीलिये चौदहवें गुणस्थानमें योगोंका अभाव है ॥४७॥

यिक परिणाम ही है, परन्तु कारणसे कार्यको भिन्न न मानकर इस जगह मनोऽसयम आदिकी अविरति कहा है। देखा जाता है कि मन आदिका असयम या जीव हिंसा ये सब कपाय जय ही हैं ॥५१॥

नव सोल फसाया पन, - र जोग इय उत्तरा ३ सगवन्ना ।  
इगचउपणतिगुणेषु, चउतिदुइगपचओ यधो ॥५२॥

नव पोहण कषाय पञ्चदश योगा इत्युत्तरालु सतपञ्चाशत् ।

एकचतुष्पञ्चगुणेषु, चतुस्त्रिंशेकप्रत्ययो वच ॥५२॥

अर्थ—कपायके नौ और सोलह, कुल पच्चीस भेद हैं। योगके पद्रह भेद हैं। इस प्रकार सब मिलाकर बन्ध हेतुओंके उत्तर भेद सत्तावन होते हैं।

एक (पहले) गुणस्थानमें चारों हेतुओंसे बन्ध होता है। दूसरेसे पाँचवें तक चार गुणस्थानोंमें तीन हेतुओंसे छठेसे दसवें तक पाँच गुणस्थानोंमें दो हेतुओंसे और ग्यारहवेंसे तेरहवें तक तीन गुणस्थानोंमें एक हेतुसे बन्ध होना है ॥ ५२॥

भाषा—हास्य, रति आदि नौ भोकपाय और अनन्तानुबन्धी प्रोष आदि सोलह कपाय हैं, जो पहले कर्मग्रन्थमें कहे जा चुके हैं। कपायके सहचारी तथा उत्तेजक होनेके कारण हास्य आदि नौ, कहलाते 'भोकपाय' हैं, पर हैं ये कपाय ही।

पद्रह योगोंका निम्नात्पूयक गणन पहिले २५२। गायामें हो चुका है। पच्चीस कपाय, पद्रह योग और पूर्व गायामें कहे हुए पाँच मिथ्यात्व तथा चारह अविरतियाँ, ये सब मिलाकर सत्तावन बन्ध हेतु हुए।

**गुणस्थानोंमें मूल बन्ध-हेतु ।**

पहले गुणस्थानके समय मिथ्यात्व आदि चारों हेतु पाये जाते हैं, इसलिये उस समय होनेवाले कर्म-बन्धमें ये चारों कारण हैं।

५, दोनों समय वैक्रियमिथ और आहारकमिथका व्यवहार चाहिये, औदारिकमिथका नहीं ।

६) —सिद्धान्ती, एकेन्द्रियोंमें सासादनगुणस्थानको नहीं पर कर्मग्रन्थिक मानते हैं ।

७ विषयोंके सित्राय अन्य विषयोंमें भी वहाँ कहीं मत भेद है —

१) सिद्धान्ती, अवधिदर्शनको पहले बारह गुणस्थानोंमें मानते कर्मग्रन्थिक उसे चौथेसे बारहवें तक नौ गुणस्थानोंमें, ( २ ) त्तमें ग्रन्थि भेदके अतन्तर सायोपशमिकसम्यक्त्वका होना गया है, किन्तु कर्मग्रन्थमें औपशमिकसम्यक्त्वका होना ॥४६॥



५—भगवती प्रहापना और जीवामिगमसूत्रमें एन्द्रियोंको भजानी हो कहा है । इसमें है कि जामें सासादन भाव सिद्धान्त सम्मन नहा है । यदि सम्मन होना तो इंद्रिय केको तरह एकेन्द्रियोंको भी जानी कहने ।

६ ' एगिंदियाण भते ' किं नाणी अण्णाणी ? गोयमा ! नो नाणी, अन्नाणी ।"

—भगवती ग० पृ ७०२ ।

७—यमें सामान्य भाव माननेका कामग्रन्थिक मत पञ्चसग्रहमें निर्दिष्ट है । यथा —

' गिलेसु जुयल' इत्यादि ।

—दा० १ पा० २२ ।

८—यमें सैदान्तिक और कामग्रन्थिक दोनों मत समुद्भूत है । बयकापडकी देखनेमें एकेन्द्रियोंमें सासादन भावका स्वीकार स्पष्ट मालूम होता है । यत्रकी सर्वार्थमिद्धिमें तथा जीवकापडकी ६७७वीं गद्यामें सैदा-

दूसरे आदि चार गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वोदयके सिपाय अन्य सब हेतु रहते हैं, इससे उस समय होनेवाले कर्म-बन्धनमें तीन कारण माने जाते हैं । छठे आदि पाँच गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वकी तरह अघिरति भी नहीं है, इसलिये उस समय होनेवाले कर्म-बन्धमें कपाय और योग, ये दो ही हेतु माने जाते हैं । ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानोंमें कपाय भी नहीं होता, इस कारण उस समय होनेवाले बन्धमें सिर्फ योग ही कारण माना जाता है । चौदहवें गुणस्थानमें योगका भी प्रभाव हो जाता है, अतः पर उसमें बन्धका एक भी कारण नहीं रहता ॥५८॥

एक सौ बीस प्रकृतियोंके यथासम्भव मूल बन्ध हेतु ।  
चउमिच्छमिच्छअघिरह, - पचइया सायसोलपणतीसा ।  
जोग विणु तिपचइया, - हागगजिणवज्ज सेसाओ ॥५९॥

चतुर्मिथ्यामिथ्याऽवरतिप्रत्यायका सातपाडधपञ्चविंशत ।

योगान् षणा त्रिप्रत्यायका आहारकमिनववशपा ॥५९॥

अर्थ—सातवेदनीयका बन्ध मिथ्यात्व आदि चारों हेतुओंसे होता है । नरक त्रिक आदि सोलह प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यात्वमात्र से होता है । तिर्यश्च गिक आदि पैंतीस प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यात्व और अघिरति, इन दो हेतुओंसे होता है । तीर्थङ्कर और आहारक द्विकको छोड़कर शेष सब (क्षानावरणीय आदि पैंसठ) प्रकृतियोंका बन्ध, मिथ्यात्व, अघिरति और कपाय, इनतीन हेतुओंसे होता है ॥५९॥

भाषार्थ—बन्ध योग्य प्रकृतियाँ एक सौ बीस हैं । इनमेंसे सात वेदनीयका बन्ध चतुर्हेतुक (चारों हेतुओंसे होनेवाला) कहा गया है । सो इस अपेक्षासे कि वह पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्वसे, दूसरे आदि चार गुणस्थानोंमें अघिरतिसे, छठे आदि चार गुणस्थानोंमें

(ख) सिद्धान्तका मानना है कि लब्धिद्वारा वैक्रिय और आहारक शरीर बनाते समय औदारिकमिश्रकाययोग होता है, पर त्यागत समय क्रमसे वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र होता है। इसके स्थानमें कर्मग्रन्थका मानना है कि उक्त दोनों शरीर बनाते तथा त्यागते समय क्रमसे वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र योग ही होता है, औदारिकमिश्र नहीं। सिद्धान्तका आशय यह है कि लब्धिसे वैक्रिय या आहारक शरीर बनाया जाता है, उस समय इन शरीरोंके वाय्व पुद्गल, औदारिकशरीरकेद्वारा ही ग्रहण किये जाते हैं, इसलिये औदारिकशरीरकी प्रधानता होनेके कारण उक्त दोनों शरीर बनाते समय औदारिकमिश्रकाययोगका व्यवहार करना चाहिये। परन्तु परित्यागके समय औदारिकशरीरकी प्रधानता नहीं रहती। उस समय वैक्रिय या आहारक शरीरका ही व्यापार मुख्य होनेके कारण वैक्रियमिश्र तथा आहारकमिश्रका व्यवहार करना चाहिये। कामग्रन्थिक मतका तात्पर्य इतना ही है कि चाहे व्यापार किसी शरीरका प्रधान हो, पर औदारिकशरीर जन्म सिद्ध है और वैक्रिय या आहारक शरीर लब्धिजन्य है इसलिये विशिष्ट लब्धिजन्य शरीरकी प्रधानताको ध्यानमें रखकर आरम्भ और

१-यह मन्त्र प्रधानताके इन अवसरोत्तर है —

“ओरालियसरीरकायप्पयोगे ओरालियसीससरीरप्पयोगे वेत्तदिव  
यसरीरकायप्पयोगे आहारकसरीरकायप्पयोगे आहारकसीससरीर  
कायप्पयोगे ।”

—पृ० १६ तथा उसकी टीका पृ० ३१७ ।

कर्मग्रन्थ  
और वेत्त

१ और ४३वीं गाथामें पाँचवें और छठे गुणस्थानमें क्रमसे व्याख्यान  
में स्पष्ट है ।

किन्तो

समान ही बात कही है क्योंकि उपरमें पाँचवें और छठे  
है। देखिये जीवकाण्डकी ७ शती गाथा ।

कषायसे और ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानोंमें योगसे होता है। इस तरह तेरह गुणस्थानोंमें उसके सब मिलाकर चार हेतु होते हैं।

नरक त्रिक, आति-चतुष्क, स्थावर चतुष्क, हुण्डसस्थान, आत पनामकर्म, सेवार्त्तसहनन, नपुसकवेद और मिथ्यात्व, इन सोलह प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यात्व हेतुक इसलिये कहा गया है कि ये प्रकृतियों सिर्फ पहले गुणस्थानमें बाँधी जाती हैं।

तिर्यञ्च त्रिक, स्थानसिद्धि त्रिक, दुमग त्रिक, अनन्तानुबन्धितचतुष्क, मध्यम सस्थान चतुष्क, मध्यम सहनन चतुष्क, नीचगोत्र उद्योतनाम कर्म, अशुभविद्यायोगति, स्त्रीवेद, धर्मपन्नाराचसहनन, मनुष्य त्रिक, अप्रत्याप्यानापरण चतुष्क और औदारिक द्विक, इन पत्तीस प्रकृतियोंका बन्ध द्वि हेतुक है, क्योंकि ये प्रकृतियों पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्वसे और दूसरे आदि यथासमय अगले गुणस्थानोंमें अविरतिसे बाँधी जाती हैं।

सातवेदनीय, नरक त्रिक आदि उस सोलह, तिर्यञ्च त्रिक आदि उस पत्तीस तथा तीर्थद्वारनामकर्म और आहारक ठिक, इन पचपन प्रकृतियोंको एक सौ बीसमेंसे घटा देनेपर पसठ शेष बचती हैं। इन पसठ प्रकृतियोंका बन्ध त्रि हेतुक इस अपेक्षासे समझना चाहिये कि वह पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्वसे, दूसरे आदि चार गुणस्थानोंमें अविरतिसे और छठे आदि चार गुणस्थानोंमें कषायसे होता है।

यद्यपि मिथ्यात्वके समय अविरति आदि अगले तीन हेतु, अविरतिके समय कषाय आदि अगले दो हेतु और कषायके समय योग रूप हेतु अग्रय पाया जाता है। तथापि पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्वकी दूसरे आदि चार गुणस्थानोंमें अविरतिकी ओर छठे आदि चार गुणस्थानोंमें कषायकी प्रधानता तथा अन्य हेतुओंकी अप्रधानता है, इस कारण इन गुणस्थानोंमें कमश केवल मिथ्यात्व, अविरति व कषायको बन्ध हेतु कहा है।

इस जगह तीथद्वरनामकर्मके बन्धका कारण सिर्फ सम्यक्त्व और आहारक द्विकके बन्धका कारण सिर्फ समय विवक्षित है, इसलिये इन तीन प्रकृतियोंकी गणना कषाय हेतुक प्रकृतियोंमें नहीं की है ॥५३॥

गुणस्थानोमे उत्तर बन्ध-हेतुओंका सामान्य तथा विशेष वर्णन ।

[ पाँच गाथाओंसे । ]

पणपन्न पन्न तियद्धरि, अचत्त गुणचत्त छचउडुगवीसा ।  
सोलस दस नव नव स, त्त हेउणो न उ अजोगिमि ॥५४॥

१—पञ्चमग्रह-द्वार ४वीं १६वीं गाथामें—

“सेमा उ कसाएहि ।”

इस पदसे तीथद्वरनामकर्म और आहारक-द्विक इन तीन प्रकृतियोंको कषाय-हेतुक माना है तथा अगाड़ीकी २०वां गाथामें सम्यक्त्वके तीथद्वरनामकर्म और समयको आहारक-द्विक विरोध हेतु कहा है । तत्त्वाथ अ० ८वेंक १ले सूत्रका सर्वव्यभिचारे भी इन तीन प्रकृतियोंको कषाय हेतुक माना है । परन्तु आदेवेन्द्रसूरिने इन तीन प्रकृतियोंके बन्धको कषाय हेतु नही कहा है । उनका तात्पर्य सिर्फ विरोध हेतु दिखानेका नान पड़ता है कषायक निषेधा नहा, क्योंकि सब कर्मके प्रकृति और प्रदेश बन्धमें योग्यता तथा स्थिति और अनुभाग-बन्धमें कषायको कारणता निर्विवाद सिद्ध है । इसका विरोध विचार पञ्चमग्रह-द्वार ४वीं २०वीं गाथाको श्रीमलयगिरि-टीकामें देखनेके लिये है ।

२—यह विषय पञ्चमग्रह द्वार ४वीं ५वीं गाथामें तथा गाम्भीर्य-कर्मकाण्डकी ७८६ और ७८७वां गाथामें है ।

उत्तर बन्ध हेतुके सामान्य और विरोध ये दो भेद हैं । किसी एक गुणस्थानमें वनमान मपूर्ण जीवोंमें युगपत् पाये जानेवाले बन्ध-हेतु ‘सामान्य और एक जीवमें युगपत् पाये जानेवाले बन्ध हेतु, विरोध कहलाते हैं । प्राचीन चतुर्थ कमग्रन्थकी ७७वीं गाथामें और इस जगह सामान्य उत्तर बन्ध हेतुका वर्णन है, परन्तु पञ्चमग्रह और गाम्भीर्यमें सामान्य और विरोध, दोनों प्रकारके बन्ध हेतुओंका । पञ्चमग्रहकी टीकामें यह विषय बहुत स्पष्टतासे समझाया है । विरोध उत्तर बन्ध-हेतुका वर्णन अनिवार्य और गम्भीर है ।



(सिद्ध) अनन्त हैं, इसीसे अयोगिकेवली जीव चौथे गुणस्थानवालों से अनन्तगुण बहे गये हैं । साधारण वनस्पतिकायिक जीव सिद्धों से भी अनन्तगुण हैं और वे सभी मिथ्यादृष्टि हैं, इसीसे मिथ्यादृष्टिवाले चौदहवें गुणस्थानवालोंसे अनन्तगुण हैं ।

पहला, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ और तेरहवाँ, ये छह गुणस्थान लोकमें सदा ही पाये जाते हैं, शेष आठ गुणस्थान कभी नहीं पाये जाते पाये जाते हैं तब भी उनमें वर्तमान जीवोंकी सख्या कभी जघन्य और कभी उत्कृष्ट रहती है । ऊपरकहा हुआ अल्प बहुत्व उत्कृष्ट सख्याकी अपेक्षासे समझना चाहिये, जघन्य सख्याकी अपेक्षासे नहीं, क्योंकि जघन्य सख्याके समय जीवोंका प्रमाण उपर्युक्त अल्प बहुत्वके विपरीत भी हो जाता है । उदाहरणार्थ, कभी ग्यारहवें गुणस्थानवाले बारहवें गुणस्थानवालोंसे अधिक भी हो जाते हैं । सारांश, उपर्युक्त अल्प-बहुत्व सब गुणस्थानोंमें जीवोंके उत्कृष्ट-संख्यक पाये जानेके समय ही घट सकता है ॥६३॥

चौथा गुणस्थान अपर्याप्त अवस्थामें भी पाया जाता है इसलिये इसमें अपर्याप्त अवस्था भावी कामण, औदारिकमिथ और वैक्रिय मिथ, इन तीन योगोंका समव है। तीसरे गुणस्थानसम्बन्धी तेता लीस और ये तीन योग, कुल छत्रालीस बन्ध हेतु चौथे गुणस्थानमें समझने चाहिये। अमत्याख्यानावरण चतुष्क चौथे गुणस्थान तक ही उदयमान रहता है, आगे नहीं। इस कारण वह पाँचवें गुणस्थानमें नहीं पाया जाता। पाँचवाँ गुणस्थान दशविरतिरूप होनेसे इसमें अस हिंसारूप अस अविरति नहीं है तथा यह गुणस्थान केवल पर्याप्त अवस्था भावी है, इस कारण इसमें अपर्याप्त अवस्था भावी कामण और आदानिकमिथ, ये दो योग भी नहीं होते। इस तरह चाथे गुणस्थानसम्बन्धी छत्रालीस हेतुओंमेंसे उक्त सातके सिवाय शेष उन्तालीस बन्ध हेतु पाँचवें गुणस्थानमें हैं। इन उन्तालीस हेतुओंमें वैक्रियमिथकाययोग शामिल है, पर वह अपर्याप्त अवस्था भावी नहीं, किन्तु वनियलत्रि जन्म, ओ पर्याप्त अवस्थामें ही होता है। पाँचवें गुणस्थानके समय सकल जन्म अस हिंसाका समव ही नहीं है। आरम्भ-जन्म अस हिंसाका समव है सही, पर बहुत कम, इसलिये आरम्भ जन्म अति अल्प अस हिंसाकी विवक्षा न करके उन्ता लीस हेतुओंमें अस अविरतिकी गणना नहीं की है।

छठा गुणस्थान नवविरतिरूप है, इसलिये इसमें शेष ग्यारह अविरतियाँ नहीं होती। इसमें प्रयाख्यानावरणरूपाय चतुष्क, जिसका उदय पाँचवें गुणस्थान पर्यन्त हो रहता है, नहीं होता। इस तरह पाँचवें गुणस्थान सम्बन्धी उन्तालीस हेतुओंमेंसे पंद्रह घटा देने पर शेष चौबीस रहते हैं। ये चौबीस तथा आहारक द्विक, कुल छप्पीस हेतु छठे गुणस्थानमें हैं। इस गुणस्थानमें चतुर्दशपूर्व धारी मुनि आहारकलब्धिके प्रयोगद्वारा आहारकशरीर रचते हैं, इसीसे छप्पीस हेतुओंमें आहारक द्विक परिगणित है।

## छह भाव और उनके भेद ।

[ पाँच गाथाओंसे । ]

उपशमसखपमीसोदय, परिणामा दुनवट्टारङ्गधीस ।  
सिय भेय सनिवाइय, नमं चरण पदमभावे ॥ ६४ ॥

उपशम स्वमिभोदयपरिणामा द्विनवाट्टादयैकविंशतय ।

नया भेदास्मानिपातिक, सम्यक्त्व चरण प्रथमभावे ॥ ६५ ॥

अर्थ—औपशमिक, स्तायिक, मिथ (स्वायोपशमिक), औदयिक और पारिणामिक, ये पाँच मूल भाव हैं । इनके क्रमशः दो, नौ, अठारह, इकौस और तीन भेद हैं । छठा भाव सानिपातिक है । पहले (औपशमिक) भावके सम्यक्त्व और चारित्र्य, ये दो भेद हैं ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—भाव, पथायवी कहते हैं । अजीयका पर्याय अजीयका भाव और जीयका पर्याय जीयका भाव है । इस गाथामें जीवके भाव दिखाये हैं । ये मूल भाव पाँच हैं ।

१—औपशमिक भाव यह है, जो उपशमसे होता है । प्रवेश और विपाक, दोनों प्रकारके क्रमोदयका रुक जाना उपशम है ।

२—स्तायिक भाव यह है, जो कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर प्रगट होता है ।

१—यं विचार अनुयोगद्वारके ११३ से १२७ तकके प्रथमै तरशर्ये अ० २के १से ७ तकके सूत्रमें तथा सूत्रशुभाह नि की १ वीं गाथा तथा उसकी टीकामें है । पञ्चमग्रह द्वा० ३की २ वीं गाथामें तथा द्वा० २की ३री गाथाकी टीका तथा सूत्रमायविचार-सारोद्धारकी ५१से ५७ तककी गाथाओंमें भी इसका विस्तारपूर्वक बखान है ।

गोस्वामिसार कर्मकाण्डमें इस विषयका भाववृत्तिका नामक एक खण्ड प्रकरण है । मन्त्रोंके भेद प्रभेदके सम्बन्धमें उसकी ८१२ से ८१६ तककी गाथाएँ द्रष्टव्य हैं । अग्रे उसमें कई तरहके भेद-बाल दिखाये हैं ।

चेक्रियशरीरके आरम्भ और परित्यागके समय चेक्रियमिभ तथा आहारकशरीरके आरम्भ और परित्यागके समय आहारकमिभ-योग होता है, पर उस समय प्रमत्त भाव होनेके कारण सातवाँ गुणस्थान नहीं होता । इस कारण इस गुणस्थानके बन्ध हेतुओंमें ये दो योग नहीं गिने गये हैं ।

चेक्रियशरीरवालेको चेक्रियकाययोग और आहारकशरीरवालेको आहारककाययोग होता है । ये दो शरीरवाले अधिकसे अधिक सातवें गुणस्थानके ही अधिकारी हैं, आगेके गुणस्थानोंके नहीं । इस कारण आठवें गुणस्थानके बन्ध हेतुओंमें इन दो योगोंको नहीं गिना है ॥५५, ५६, ५७॥

अध्वरास सोल पायरि, सुहृमेदस वेयसजलणति विणा ।  
स्त्रीणुवसंति अलोमा, सजोगि पुणुत्त सगजोगा ॥५८॥

अपइहाहा पोडश पादरे, सुमे दस वेदसज्वलनत्रिकादिना ।

धीणोपशान्तेऽलोमा, सयोगानि पूर्वोक्तास्तथोपा ॥५८॥

अर्थ—अनिवृत्तिपादरसपरायगुणस्थानमें हास्य पट्टके सिषाय पूर्वोक्त पाईसमेंसे शेष सोलह हेतु हैं । सूक्ष्मसपरायगुणस्थानमें तीन घेद और तीन सज्वलन (लोमको छोड़कर)के सिषाय दस हेतु हैं । उपशान्तमोह तथा क्षीणमोह-गुणस्थानोंमें सज्वलनलोमके सिषाय नौ हेतु तथा सयोगिकेवलीगुणस्थानमें सात हेतु हैं, जो सभी योगरूप हैं ॥५८॥

भाषार्थ—हास्य-पट्टका उदय आठवेंसे आगेके गुणस्थानोंमें नहीं होता, इसलिये उसे छोड़कर आठवें गुणस्थानके पाईस हेतुओंमेंसे शेष सोलह हेतु नौवें गुणस्थानमें समझने चाहिये ।

तीन घेद तथा सज्वलन मोघ, मान और माया, इन छहका उदय नौवें गुणस्थान तक ही होता है, इस कारण इन्हें छोड़कर शेष दस हेतु दसवें गुणस्थानमें कहे गये हैं ।

३—ज्ञायोपशमिक भाव ज्ञायोपशमसे प्रगट होता है । कर्मके उदयापलि प्रविष्ट मन्द रसस्पर्धकका ज्ञाय और अनुद्यमान रसरूप धँककी सर्धघातिनी विपाक शक्तिका निरोध या देशघातिरूपमें परिणमन य हीन शक्तिका मन्द शक्तिरूपमें परिणमन ( उगमन ), ज्ञायोपशम है ।

४—औद्यिक भाव कर्मके उदयसे होनेवाला पर्याय है ।

५—पारिणामिक भाव स्वभावसे ही स्वरूपमें परिणत होते रहना है ।

एक एक भावको 'मूलभाव' और दो या दोनै अधिक मिले हुए भावोंको 'सानिपातिक-भाव' समझना चाहिये ।

भागोंके उत्तर भेद —औपशमिक भावके सम्यक्त्व और चारित्र्य ये दो ही भेद हैं । (१) अनन्तानुबन्धि-चतुष्कके ज्ञायोपशम या उपशम और दर्शनमोहनीयकर्मके उपशमसे जो तरङ्ग-रुचि व्यञ्जक आत्मपरिणाम प्रगट होता है, वह 'औपशमिकसम्यक्त्व' है । (२) चारित्र्य-मोहनीयकी पञ्चीस प्रकृतियोंके उपशमसे व्यक्त होनेवाला स्थिर आत्मक परिणाम 'औपशमिकचारित्र्य' है । यही ग्यारहवें गुणस्थानमें प्राप्त होनेवाला 'यथाक्यातचारित्र्य' है । औपशमिक भाव सादि सान्त है ॥६४॥

धीए केवलजुयल, सम दाणाइलद्धि पण चरणं ।

तइए सेसुवओगा, पण लद्धी सम्मविरइदुग ॥ ६५ ॥

द्वितीये केवलजुयल, सम्यग् दानादिलब्धय पञ्च चरणम् ।

तृतीये शेषोपयोगा, पञ्च लब्धय सम्यग्विरतिद्विकम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—दूसरे (ज्ञायिक) भावके केवल द्विक, सम्यक्त्व, दान आदि पाँच लब्धियाँ और चारित्र्य, ये नौ भेद हैं । तीसरे (ज्ञायोपशमिक)

का बन्ध और वादरकपायोदय न होनेसे मोहनीयका बन्ध उसमें वर्जित है ।

ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानोंमें केवल सातवेदनीयका बन्ध होता है, क्योंकि उनमें कपायोदय सर्वथा न होनेसे अन्य प्रकृतिओंका बन्ध असम्भर है ।

सारांश यह है कि तीसरे, आठवें और नौवें गुणस्थानमें सातका ही बन्धस्थान पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थानमें सातका तथा आठका बन्धस्थान, दसवेंमें छहका बन्धस्थान और ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें एकका बन्धस्थान होता है ॥५६॥



भावके केवल द्विकको छाड़कर शेष दस उपयोग, दान आदि पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्य और निरति द्विक, ये अठारह भेद हैं ॥६४॥

मायार्थ—सायिक भावके भी भेद हैं। इनमेंसे केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो भाव क्रमसे केवलज्ञानावरणीय और केवलदर्शनावरणीय कर्मके सवधा क्षय हो जानेसे प्रगट होते हैं। दान, साम, भोग, उपभोग और धीय ये पाँच लब्धियाँ क्रमशः दानांतराय, सामान्तराय, भोगान्तराय उपभोगान्तराय और धीयान्तराय-कर्मके सवधा क्षय हो जानेसे प्रगट होती हैं। सम्यक्त्य, अनन्तानुबन्धि चतुश्च और दर्शनमोहनीयके सवधा क्षय हो जानेसे व्यक्त होता है चारित्र्य, चारित्र्यमोहनीयकर्मकी सवधा क्षय हो जानेसे सत्यता क्षय हो जानेपर प्रगट होता है। यही चारहवें गुणस्थानमें प्राप्त होनेवाला 'यथाव्याप्तचारित्र्य' है। सभी सायिक भाव कर्म क्षय-जन्य होनेके कारण 'सादि' और कर्मसे फिर आगृत न हो सकनेके कारण अनन्त हैं।

सायोपशमिक भावके अठारह भेद हैं। जैसे—चारह उपयागोंमेंसे केवल द्विकका छाड़कर शेष दस उपयोग, दान आदि पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्य और दशनिरति तथा सवधिरति-चारित्र्य। मति अज्ञान, अतज्ञानावरणीयके क्षयोपशमसे, धृतज्ञान धृत अविज्ञानावरणीयकर्मके क्षयोपशमसे, मन प्रयायज्ञान, मन पर्याय ज्ञानावरणीयकर्मके क्षयोपशमसे और चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अपधिदर्शन, क्रमसे चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय और अपधिदर्शनावरणीयकर्मके क्षयोपशमसे प्रगट होते हैं। दान आदि पाँच लब्धियाँ दानांतराय आदि पाँच प्रकारके अंतरायकर्मके क्षयोपशमसे होती हैं। अनन्तानुबन्धिकर्माय और दर्शनमोहनीयके क्षयोपशमसे सम्यक्त्य होता है। अपत्याव्यानावरणीयकर्मके क्षयोपशमसे देशधिरतिका आविर्भाव होता है और प्रत्याव्यानावर

## (७-८)—गुणस्थानोंमें सत्ता तथा उदय ।

आसुहुमं संतुदये, अट्ट चि मोह विणु सत्त खीणंमि ।  
चउ चरिमदुगे अट्ट उ, सते उवसंति सत्तुदए ॥६०॥

आसुहुमं संतुदयेऽपि मोह विना सत्त खीणे ।

चत्वारि चरमद्विकेऽष्ट तु, सत्तुपणात्ते सत्तोदये ॥६०॥

अर्थ—सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान पर्यन्त आठ कर्मकी सत्ता तथा आठ कर्मका उदय है । क्षीणमोहगुणस्थानमें सत्ता और उदय, दोनों सात कर्मोंके हैं । सयोगिकेउली और अयोगिकेचली-गुणस्थानमें सत्ता और उदय चार कर्मोंके हैं । उपशान्तमोहगुणस्थानमें सत्ता आठ कर्मकी और उदय सात कर्मका है ॥६०॥

भाषार्थ—पहले दस गुणस्थानोंमें सत्ता-गत तथा उदयमान आठ कर्म पाये जाते हैं । ग्यारहवें गुणस्थानमें मोहनीयकर्म सत्ता गत रहता है, पर उदयमान नहीं, इसलिये उसमें सत्ता आठ कर्मकी और उदय सात कर्मका है । बारहवें गुणस्थानमें माहनीयकर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है, इसलिये सत्ता और उदय दोनों सात कर्मके हैं । तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें सत्ता गत और उदयमान चार अथातिकर्म ही हैं ।

सारांश यह है कि सत्तास्थान पहले ग्यारह गुणस्थानोंमें आठका, बारहवेंमें सातका और तेरहवें और चौदहवेंमें चारका है तथा उदय-स्थान पहले दस गुणस्थानोंमें आठका, ग्यारहवें और बारहवेंमें सातका और तेरहवें और चौदहवेंमें चारका है ॥६०॥



णीयकपायके क्षयोपशमसे सर्वविरतिका । मति अज्ञान आदि क्षायो-  
पशमिक भाव अभव्यके अनादि अनन्त और विभक्तज्ञान सादि सान्त  
है । मतिज्ञान आदि भाव भव्यके सादि सान्त और दान आदि  
लब्धियाँ तथा अचक्षुर्दर्शन अनादि सान्त हैं ॥ ६५ ॥

अन्नाणमसिद्धत्ता, -संजमलेसाकसायगइवेया ।

मिच्छ तुरिप भव्या, -भव्यत्तजियत्त परिणामे ॥ ६६ ॥

अज्ञानमसिद्धत्वाऽऽवयवमलक्ष्याकषायगतिवेदा ।

मिथ्यात्व तुयं भव्याऽभव्यत्वजीवत्वानि परिणामे ॥ ६६ ॥

अर्थ—अज्ञान, असिद्धत्व, असयम, लेश्या, कषाय, गति, वेद  
और मिथ्यात्व, ये भेद चौड़े (औद्यिक) भावके हैं । भव्यत्व, अभव्यत्व  
और जीवत्व, ये पारिणामिक भाव हैं ॥ ६६ ॥

भाषार्थ—औद्यिक भावके इक्कीस भेद हैं । जैसे —अज्ञान, असि-  
द्धत्व, असयम, छह लेश्याएँ, चार कषाय, चार गतियाँ, तीन वेद और  
मिथ्यात्व । अज्ञानका मतलब ज्ञानका अभाव और मिथ्याज्ञान दोनों-  
से है । ज्ञानका अभाव ज्ञानावरणीयरूपके उदयका और मिथ्याज्ञान  
मिथ्यात्वमोहनीयकर्मके उदयका फल है, इसलिये दोनों प्रकारका  
अज्ञान औद्यिक है । असिद्धत्व, ससारावस्थाको कहते हैं । यह, आठ

१—निद्रा मूष दु र हास्य शरीर आदि अमंगल्य भाव जो भिन्न भिन्न कर्मके उद्गमे  
होते हैं वे सभी औद्यिक हैं तथापि इन जगह शीतमात्सरानि आदि पूजाचार्योंके कथनका अनु-  
सरण करके स्थूल दृष्टिसे इक्षीम औद्यिक-भाव बनलावे हैं ।

२—मति अज्ञान शुन अज्ञान और विभक्तज्ञानको पिछली गायामें क्षायोपशमिक और  
यहाँ औद्यिक कहा है । क्षायोपशमिक इस अपेक्षासे कहा है कि ये उपशम मतिज्ञानावरणीय  
आदि कर्मके क्षयोपशम-जन्य हैं और औद्यिक इस अपेक्षासे कहा है कि इनकी अवधारणाका  
कारण मिथ्यात्वमोहनीयकर्मका उदय है ।

## (९)—गुणस्थानोंमें उदीरणा ।

[दो गाथाओंसे ।]

उद्हरति प्रमत्तता, सगच्छ मीसह वेद्यभाउ विणा ।

छग अपमत्ताह तओ, छ पंच सुहुमो पणुयसतो ॥६१॥

उदीरयन्ति प्रमत्ताता, ससाधानि मिभोऽष्ट वेद्यगुणी विना ।

पट्कमममचादयस्तन, पट् पञ्च सुहम पञ्चोपपात ॥६१॥

अर्थ—प्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त सात या आठ कर्मकी उदीरणा होती है । मिथ्रगुणस्थानमें आठ कर्मकी, अप्रमत्त, अपूर्यकरण और अनिवृत्तिबाधर, इन तीन गुणस्थानोंमें वेदनीय तथा आयुके निवाय छह कर्मकी, सूक्ष्मसपरायगुणस्थानमें छह या पाँच कर्मकी और उपशान्तमोहगुणस्थानमें पाँच कर्मकी उदीरणा होती है ॥६१॥

माथाथ—उदीरणाका विचार समझनेकेलिये यह नियम ध्यान में रखना चाहिये कि जो कर्म उदयमान हो उसीकी उदीरणा होती है, अनुदयमानकी नहीं । उदयमान कर्म आवलिका प्रमाण शेष रहता है, उस समय उसकी उदीरणा रुक जाती है ।

तीसरेको छोड़ प्रथमसे छठ तकके पहले पाँच गुणस्थानोंमें सात या आठ कर्मकी उदीरणा होती है । आयुकी उदीरणा न होनेके समय सात कर्मकी और होनेके समय आठ कर्मकी समझनी चाहिये । उक्त नियमके अनुसार आयुकी उदीरणा उस समय रुक जाती है, जिस समय वर्तमान मर्वाय आयु आवलिका प्रमाण शेष रहती है । यद्यपि वर्तमान मर्वाय आयुके आवलिकामात्र बाकी रहनेके समय परमणीय आयुकी स्थिति आवलिकासे अधिक होती है तथापि अनु

- ३—औपशमिक + औदयिक ।
- ४—औपशमिक + पारिणामिक ।
- ५—क्षायिक + क्षायोपशमिक ।
- ६—क्षायिक + औदयिक ।
- ७—क्षायिक + पारिणामिक ।
- ८—क्षायोपशमिक + औदयिक ।
- ९—क्षायोपशमिक + पारिणामिक ।
- १०—औदयिक + पारिणामिक ।

त्रिक संयोगके दस भेद —

- १—औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक ।
- २—औपशमिक + क्षायिक + औदयिक ।
- ३—औपशमिक + क्षायिक + पारिणामिक ।
- ४—औपशमिक + क्षायोपशमिक + औदयिक ।
- ५—औपशमिक + क्षायोपशमिक + पारिणामिक ।
- ६—औपशमिक + औदयिक + पारिणामिक ।
- ७—क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक ।
- ८—क्षायिक + क्षायोपशमिक + पारिणामिक ।
- ९—क्षायिक + औदयिक + पारिणामिक ।
- १०—क्षायोपशमिक + पारिणामिक + औदयिक ।

चतु-संयोगके पाँच भेद —

- १—औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक ।
- २—औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक + पारिणामिक ।
- ३—औपशमिक + क्षायिक + औदयिक + पारिणामिक ।
- ४—औपशमिक + क्षायोपशमिक + औदयिक + पारिणामिक ।
- ५—क्षायोपशमिक + औदयिक + पारिणामिक ।

दयमान होनेके कारण उसकी उदीरणा उक्त नियमके अनुसार नहीं होती ।

तीसरे गुणस्थानमें आठ कर्मकी ही उदीरणा मानी जाती है, क्योंकि इस गुणस्थानमें मृत्यु नहीं होती । इस कारण आयुकी अन्तिम आयुलिकामें, जब कि उदीरणा रुक जाती है, इस गुणस्थानका सभब ही नहीं है ।

सातवें, आठवें और नौवें गुणस्थानमें छह कर्मकी उदीरणा होती है, आयु और वेदनीय कर्मकी नहीं । इसका कारण यह है कि इन दो कर्मोंकी उदीरणाकेलिये जैसे अध्ययसाय आवश्यक हैं, उक्त तीन गुणस्थानोंमें अतिनिशुद्धि होनेके कारण ऐसे अध्ययसाय नहीं होते ।

दसवें गुणस्थानमें छह अथवा पाँच कर्मकी उदीरणा होती है । आयु और वेदनीयकी उदीरणा न होनेके समय छह कर्मकी तथा उक्त दो कर्म और मोहनीयकी उदीरणा न होनेके समय पाँचकी समझना चाहिये । मोहनीयकी उदीरणा दशम गुणस्थानकी अन्तिम आयुलिकामें रुक जाती है । सो इसलिये कि उस समय उसकी स्थिति आयुलिका प्रमाण शेष रहती है ।

ग्यारहवें गुणस्थानमें आयु, वेदनीय और मोहनीयकी उदीरणा न होनेके कारण पाँचकी उदीरणा होती है । इस गुणस्थानमें उदयमान न होनेके कारण मोहनीयकी उदीरणा निषिद्ध है ॥६१॥



पञ्च सयोगका एक भेद —

१-श्रोपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक + पारिणामिक  
सब मिलाकर सानिपातिक भावके छःगोस भेद हुए । इनमेंसे ओ  
छह भेद जीवोंमें पाये जाते हैं, उन्हींको इन दो गायार्थोंमें दिखाया है ।

त्रिक सयोगके उक्त दस भेदोंमेंसे दसवाँ भेद, जो क्षायोपशमिक,  
पारिणामिक और औदयिकके मेलसे बना है, वह चारों गतिमें पाया  
जाता है । सो इस प्रकार — चारों गतिके जीवोंमें क्षायोपशमिक भाव  
भावेन्द्रिय आदिरूप, पारिणामिक भाव जीवत्व आदिरूप और औद  
यिक भाव कषाय आदिरूप है । इस तरह इस त्रिक सयोगके गति  
रूप स्थान भेदसे चार भेद हुए ।

चतु सयोगके उक्त पाँच भेदोंमेंसे पाँचवाँ भेद चारों गतिमें  
पाया जाता है, इसलिये इसके भी स्थान भेदसे चार भेद होते हैं ।  
चारों गतिमें क्षायिक भाव क्षायिसम्यक्स्वरूप, क्षायोपशमिक भाव  
भावेन्द्रिय आदिरूप, पारिणामिक भाव जीवत्व आदिरूप और  
औदयिक भाव कषाय आदिरूप है ।

चतु सयोगके पाँच भेदोंमेंसे चौथा भेद चारों गतिमें पाया  
जाता है । चारों गतिमें श्रोपशमिक भाव सम्यक्स्वरूप, क्षायोपशमिक  
भाव भावेन्द्रिय आदिरूप, पारिणामिक भाव जीवत्व आदिरूप और  
औदयिक भाव कषाय आदिरूप समझना चाहिये । इस चतु सयोग  
सानिपातिकके भी गतिरूप स्थान भेदसे चार भेद हुए ।

त्रिक सयोगके उक्त दस भेदोंमेंसे नौवाँ भेद सिर्फ भवस्व केव  
लियोंमें होता है, इसलिये वह एक ही प्रकारका है । केवलियोंमें  
पारिणामिक भाव जीवत्व आदिरूप, औदयिक भाव गति आदिरूप  
और क्षायिक भाव केवलज्ञान आदिरूप है ।

द्विक-सयोगके उक्त दस भेदोंमेंसे सातवाँ भेद सिर्फ सिद्ध जीवों-  
में पाये जानेके कारण एक ही प्रकारका है । सिद्धोंमें पारिणामिक-

## (१०)-गुणस्थानोंमें अल्प-बहुत्व ।

[दो गायामोंसे ।]

पण दो खीण हू जोगी, गुदीरगु अजोगि थोव उवसता ।  
सातगुण खीण सुहमा, ननयदीअपुव्व सम अहिया ॥६२॥

पञ्च द्वे क्षाणो द्वे योग्यजुदारकोऽवागी स्तोका उपशाता ।

सप्तगुणा क्षीणा सूक्ष्माऽनित्यपूर्वा समा आधिका ॥ ६२ ॥

अर्थ—क्षीणमोहगुणस्थानमें पाँच या दो कर्मकी उद्दीरणा है और मयोगिकेत्रलोगुणस्थानमें सिर्फ दो कर्मकी । अयोगिकेत्रली गुणस्थानमें उद्दीरणाका अभाव है ।

उपशान्तमोहगुणस्थान तृती जीव सबसे थोड़े हैं । क्षीणमोहगुण स्थान धर्ती जीव उनसे सख्यातगुण हैं । सूक्ष्मस्वराय, अनित्यसिवादि आदि अपूर्वकरण, इन तीन गुणस्थानोंमें वर्तमान जीव क्षीणमोहगुण स्थानजालोंसे विशेषाधिक हैं, पर आपसमें तुल्य हैं ॥६२॥

मात्राथ—यारहवें गुणस्थानमें अन्तिम आधलिकाको छोड़कर अन्य सब समयमें आयु, वेदनाथ और मोहनीयके सिवाय पाँच कर्मकी उद्दीरणा होती रहती है । अन्तिम आधलिकामें ज्ञानाधरणीय, दर्शनाधरणीय और अन्तरायकी स्थिति आधलिका प्रमाण शेष रहती है । इसलिये उस समय उनकी उद्दीरणा रुक जाती है । शेष दो (नाम और गोत्र) की उद्दीरणा रहती है ।

तेरहवें गुणस्थानमें चार अघातिकर्म ही शेष रहते हैं । इनमेंसे आयु और वेदनीयकी उद्दीरणा सा पहलेसे ही रुकी हुई है । कारण इस गुणस्थानमें दो कर्मकी उद्दीरणा मानी गई ।

१—यह विषय पञ्चमग्रह द्वार २६० और २६१ या

२ तक ही गायामोंमें कुछ निरूपण है ।

यक यानेरूप कार्यमें, आकाशास्तिष्ठाय, अथवा देतेरूप कार्यमें और फल, समय पर्यायरूप स्व कार्यमें अनादि कालसे परिणमन किया करता है। पुद्गलद्रव्यके पारिणामिक और औदयिक, ये दो भाव हैं। परमाणु-पुद्गलका तो केवल पारिणामिक भाव है, पर स्व-धरूप पुद्गलके पारिणामिक और औदयिक, ये दो भाव हैं। स्व-धर्मों में भी धारुणादि सादि स्वस्थ पारिणामिक भाववाला ही है, लेकिन औदारिक आदि शरीररूप स्व-धर्म पारिणामिक औदयिक दो भाव रहते हैं। क्योंकि ये स्व-स्व रूपमें परिणत होत रहनेके कारण पारिणामिक भाववाला और औदारिक आदि शरीररूपकर्मके उदय-अन्य होनेके कारण औदयिक भाववाला है।

पुद्गलद्रव्यके दो भाव कह हुए हैं, सो कर्म पुद्गलमें भिन्न पुद्गलके समझने चाहिये। कम पुद्गलके तो आपश्मिक आदि पाँचों भाव हैं, जो ऊपर बतलाये गये हैं ॥५८॥

## (११)—गुणस्थानोंमें मूल भाव ।

( एक जीवकी अपेक्षासे । )

समाश्चउसु तिग चउ भाया चउ पणुवसामगुवसते ।

चउ जीणापुज्य तिग्नि, मेसगुणट्टाणमंगजिए ॥७०॥

सम्यगादिचतुषु श्रवणात्वारो, भावात्तवार पचापशमकोपशाते ।

चत्वार साक्षात्पुत्र त्रय, शेषगुणस्थानक एकजीव ॥ ७० ॥

अर्थ—एक जीवकी सम्प्रवृत्ति आदि चार गुणस्थानोंमें तीन या चार भाव होते हैं। उपशमक (नोचें और दसवें) और उपशान्त (ग्यारहवें) गुणस्थानमें चार या पाँच भाव होते हैं। क्षीणमोह तथा अपूर्ण

चौदहवें गुणस्थानमें योगका अभाव है। योगके सिधाय उदोरणा नहीं हो सकती, इस कारण इनमें उदोरणाका अभाव है।

सारग यह है कि तीसरे गुणस्थानमें आठहीका उदोरणास्थान, पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवें और छठमें सातका तथा आठका, सातवेंसे लेकर दसवें गुणस्थानकी एक आवलिका याक्री रहे तब तक छह-का, दसवेंकी अन्तिम आवलिकासे धारहवें गुणस्थानकी चरम आवलिका शेष रहे तब तक पाँचका और धारहवेंकी चरम आवलिकासे तेरहवें गुणस्थानके अन्त तक दोका उदोरणास्थान पाया जाता है।

### अल्प यहुत्व ।

धारहवें गुणस्थानवाले जीव अन्य प्रत्येक गुणस्थानवाले जीवोंसे अल्प हैं, क्योंकि वे प्रतिपद्यमान (किसी विधिकित समयमें उस अगस्याको पानेवाले) चौथन और पूर्वप्रतिपन्न (किसी विधिकित समयके पहिलेसे उस अगस्याको पाये हुए) एक, दो या तीन आदि पाये जाते हैं। धारहवें गुणस्थानवाले प्रतिपद्यमान उत्कृष्ट एक सौ आठ और पूर्वप्रतिपन्न शत-पृथक्त्व (दो सौसे नौ सौ तक) पाये जाते हैं, इसलिये ये धारहवें गुणस्थानवालोंसे सख्यातगुण कहे गये हैं। उप शमश्रेणिके प्रतिपद्यमान जीव उत्कृष्ट चौथन और पूर्वप्रतिपन्न एक दो, तीन आदि तथा क्षपकश्रेणिके प्रतिपद्यमान उत्कृष्ट एक सौ आठ और पूर्वप्रतिपन्न शत-पृथक्त्व माने गये हैं। उभय श्रेणियाँ समी आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानमें वर्तमान होते हैं। इसलिये इन तीनों गुणस्थानवाले जीव आपसमें समान हैं, किन्तु धारहवें गुणस्थानवालोंकी अपेक्षा विशेषाधिक हैं ॥६२॥

जोगिअपमत्तहयरे, संखगुणा देससासणामासा ।

अधिरय अजोगिमिच्छा, असंखचउरो दुवे णता ॥६३॥



करण-गुणस्थानमें चार भाग होते हैं और शेष सब गुणस्थानोंमें तीन भाग ॥७०॥

भावार्थ—चौथे, पाँचवें, छठे आरसातवें, इन चार गुणस्थानोंमें तीन या चार भाग हैं । तीन भाग ये हैं—(१) औदयिक—मनुष्य आदि गति, (२) पारिणामिक—जीवत्व आदि और (३) क्षायोपशमिक—भावेन्द्रिय, सम्यक्त्व आदि । ये तीन भाग क्षायोपशमिकसम्यक्त्व के समय पाये जाते हैं । परन्तु जब क्षायिक या औपशमिक-सम्यक्त्व हो, तब इन दोमेंसे कोई एक सम्यक्त्व तथा उक्त तीन, इस प्रकार चार भाग समझने चाहिये ।

नौवें, दसवें और ग्यारहवें, इन तीन गुणस्थानोंमें चार या पाँच भाग पाये जाते हैं । चार भाग उस समय, जब कि औपशमिक-सम्यक्त्वी जीव उपशमभ्रेषिगता हो । चार भागमें तीन तो उक्त ही और चौथा औपशमिक सम्यक्त्व व चारित्र । पाँचमें उक्त तीन, चौथा क्षायिकसम्यक्त्व और पाँचवाँ औपशमिकचारित्र ।

आठवें और धारहवें, इन दो गुणस्थानोंमें चार भाग होते हैं । आठवेंमें उक्त तीन और औपशमिक और क्षायिक, इन दोमेंसे कोई एक सम्यक्त्व, ये चार भाग समझने चाहिये । धारहवेंमें उक्त तीन और चौथा क्षायिकसम्यक्त्व व क्षायिकचारित्र, ये चार भाग ।

शेष पाँच (पहले, दूसरे, तीसरे, तेरहवें और चौदहवें) गुणस्थानोंमें तीन भाग हैं । पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थानमें औदयिक—मनुष्य आदि गति, पारिणामिक—जीवत्व आदि और क्षायोपशमिक—भावेन्द्रिय आदि, ये तीन भाग हैं । तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें औदयिक—मनुष्यत्व, पारिणामिक—जीवत्व और क्षायिक—ज्ञान आदि, ये तीन भाग हैं ॥७०॥

योग्यप्रमत्तरा, सत्यगुणा देशसाधनमिथा ।

अविरता अयागिमभ्यात्वानि अठार्याश्चत्वाथ द्वावन तौ ॥ ६१ ॥

अर्थ—सयोगिकेवली, अधमत्त और प्रमत्तगुणस्थानवाले जीव पूर्व पृथक्से सख्यातगुण हैं। देशविरति, सासादन, मिथ और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणभ्यानवाले जीव पूर्व पूर्वसे असख्यातगुण हैं। अयोगिकेवली और मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवाले जीव पूर्व पूर्वसे अनन्त गुण हैं ॥ २॥

भाषार्थ—तेरहवें गुणस्थानवाले आठवें गुणस्थानवालोंसे सख्यात गुण इसलिये कहे गये हैं कि ये जघन्य दो करोड और उत्कृष्ट नौ करोड होते हैं। सातवें गुणस्थानवाले दो हजार करोड पाये जाते हैं इसलिये ये सयोगिकेवलियोंसे सख्यातगुण हैं। बड़े गुणस्थानवाले नौ हजार करोड तक हो जाते हैं इसी कारण इन्हें सातवें गुणस्थान वालोंमें सख्यातगुण माना है। अत्ययात गर्भज तिर्यञ्च भी देश विरति पा लेते हैं, इसलिये पाँचवें गुणस्थानवाले छठे गुणस्थानवालोंसे असख्यातगुण हो जाते हैं। दूसरे गुणभ्यानवाले देशविरतिवालोंसे असख्यातगुण कहे गये हैं। इसका कारण यह है कि देशविरति, तिर्यञ्च मनुष्य दो गतिमें ही होती है पर सासादनसम्यक्त्व चारों गतिमें। सासादनसम्यक्त्व और मिथदृष्टि ये दोनों यद्यपि चारों गतिमें होते हैं परन्तु सासादनसम्यक्त्वकी अपेक्षा मिथदृष्टिका काल-मान असख्यातगुण अधिक है, इस कारण मिथदृष्टिवाले सासादनसम्पत्तियोंकी अपेक्षा असख्यातगुण होते हैं। चौथा गुणस्थान चारों गतिमें सदा ही पाया जाता है और उसका काल मान भी बहुत अधिक है, अत एव चौथे गुणस्थानवाले तीसरे गुणस्थानवालोंसे असख्यातगुण होते हैं। यद्यपि भवस्थ अयोगी, क्षणकश्रेणियोंके बराबर अर्धांश शत पृथक्त्व प्रमाण हो हैं तथापि अभवस्थ अयोगी

सख्यात तत्र पीचकी सय सख्याएँ मध्यम सख्यात हैं । शास्त्रमें उल्लेख सख्यातका स्वरूप जाननेके लिये पत्थोंकी कल्पना है, जो अगली गाथाओंमें दिखायी है ॥७१॥

**पत्थोंके नाम तथा प्रमाण ।**

पद्माणवाट्टियसला, ग-पडिसलागामहासलागवला ।  
जोयणसरमोगाढा, सवेइयता ससिहभरिया ॥७३॥

पत्था अनवस्थितशलाकाप्रातःशलाकामहाशलाकाख्या ।

योजनसहस्रावगाढा सवेदिका ता सशिलपृता ॥ ७३ ॥

अर्थ—चार पत्थके नाम क्रमशः अनवस्थित, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका हैं । चारों पत्थ गहराईमें एक हजार योजन और ऊँचाईमें जम्बूद्वीपकी पञ्चवर वेदिका पर्यन्त अर्थात् साढ़े आठ योजन प्रमाण समझने चाहिये । इन्हें शिखा पर्यन्त सरसोंस पूरा करनेका विधान है ॥ ७३ ॥

भाषार्थ—शास्त्रमें सत् और असत् दो प्रकारकी कटरना होती है । जो कार्यमें परिणत की जा सके, वह 'सत्कल्पना', और जो किसी वस्तुका स्वरूप समझनेमें उपयोगीमात्र, पर कार्यमें परिणत न की जा सके, वह 'असत्कल्पना' । पत्थोंका विचार असत्कल्पना है, इसका प्रयोजन उल्लेख सख्यातका स्वरूप समझानामात्र है ।

शास्त्रमें पत्थ चार कहे गये हैं —(१) अनवस्थित, (२) शलाका, (३) प्रतिशलाका और (४) महाशलाका । इनकी लम्बाई चौड़ाई जम्बूद्वीपके बराबर—एक एक लाख योजनकी, गहराई एक हजार योजनकी और ऊँचाई पञ्चवर वेदिका प्रमाण अर्थात् साढ़े आठ

अनवस्थितपत्य अनेक बनते हैं । इन सबकी लम्बाई चौड़ाई एकसी नहीं है । पहला अनवस्थित (मूलानवस्थित) की लम्बाई-चौड़ाई लाख योजाकी और आगेके सब अनवस्थित (उत्तरानवस्थित) की लम्बाई चौड़ाई अधिकाधिक है । जैसे —जम्बूद्वीप-प्रमाण मूलानवस्थित पत्यको सरसोंसे भर देना और जम्बूद्वीप से लेकर आगेके हर एक द्वीपमें तथा समुद्रमें उन सरसोंमेंसे एक एकको डालते जाना । इस प्रकार डालते डालते जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें मूलानवस्थित पत्य घाली हो जाय, जम्बूद्वीप (मूल स्थान)से उस द्वीप या उस समुद्र तककी लम्बाई चौड़ाईगला नया पत्य बना लिया जाय । यही पहला उत्तरानवस्थित है ।

इस पत्यमें भी ठाँस कर सरसों भरना और इन सरसोंमेंसे एक एककी आगेके प्रत्येक द्वीपमें तथा समुद्रमें डालते जाना । डालते डालते जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें इस पहले उत्तरानवस्थित पत्यके सब सपप समाप्त हो जायँ, मूल स्थान (जम्बूद्वीप)से उस सर्पप समाप्ति कारक द्वीप या समुद्र पर्यन्त लम्बा-चौड़ा पत्य फिरसे बना लेना, यह दूसरा उत्तरानवस्थितपत्य है ।

इसे भी सर्पपोंसे भर देना और आगेके प्रत्येक द्वीपमें तथा समुद्रमें एक एक सर्पपको डालते जाना । ऐसा करनेसे दूसरे उत्तरानवस्थितपत्यके सर्पपोंकी समाप्ति जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें हो जाय, मूल स्थानसे उस सपप समाप्ति कारक द्वीप या समुद्र पर्यन्त विस्तृत पत्य फिरसे बनाना यह तीसरा उत्तरानवस्थितपत्य है । इसको भी सर्पपोंसे भरना तथा आगेके द्वीप, समुद्रमें एक एक सपप डालकर घाली करना । फिर मूल स्थानसे सर्पप-समाप्ति कारक द्वीप या समुद्र पर्यन्त विस्तृत पत्य बना लेना और उसे भी सर्पपोंसे भरना तथा उक्त विधिके अनुसार घाली करना । इस प्रकार जितने उत्तरानवस्थितपत्य बनाये जाते हैं,

सख्यायें उसमें मिलाना । (१) लोकाकाशके प्रदेश, (२) धर्मास्ति-

ज्ञानावरणीय आदि प्रत्येक वस्तुकी स्थितिक अवस्थामें उत्कृष्ट पथ न समझनेमें अम-  
रवान भेद है । जैसे — ज्ञानावरणीयकी जगत् स्थिति अतममूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति तीस-  
कोटकोटी सागरोंमें प्रमाण है । अतममूर्तमें एक समय अधिक दो समय अधिक, तीन समय  
अधिक इस तरह एक-एक समय बढ़ने बढने एक समय कम तीन कोटकोटी सागरोंमें तबकी  
सब स्थितियाँ मध्यम है । अतममूर्त और तीस कोटकोटी सागरोंमें प्रमाण समझने  
का अन्तर है इसलिये जगत् और उत्कृष्ट स्थिति एक एक प्रकारकी होनेपर भी उनमें मध्यम  
स्थितियाँ मिलानेमें ज्ञानावरणीयकी स्थितिके असरयत्न भेद होने हैं । अथ कर्माधी स्थितिक  
विषयमें भी जगत् की तरह समझ लना चाहिये । हर एक स्थितिमें बचने कारणभूत अथवा मार्योकी  
जगत् अमरस्थान लोकाकाशके प्रमाण बराबर बरी हुई है ।

“पड़िइ सखलोगसमा ।”

—गा० १५ देवदूरी-कृत पञ्चम वमग्रथ ।

इस जगत् सब स्थिति बचने कारणभूत अध्यवसायोंकी सदा विवक्षित है ।

अनुमाग अर्थात् समका वरण कापायिक परिणाम है । कापायिक परिणाम कथात्  
अध्यवसायक नीचे तीव्रतम तीव्रतम मन्त्र मन्त्रतर मन्त्रतम आदि रूपमें प्रसरयान भेद है ।  
एक-एक कापायिक परिणाममें एक एक अनुमाग-स्थानका बच होना है क्योंकि एक कापायिक  
परिणामसे शृंगर कर्म परमाणुओंके इस रूपकी ही शास्त्रमें अनुमाग बचप्राप्त रहा है ।  
दरिने कम्मरयकीरा इश्वरी गामाभीयशीविश्ववशा-कृत टीका । जगत्में कापायिक परिणाम-जगत्  
अनुमाग स्थान भी कापायिक परिणाम-सुख अथवा प्रसरयान ही हैं । प्रसरयान यह ज्ञान  
बाननी चाहिये कि प्रत्येक स्थिति-बच में अमरस्थान अनुमाग-स्थान होने है क्योंकि जिन  
अथवा उगने ही अनुमागस्थान ज्ञान है और प्रत्येक स्थिति-बचमें कारणभूत अध्यवसाय  
अमरस्थान लोकाकाशप्रदेश प्रमाण है ।

‘योगमें निर्दिभाग अथ अमरस्थान है । जिस अथका विभाग बचलजानसे भी न किया  
जा सकें उसको निर्दिभाग अथ कहते हैं । इस जगत् निगो-में सखी पयन्त सब जीवोंके योग  
सबकी निर्दिभाग अथकी मरया रह है ।

जिस शरीरका स्वामी एक ही जीव हो वह ‘प्रथमशरीर’ है । प्रत्येकशरीर अमरस्थान  
है क्योंकि पृथ्वीवायिकमें लेकर जलवायिक पथ न सब प्रकारके प्रत्येक जीव मिलानेमें अम-  
रस्थान ही है ।

जिस एक शरीरके कारण बनवाने अतः जीव हो, वह ‘निगोदशरीर’ । जेमें निगोद-  
शरीर अमरस्थान ही है ।

वे सभी प्रमाणमें पूर्व पूर्वकी अपेक्षा बड़े बड़े ही होते जाते हैं । परिमाणकी अनिश्चितताके कारण इन पत्थरोंका नाम 'अनवस्थित' रखा गया है । यह ध्यानमें रखना चाहिये कि अनवस्थितपत्थर लम्बाई चौड़ाईमें अनियत होनेपर भी ऊँचाईमें नियत ही अर्थात् १००२½ योजन मात्र लिये जाते हैं ।

अनवस्थितपत्थरोंको कहाँ तक धनाना ? इसका खुलासा आगे की गाथाओंसे हो जायगा ।

प्रत्येक अनवस्थितपत्थरके खारी हो जानेपर एक एक सपष शलाकापत्थरमें डाल दिया जाना है । अर्थात् शलाका पत्थरमें डाले गये सपषोंकी सख्यासे यही जाना जाता है कि इतनी दफा वृत्तगनवस्थितपत्थर खाली हुए ।

हर एक शलाकापत्थरके खाली होनेसे समय एक एक सपष प्रतिशलाकापत्थरमें डाला जाता है । प्रतिशलाकापत्थरके सपषोंको सख्यासे यह विदित होता है कि इतनी बार शलाकापत्थर भरा गया और खाली हुआ ।

प्रतिशलाकापत्थरके एक एक बार भर जाने और खाली हो जानेपर एक एक सपष महाशलाकापत्थरमें डाल दिया जाता है, जिससे यह जाना जा सकता है कि इतनी दफा प्रतिशलाकापत्थर भरा गया और खाली किया गया ॥ ७३ ॥

पत्थरोंके भरने आदिकी विधि ।

तादीबुदहिस् इक्षि, कसरिसव खिचि य निट्टि पदमे ।  
पदम य तदन्त चिच, पुण भरिण तमि तर खीणे ॥७४॥  
खिप्पइ सत्तागपत्ते, शु सरिसवो इय सत्तागखवणेण ।  
पुत्तो बीयो य तओ, पुब्बि पि व तमि बुद्धरिण ॥७५॥







कर्मग्रन्थिक आचार्योंका कथन है कि जघन्य युकासख्यातका वर्ग करनेसे जघन्य असख्यातासख्यात होता है। जघन्य असख्यातासख्यातका तीन बार वर्ग करना और उसमें लोकाकाश प्रदेश आदिकी उपर्युक्त दस असख्यात सर्यापें मिलाना । मिलाकर फिर तीन बार वर्ग करना । वर्ग करनेसे जो सख्या होती है, वह जघन्य परीक्षान्त है ।

जघन्य परीक्षान्तका अभ्यास करनेसे जघन्य युक्तान्त होता है । शास्त्रमें अभ्यस्य जोध अनन्त कहे गये हैं, सो जघन्य युक्तान्त समझना चाहिये ।

जघन्य युक्तान्तका एक बार वर्ग करनेसे जघन्य अनन्तान्त होता है । जघन्य अनन्तान्तका तीन बार वर्गकर उसमें सिद्ध आदिकी उपर्युक्त छह सख्यापें मिलाना चाहिये । फिर उसका तीन बार वर्ग करके उसमें केवलज्ञान और केवलदर्शनके सपूर्ण पर्यायोंकी सख्याको मिलाना चाहिये । मिलानेसे जो सख्या होती है, वह 'उत्कृष्ट अनन्तान्त' है ।

मध्यम या उत्कृष्ट सख्याका स्वरूप जाननेकी रीतिमें सैदान्तिक और कर्मग्रन्थिकोंमें मतभेद नहीं है, पर ७९ वीं तथा ८० वीं गाथामें धतलाये हुए दोनों मतके अनुसार जघन्य असख्यातासख्यातका स्वरूप भिन्न भिन्न हो जाता है । अर्थात् सैदान्तिकमतसे जघन्य युकासख्यातका अभ्यास करनेपर जघन्य असख्यातासख्यात बनता है और कर्मग्रन्थिकमतसे जघन्य युकासख्यातका वर्ग करनेपर जघन्य असख्यातासख्यात बनता है, इसलिये मध्यम युकासख्यात, उत्कृष्ट युकासख्यात आदि आगेकी सब मध्यम और उत्कृष्ट सख्याओंका स्वरूप भिन्न भिन्न बन जाता है । जघन्य असख्यातासख्यातमेंसे एक घटानेपर उत्कृष्ट युकासख्यात होता है । जघन्य युकासख्यात और उत्कृष्ट युकासख्यातके बीचकी सब

जम्बूद्वीप आदि प्रत्येक द्वीप तथा समुद्रमें डालना चाहिये, इस रीतिसे एक एक सर्प प डालनेसे जिस द्वीप या समुद्रमें मूल अनवस्थितपट्य बिलकुल खाली हो जाय, जम्बूद्वीपसे (मूल स्थानसे) उस सर्प प समाप्ति-कारक द्वीप या समुद्र तक लम्बा चोड़ा नया पट्य बना लेना चाहिये, जो ऊँचाईमें पहले पट्यके बराबर ही हो । फिर इस उत्तरानवस्थितपट्यको सर्पपोंसे भर देना और एक एक सर्पपको आगेके द्वीप समुद्रमें डालना चाहिये । इस प्रकार एक एक सर्प प निकालनेसे जब यह पट्य भी खाली हो जाय, तब इस प्रथम उत्तरानवस्थितपट्यके खाली हो जानेका सूचक एक सर्प प शलाका नामके पट्यमें डालना । जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें प्रथम उत्तरानवस्थित खाली हो जाय, मूल स्थान (जम्बूद्वीपसे) उस द्वीप या समुद्र तक विस्तीर्ण अनवस्थितपट्य फिर बनाना तथा उसे सर्पपोंसे भरकर आगेके द्वीप समुद्रमें एक एक सर्प प डालना चाहिये । उसके बिलकुल खाली हो जानेपर समाप्ति सूचक एक सर्प प शलाकापट्यमें फिरसे डालना चाहिये । इस तरह जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें अन्तिम सर्प प डाला गया हो, मूल स्थानसे उस सर्प प समाप्ति कारक द्वीप या समुद्र तक विस्तीर्ण एक एक अनवस्थितपट्य बनाते जाना और उसे सर्पपोंसे भर कर उस विधिके अनुसार खाली करते जाना और एक एक अनवस्थित पट्यके खाली हो चुकनेपर एक एक सर्प प शलाकापट्यमें डालते जाना । ऐसा करनेसे जब शलाकापट्य सर्पपोंसे पूर्ण हो जाय, तब मूल स्थानसे अन्तिम सर्प पवाले स्थान तक विस्तीर्ण अनवस्थित पट्य बनाकर उसे सर्पपोंसे भर देना चाहिये । इससे अब तकमें अनवस्थितपट्य और शलाकापट्य सर्पपोंसे भर गये । इन दोनोंसे शलाकापट्यको उठाता और उसके सर्पपोंसे

उक्त ५ ६ ७ आगेके द्वीप समुद्रमें डालना ५

वायुके प्रदेश, (३) अधमाम्तिकायके प्रदेश, (४) एक जीवके प्रदेश, (५) स्थिति यन्त्र जगत् अध्ययसाय स्थान, (६) अनुभाग विशेष, (७) योगके निरिभाग अथ (८) अयसपिण्डी और उत्सपिण्डी, इन दो कालके समय, (९) प्रत्येकशरीर और (१०) त्रिगोदशरीर ॥ २१ ॥ २२ ॥

उक्त दस सख्याएँ मिलाकर फिर उसका तीन बार वर्ग करना। वर्ग करनेसे जगत् परीक्षान्त होता है। जघन्य परीक्षान्तका अभ्यास करनेसे जघन्य युक्तात्त होता है। यही अभ्यास जीवोंका परिमाण है ॥ २३ ॥

उसका अर्थात् जघन्य युक्तात्तका वर्ग करनेसे जघन्य अनन्तान्त होता है। जघन्य अनन्तान्तका तीन बार वर्ग करना लेकिन इतनेहीमें यह उत्कृष्ट अनन्तान्त नहीं बताता। इसलिये तीन बार वर्ग करके उसमें नीचे लिखी छह अनन्त सख्याएँ मिलाना ॥ २४ ॥

(१) सिद्ध (२) त्रिगोदके जीव, (३) वायुमतिकायिक जीव, (४) तीनों कायके समय, (५) संपूर्ण पुद्गल परमाणु और (६) समग्र आकाशके प्रदेश, इन छह को अनन्त सख्याओंको मिलाकर फिर-से तीन बार वर्ग करना और उसमें ऊपर छिड़के पयायोंकी सख्या का मिलाना। शास्त्रमें अनन्तान्तका व्यवहार किया जाता है, सो मध्यम अनन्तान्तका, जघन्य या उत्कृष्टका नहीं। इस सूक्ष्मा-र्थविचार नामक प्रकरणको श्रीदेवेन्द्रसूरिने लिखा है ॥ २५ ॥ २६ ॥

मावार्थ—गा० ७१स ७५ तकमें सख्याएँ वर्णन किया है, सो सैद्धान्तिक मतके अनुसार। अब कर्मग्रन्थिक मतके अनुसार वर्णन किया जाता है। सख्याके द्वांस भेदोंमेंसे पहले सात भेदोंके स्वरूपके विषयमें सैद्धान्तिक और कर्मग्रन्थिक आचार्योंका कोई मत-भेद नहीं है याउर्वे आदि सब भेदोंके स्वरूपके विषयमें मत-भेद है।

१—मूलके मन्त्रान्तर वदमे लोक और अनेक दानों प्रकारका आकारा विवक्षित है।

२—वेदवर्णन का मत होनेसे जगत्पर्यन्त भी मान्य है।

एक सर्पप निफालनेसे जय शलाकापत्य बिलकुल खाली हो जाय, तब शलाकापत्यके खाली हो जानेका सूचक एक सर्पप प्रतिशलाका पत्यमें डालना चाहिये । अब तकमें अनवस्थितपत्य सर्पपोंसे भरा पड़ा है, शलाकापत्य खाली हो चुका है और प्रतिशलाकापत्यमें एक सर्पप पड़ा हुआ है ।

इसके पश्चात् अनवस्थितपत्यके एक एक सर्पपको आगेके द्वीप समुद्रमें डालकर उसे खाली कर देना चाहिये और उसके खाली हो चुकनेका सूचक एक सर्पप पूर्वकी तरह शलाकापत्यमें, जो खाली हो गया है, डालना चाहिये । इस प्रकार मूल स्थानसे अन्तिम सर्पपवाले स्थान तक विस्तीर्ण नया नया अनवस्थित पत्य याते जाना चाहिये और उसे सर्पपोंसे भरकर उक्त विधिके अनुसार खाली करते जाना चाहिये । तथा प्रत्येक अनवस्थित-पत्यके खाली हो चुकनेपर एक एक सर्पप शलाकापत्यमें डालते जाना चाहिये । ऐसा करनेसे जय शलाकापत्य सर्पपोंसे फिरसे भर जाय, तब जिस स्थानमें अन्तिम सर्पप पड़ा हो, मूल स्थानसे उस स्थान तक विस्तीर्ण अनवस्थितपत्यको घनाकर उसे भी सर्पपोंसे भर देना चाहिये । अब तकमें अनवस्थित और शलाका, ये दो पत्य भरे हुए हैं और प्रतिशलाकापत्यमें एक सर्पप है ।

शलाकापत्यको पूर्व विधि के अनुसार फिरसे खाली कर देना चाहिये और उसके खाली हो चुकनेपर एक सर्पप प्रतिशलाका पत्यमें रखना चाहिये । अब तक अनवस्थितपत्य भरा हुआ है, शलाकापत्य खाली है और प्रतिशलाकापत्यमें दो सर्पप पड़े हुए हैं ।

इसके आगे फिर भी पूर्वोक्त विधिके अनुसार अनवस्थित पत्यको खाली करना और एक एक सर्पपको शलाकापत्यमें डालना चाहिये । इस प्रकार शलाकापत्यको बार-बार भर कर उक्त विधिके

## तृतीयाधिकारके परिशिष्ट ।

### परिशिष्ट “प” ।

पृष्ठ १७६, पट्टिक १०के ‘मूल बंध हेतु’ पर—

यह विषय पञ्चमग्रह डा० ८को १ और २०वां गावामें है किन्तु उसका बलनमें यहाँकी अनेका कुछ भेद है । हममें मोलह प्रहृतिगत बंधको मिथ्यात्व हेतुके पंतीय प्रहृतिगत बंधको अतिरिक्त-हेतुके अरमठ प्रहृतिगत बंधको कथय हेतुके और सातवें-नीयके बंधका योग-हेतुके बना है । यह कथन अन्वय-अतिरेक, उसमें मूलका काय-कारण-भावकी लोका दिया गया है । वैम — मिथ्यात्वका मन्त्रावमें मोलहका बंध और उसमें अमावमें मोलहका बंधका अभाव होता है इसीसे मोलहका बंधका अन्वय अतिरेक मिथ्यात्वका साथ पर संधा है । इसी प्रकार पंतीय बंधका अतिरिक्त साव अरमठ बंधका कथयके साथ अर सातवें-नीयके बंधका योगके साथ अन्वय-अतिरेक समझना चाहिये ।

परन्तु हम जगह केवल बंध-मूलक कार्य कारण भवकी लकर बंधका बलन किया है अतिरेककी दिवजा नही बा है । सीम गुडिवा वर्णन पञ्चमग्रहके बलनमें भिन्न मतलब दर्शा है । अन्वय — जैमे मिथ्यात्वक समय अतिरिक्ते समय कथयके समय और योगके समय सातवें-नीयका बंध अवश्य होता है इसी प्रकार मिथ्यात्वके समय मोलहका बंध मिथ्यात्वक समय तथा अतिरिक्त समय पंतीयका बंध और मिथ्यात्वक समय अतिरिक्त समय तथा कथयके समय यह प्रहृतिगतका बंध अवश्य होता है । यह अवयवावली सदृशी रत्नकर और हेतु-हेतुके पय सातवें पंतीय और अरमठके बंधको क्रमशः चतुर्हेतुके एक हेतुके द्वि-हेतुके और त्रि-हेतुके बंधा है । उक्त धारा बंधका अतिरिक्त पञ्चमग्रहके बलनानुसार देख एक एक हेतुके साथ पर मचना है । पञ्चमग्रह और यन्त्रकी वर्णन-जीनीमें भेद है गावामें नही ।

सातवां डा० ८ सू० १५ बंधव हेतु पंतीयके हुए है उसका अनुसार प्र० २ सू० १६ रत्न-मिथ्यात्वमें उक्त प्रहृतिगत और बंध हेतुके काय-कारण भवका विचार किया है । हममें मोलहका बंधका मिथ्यात्व हेतुके अन्वय-मूलके बंधको अतिरिक्त हेतुके द्वि-हेतुके बंधकी प्रमाण दर्शक अट्टावनके बंधको कथय-हेतुके और एकके बंधको योग हेतुके बनाया है । अतिरिक्त अन्वय-मूलके बंध अन्वय-मूलका कारण-भावके अन्वय और अन्वय-मूलका कारण-भावके अन्वय,

अनुसार खाली करते जाना तथा चाली हो जानेका सूचक एक एक सर्प प्रतिशलाकापत्यमें डालते जाना चाहिये । अब एक-एक सर्पके डालनेसे प्रतिशलाकापत्य भी पूर्ण हो जाय, तब उक्त प्रक्रियाके अनुसार अनवस्थितपत्यद्वारा शलाकापत्यको भरना और पीछे अनवस्थितपत्यको भी भर रखना चाहिये । अब तकमें अनवस्थित, शलाका और प्रतिशलाका, ये तीन पत्य भर गये हैं । इनमेंसे प्रतिशलाकाको उठाकर उसके सर्पोंमेंने एक-एक सर्पको आगेक द्वीप समुद्रमें डालना चाहिये । प्रतिशलाकापत्यके चाली हो चुकनेपर एक सर्प ओ प्रतिशलाकापत्यकी समाप्तिका सूचक है, उसको महाशलाकापत्यमें डालना चाहिये । अब तकमें अनवस्थित तथा शलाका पत्य भरे पड़े हैं, प्रतिशलाकापत्य खाली है और महाशलाकापत्यमें एक सर्प पड़ा हुआ है ।

इसके आन्तर शलाकापत्यको खाली कर एक सर्प प्रतिशलाकापत्यमें डालना और अनवस्थितपत्यको खाली कर शलाकापत्यमें एक सर्प डालना चाहिये । इस प्रकार नया नया अनवस्थितपत्य बनाकर उसे सर्पोंसे भरकर तथा उक्त विधिके अनुसार उसे चालीकर एक एक सर्पद्वारा शलाकापत्यको भरना चाहिये । हर एक शलाकापत्यके चाली हो चुकनेपर एक एक सर्प प्रतिशलाकापत्यमें डालना चाहिये । प्रतिशलाकापत्य भर जानेके बाद अनवस्थितद्वारा शलाकापत्य भर लेना और अन्तमें अनवस्थितपत्य भी भर देना चाहिये । अब तकमें पहले तीन पत्य भर गये हैं और चौथेमें एक सर्प है । फिर प्रतिशलाकापत्यको उक्त रीतिसे चाली करना और महाशलाकापत्यमें एक सर्प डालना चाहिये । अब तकमें पहले दो पत्य पूर्ण हैं । प्रतिशलाकापत्य खाली है और महाशलाकापत्यमें दो सर्प हैं । अब महाशलाकाको भर देना चाहिये ।

सत्यापे मध्यम युक्तसख्यात है । इसी प्रकार आगे भी किसी अघन्य सत्यापेसे एक घटानेपर उसके पीछेकी उरुष्ट सख्या बनती है और अघन्यमें एक, दो आदिकी सख्या मिलानेसे उसके सजा तीव उरुष्ट नककी बीचकी सख्यापे मध्यम होती हैं ।

सभी अघन्य और सभी उरुष्ट सख्यापे एक एक प्रकारकी है परन्तु मध्यम सख्यापे एक प्रकारकी नहीं हैं । मध्यम सख्यातके सख्यात भेद मध्यम असख्यातके असख्यात भेद और मध्यम अनन्तके अनन्त भेद हैं क्योंकि अघन्य या उरुष्ट सख्याका मतलब किसी एक नियत सख्यासे ही है, पर मध्यमके विषयमें यह माना है । अघन्य और उरुष्ट सख्यातके बीच सख्यात इकाइयाँ हैं, अघन्य और उरुष्ट असख्यातके बीच असख्यात इकाइयाँ हैं, एवं अघन्य और उरुष्ट अनन्तके बीच अनन्त इकाइयाँ हैं, जो क्रमशः 'मध्यम सख्यात', 'मध्यम असख्यात' और 'मध्यम अनन्त' कहलाती हैं ।

शास्त्रमें जहाँ कहां अनन्तानन्तका व्यवहार किया गया है, वहाँ सब जगह मध्यम अनन्तानन्तसे ही मतलब है ।

(उपसंहार) इसप्रकरणकानाम "सूक्ष्मापविचार" रक्खा है क्योंकि इसमें अनेक सूक्ष्म विषयोंपर विचार प्रगट किये गये हैं । २०-२६।

इस प्रकार पूर्व पूर्व पट्टके चाली हो जानेके समय डाले गये एक एक सर्पपसे क्रमशः चौथा, तीसरा और दूसरा पट्ट, जब भर जाय तब आधस्थितपट्ट, जो कि मूल स्थानसे अन्तिम सर्पपवाले द्वीप या समुद्र तक लम्बा चौड़ा बनाया जाता है, उसका भी सर्पपोंसे भर देना चाहिये । इस क्रमसे चारों पट्ट सर्पपोंसे ठसा ठसा भरे जाते हैं ॥ ७४-७६ ॥

### सर्पप-परिपूर्ण पट्टोका उपयोग ।

पद्ममतिपल्लुद्धरिया, दीबुद्धी पल्लवउसरिसया य ।  
सर्वो वि तगरासी, रूवूणो परममंस्त्रिज्ज ॥ ७७ ॥

प्रथमत्रिपल्लोद्धता, द्वीपोदधय पल्लवचतु सपपाश्च ।

सर्वोप्येकगोशो, रूपान परमसख्येयम् । ७७ ॥

अर्थ—जितने द्वीप समुद्रोंमें एक एक सर्पप डालनेसे पहले तीन पट्ट चाली हो गये हैं, वे सब द्वीप समुद्र और परिपूर्ण चार पट्टोंके सर्पप, इन दोनोंकी सख्या मिलानेसे जो सख्या हो, एक कम वही सख्या उत्कृष्ट मर्यात है ॥ ७७ ॥

भावार्थ—अनवस्थित, शलाका और प्रतिशलाका पट्टको बार-बार सर्पपोंसे भर कर उनको खाली करनेकी जो विधि ऊपर दिखलाई गई है, उसके अनुसार जितने द्वीपोंमें तथा जितने समुद्रोंमें एक एक सर्पप पड़ा हुआ है, उन सब द्वीपों, तथा सब समुद्रों की सख्यामें चारों पट्टके भरे हुए सर्पपोंकी सख्या मिला देनेसे जो सख्या होती है, एक कम वही सख्या उत्कृष्ट सख्यात है ।

उत्कृष्ट सख्यात और अवन्त्य सख्यात, इन दो के बीचकी सब सख्याको मध्यम सख्यात समझना चाहिये । शास्त्रोंमें जहाँ कहीं सख्यात शब्दका व्यवहार हुआ है, वहाँ सब जगह मध्यम सख्यात से ही मतलब है ॥ ७७ ॥



## परिशिष्ट “फ” ।

पृष्ठ २०६, पङ्क्ति १६के ‘मूल भाव’ पर—

गुणस्थानोंमें एक नीवाश्रित भावोंकी संख्या नैसी इस गायामें है वैसी ही पञ्चमग्रहकी डार २की ६४वीं गायामें है, परन्तु इस गायामें टीका और टबामें तथा पञ्चमग्रहकी उक्त गायामें टीकामें गोडामा व्याख्या भेद है ।

टीका-टबामें उपशमक उपशान्त दो पदोंसे नौवाँ दमवाँ और ग्यारहवाँ ये तीन गुण स्थान ग्रहण किये गये हैं और अपूर्व पञ्चम आठवाँ गुणस्थानमात्र । नौवें आदि तीन गुण स्थानोंमें उपशमश्रेणिकाने औपशमिकसम्बन्धस्वीकार या छादिकसम्बन्धस्वीकार को चारित्र्य औपशमिक माना है । आठवें गुणस्थानमें औपशमिक या छादिक किसी सम्बन्धस्वीकार को औपशमिकचारित्र्य इष्ट नहीं है किन्तु छायोपशमिक । इसका प्रमाण गायामें अपूर्व शब्दका अलग ग्रहण करना है, क्योंकि यदि आठवें गुणस्थानमें भी औपशमिकचारित्र्य इष्ट होता तो अपूर्व शब्द अलग ग्रहण न करके उपशमक शब्दमें ही नौवें आदि गुणस्थानकी तरह आठवेंका भी सूचन किया जाता । नौवें और दमवें गुणस्थानमें छपक रेखि-नन बीज-मन्त्र भी भावोंका व चारित्र्यका उल्लेख टीका वा टबामें नहीं है ।

पञ्चमग्रहकी टीकामें श्रीमलवगिरिने उपशमक ‘उपशान्त’ पदसे आठवेंमें ग्यारहवें तक उपशमश्रेणिकाने चार गुणस्थान और अपूर्व तथा वीणा पदमें आठवाँ, नौवाँ दसवाँ और बारहवाँ ये छपक श्रेणिकाने चार गुणस्थान ग्रहण किये हैं । उपशमश्रेणिकाने उक्त चारों गुणस्थान में उहने औपशमिकचारित्र्य माना है, पर छपकश्रेणिकाने चारों गुणस्थानके चारित्र्यके सम्बन्धमें कुछ उल्लेख नहीं किया है ।

ग्यारहवें गुणस्थानमें संपूर्ण मोहनीयका उपशम ही जानेके कारण सिर्फ औपशमिक चारित्र्य है नौवें और दमवें गुणस्थानमें औपशमिक छायोपशमिक दो चारित्र्य हैं क्योंकि इन में गुणस्थानोंमें चारित्र्यमोहनीयकी कुछ प्रकृतियाँ उपशान्त होती हैं सब नहीं । उपशान्त प्रकृतियोंकी अपेक्षासे औपशमिक और अनुपशान्त प्रकृतियोंकी अपेक्षासे छायोपशमिक-चारित्र्य समझना चाहिये । यद्यपि यह बात इस प्रकार स्पष्टानामें नहीं कही गई है परन्तु पञ्च० डा० ३की २४वीं गायामें टीका देखनेमें इस विषयमें कुछ भी संदिह नहीं रहता क्योंकि उसमें सूक्ष्मसंपराय चारित्र्यको, जो नौवें गुणस्थानमें ही होता है छायोपशमिक कहा है ।

## असत्यात और अनन्तका स्वरूप ।

[दो गाथाओं में ।]

रूपयुत तु परित्ता, - सख लहु अस्स रासि अन्मासे ।

जुत्तासखिज्ज लहु, आवलियासमयपरिमाण ॥७८॥

रूपयुत तु परित्तासख्य रूपस्य राशेरभ्यास ।

जुत्तासख्य रूप, आवलियासमयपरिमाणम् ॥७८॥

अर्थ—उत्कृष्ट सत्यातमें रूप (एक की सत्या) मिलानेसे जघन्य परित्तासख्यात होता है । जघन्य परित्तासख्यातका अभ्यास करनेसे जघन्य युत्तासख्यात होता है । जघन्य युत्तासख्यात ही एक आवलिकाके समयोंका परिमाण है ॥७८॥

भाषार्थ—उत्कृष्ट सख्यातमें एक सत्या मिलानेसे जघन्य परित्तासख्यात होता है । अर्थात् एक पर सर्पण डाले हुए द्वीप समुद्रोंकी और चार पट्योंके सर्पणोंकी मिराई हुई सपूर्ण सख्या ही जघन्य परित्तासख्यात है ।

जघन्य परित्तासख्यातका अभ्यास करनेपर जो सख्या

१—मिग्गवर गाथोंमें भी ३५ सख एक सख्याक अर्थमें प्रयुक्त है । जैसे—शोबकाएडकी १०३ तथा ११०वीं गाथा अणि तथा प्रवत्तममार नयाभिकारवा ७४वीं गाथा की टीका ।

२—मिग्ग सख्याका अभ्यास करना हा समक अङ्कमें जतनी दफा लिखकर परस्पर गुणना अर्थात् प्रथम अङ्कको दूसरेके साथ गुणना अथ जो गुणन फल आवे उसको तीसरे अङ्कके साथ गुणना इसक गुणनफलको अगले अङ्कके साथ । इस प्रकार पूर्व पूर्व गुणन फलको अगले अङ्कके साथ गुणना अन्तमें जो गुणन फल प्राप्त हो वही विशिष्ट सख्याका अभ्यास है । उ।हरणार्थ—५वा अभ्यास ३१२५ है । इसकी विधि इस प्रकार है—५को पाँच दफा ५ ५ ५ ५ ५ । पहले ५को दूसरे ५क साथ गुणनेसे २५ हुए २५को तीसरे ५के २५ २५को चौथे ५क साथ गुणनेसे ६२५ ६२५को पाँचवें ५के साथ गुणनेसे

—अनवोपधार-टीका पृ २३१ ।

वे तीन भेद किये हैं । प्रथम अविरतिको पचीसके बंधका दूसरीको दसके बंधका और तीसरीको चारके बंधका कारण दिखाकर कुल सत्तासीसके बंधका अविरति हेतुक कहा है । पञ्चसप्तदशमें जिन अस्मिन् प्रकृतियोंके बंधको कथाय हेतुक माना है उनमेंसे चारके बंधको प्रत्याभ्यानावरणकथाय जन्य अविरति हेतुक और छहके बंधको प्रमाद हेतुक सवामिसिद्धिमें बतलाया है इमनिये सम्ये बंधाय हेतुक बंधवाली अष्टावन प्रकृतियों ही कही हुई हैं ।



आती है, वह जघन्य युक्तासख्यात है । शास्त्रमें आवलिकाके समर्थों-  
को असख्यात कहा है, सो जघन्य युक्तासख्यात समझना चाहिये ।  
एक कम जघन्य युक्तासख्यातको उत्कृष्ट परीक्षासख्यात तथा  
जघन्य परीक्षासख्यात और उत्कृष्ट परीक्षासख्यातके बीचकी सब  
सख्याओंको मध्यम परीक्षासख्यात जानना चाहिये ॥ ७२ ॥

चित्तिचउपंचमगुणणे, कमा सगासख पढमचउसत्ता ।

एता ते खजुया, मज्झा खूण गुरु पच्छा ॥७६॥

द्वितीयततायचतुपपञ्चमगुणने जमात् सप्तमाश्रय प्रथमचतुर्थसत्ता ।

अनन्तास्ते रूपयुता, मध्या रूपोना गुरय पश्चात् ॥७९॥

अर्थ—दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें मूल भेदका अभ्यास  
करनेपर अनुक्रमसे सातवाँ असख्यात और पहला, चौथा और  
सातवाँ अनन्त होते हैं । एक सख्या मिलानेपर ये ही नव्यापै  
मध्यम सख्या और एक सख्या कम करनेपर पीछेकी उत्कृष्ट सख्या  
होती है ॥ ७६ ॥

भावार्थ—पिछली गाथामें असख्यातके चार भेदोंका स्वरूप  
बतलाया गया है । अब उसके शेष भेदोंका तथा अनन्तके सब  
भेदोंका स्वरूप लिखा जाता है ।

असख्यात और अनन्तके मूल भेद तीन तीन हैं, जो मिलनेसे  
छह होते हैं । जैसे —( १ ) परीक्षासख्यात, ( २ ) युक्तासख्यात और  
( ३ ) असख्यातासख्यात; ( ४ ) परीक्षान्त, ( ५ ) युक्तान्त  
और ( ६ ) अनन्तान्त । असख्यातके तीनों भेदके जघन्य, मध्यम  
और उत्कृष्ट भेद करनेसे नौ और इस तरह अनन्तके भी नौ उत्तर-  
भेद होते हैं, जो ७१ वीं गाथामें दिखाये हुए हैं ।

## परिशिष्ट नं० १ ।

श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय संप्रदायके [कुक्ष] समान  
तथा असमान मन्तव्य ।

( क )

निश्चय और व्यवहार दृष्टिसे जीव शब्दकी व्याख्या दोनों संप्रदायमें तुल्य है । पृष्ठ-४ । इस मन्थनमें जीवकाण्डका 'प्राणाधिकार' प्रकरण और उसकी टीका देखने योग्य है ।

मार्गस्थान शब्दकी व्याख्या दोनों संप्रदायमें समान है । पृष्ठ-४ ।

गुणस्थान शब्दकी व्याख्या शैली कर्मग्रन्थ और जीवशाण्डमें भिन्नसी है, पर उसमें तात्त्विक अर्थ भेद नहीं है । पृ०-४ ।

उपयोगका स्वरूप दोनों सम्प्रदायोंमें समान माना गया है । पृ०-५ ।

कर्मग्रन्थमें अपर्याप्त सक्षीको तीन गुणस्थान माने हैं, किन्तु गोष्मटसारमें पाँच माने हैं । इस प्रकार दोनोंका सत्याविषयक मत-भेद है, तथापि वह अपभ्रूत है, इसलिये वास्तविक दृष्टिसे समानता ही है । पृ०-१२ ।

केवलज्ञानीके विषयम मोक्षित्व तथा असहित्वका व्यवहार दोनों संप्रदायक शास्त्रोंमें समान है । पृ०-१३ ।

वायुकायके शरीरकी ध्वजाकारता दोनों संप्रदायको मान्य है । पृ०-२० ।

स्थितिः प्राप्यवसाया अनुमागा योगच्छेदपरिमागा ।

द्वयोश्च समयो समया प्रत्येकनिगोदका क्षिप ॥ ८२ ॥

पुनरपि तास्मस्त्रिर्वागिते परीवान्त लघु तस्य राशीनाम् ।

अभ्यासे लघु युक्तान्तममन्वजैवप्रमाणम् ॥ ८३ ॥

तद्गते पुनराप्यतेऽन्तान्त लघु तच्च त्रिकृत्व ।

वर्गयस्व तथापि न तद्भवत्यनन्तस्य गतिरपि पट्टिमान् ॥ ८४ ॥

सिद्धा निगोदकाया वनस्पत क लघुद्रुलाश्चैव ।

सर्वमलोकनम् पुनरित्यवगम्यत्वा केवलद्विके ॥ ८५ ॥

क्षितेऽन्तान्तान्त मवति ज्येष्ठ तु यवहरति मध्यम् ।

हात सप्तमाश्विचारो लिखितो दवेन्द्रक्षिपिभि ॥ ८६ ॥

अर्थ—पीछे सूत्रानुसारी मत कहा गया है। अब अ-य आचार्यों का मत कहा जाता है। खतुथ असख्यात अर्थात् जघन्य युका सख्यातका एक बार वग करनेसे जघन्य असख्यातासख्यात होता है। जघ-य असख्यातासख्यातमें एक सख्या मिलानेसे मध्यम असख्यातासख्यात होता है ॥ ८० ॥

जघ-य असख्यातासख्यातमेंसे एक सख्या घटा दी जाय तो पीछेका गुट अर्थात् उत्कृष्ट युकासख्यात होता है। जघ-य असख्यातासख्यातका तीन बार वग कर नीचे लिखी दस असख्यात

१—निसी सख्याका तीन बार वग करना हो तो उस सख्याका वग करना वा अन्य सख्याका वर्ग करना और द्वितीय वग त्रय सख्याका भी वर्ग करना। उदाहरणार्थ—५का तीन बार वग करना हो तो ५का वग २५ २५का वर्ग ६२५ ६२५का वर्ग ३९०६२५, यह पाँचका तीन बार वर्ग हुआ ।

२—नीकाकाता धर्मास्तिक्य अधर्मास्तिकाव और धक जीव इन चारोंके प्रदेश असख्यात असख्यात और आपसमें तुल्य है ।

दो पक्ष श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें हैं, दिगम्बर ग्रन्थोंमें भी हैं । पृ०-१७१, नोट ।

श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें जो कहीं कर्मबन्धके चार हेतु, कहीं दो हेतु और कहीं पाँच हेतु कहे हुए हैं, दिगम्बर ग्रन्थोंमें भी वे सब वर्णित हैं । पृ०-१७४, नोट ।

बन्ध हेतुओंके उत्तर भेद आदि दोनों सम्प्रदायमें समान हैं । पृ०-१७५, नोट ।

सामान्य तथा विशेष बन्ध हेतुओंका विचार दोनों सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें है । पृ०-१८१, नोट ।

एक सत्त्याके अर्थमें रूप शब्द दोनों सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें मिलता है । पृ०-२१८, नोट ।

कर्मप्रथमें वर्णित दस तथा उह क्षेप त्रिलोकसारमें भी हैं । पृ०-२२१, नोट ।

उत्तर प्रकृतियोंके मूल बन्ध हेतुका विचार जो सर्वार्थसाक्षिमें है, वह पञ्चसमग्रमें किये हुए विचारसे कुछ भिन्नता होनेपर भी वस्तुतः उसका समान ही है । पृ०-२२७ ।

कर्मग्रन्थ तथा पञ्चसमग्रमें एक-जीवाभित भावोंका जो विचार है, गोमटसारमें बहुत अंशोंमें उसके समान ही वर्णित है । पृ०-२२९ ।

( ख )

श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें तेज कायको सक्रियशरीरका कथन नहीं है, पर दिगम्बर ग्रन्थोंमें है । पृ०-१९, नोट ।

श्वेताम्बर सम्प्रदायकी अपेक्षा दिगम्बर सम्प्रदायमें साक्षि अक्षिणीका व्यवहार कुछ भिन्न है । तथा श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें हेतुषादोपदक्षिणी





# अनुवाद-गत पारिभाषिक शब्दों का कोष

शब्द । पृष्ठ । पङ्क्ति ।

अ ।

अछाद्यस्थिकयधारयात्	११	२०
[अध्यवसाय]	२२३	१३
अनुभवसहा	३८	६
[अनुमाग]	२२३	१३
[अनुमागव्यस्थान]	"	१६
अन्तरकरण	१४०	४
[अतमुद्धृत]	२८	१
[अपवर्तनाकरण]	६	२,
[अवाधाकाल]	६	०
अभवस्थ अयोगी	१९४	२५
असत्कल्पना	२१०	१७

आ ।

[आदेश]	४	९
आयोजिकाकरण	१५५	४
[आयविल]	६०	१
आवर्जितकरण	१५५	६
[आवर्जिका]	३१	१
आवश्यककरण	१५५	७

इ ।

इत्वरसामायिक

शब्द । पृष्ठ । पङ्क्ति ।

उ ।

उत्कृष्ट अनन्तानन्त	२२५	११
उत्कृष्ट अमख्याता—		
सरयात्	२२०	७
उत्कृष्ट परीक्षानन्त	२२०	१५
उत्कृष्ट परीक्षामख्यात्	२१९	३
उत्कृष्ट युक्तानन्त	२२०	१९
उत्कृष्ट युक्तामख्यात्	२२०	३
उत्कृष्ट सख्यात्	२१७	१६
उदयस्थान	२८	१
उदीरणास्थान	२८	३
उपकरणेन्द्रिय	३७	१२
उपशम	१३९	२७

उपशमश्रेणिभावी औ		
पश्चमिकसम्पत्त्व	६६	३

ऊ ।

[ऊर्ध्वतासामान्य]	३	१४
ऊर्ध्वप्रचय	१५८	२५

ओ ।

[ओप]		
ओपसहा		१६

श्रुताम्बर-ग्रन्थोंमें जिस अर्थकेलिये आयोजिकाकरण, आवर्जित करण और आवश्यककरण, ऐसी तीन सझाएँ मिलती हैं, दिगम्बर ग्रन्थोंमें उस अर्थकेलिये सिर्फ आवर्जितकरण, यह एक सझा है । पृ०-१५५ ।

श्रुताम्बर ग्रन्थोंमें कालको स्वतन्त्र द्रव्य भी माना है और उपचरित भी । किन्तु दिगम्बर ग्रन्थोंमें उसको स्वतन्त्र ही माना है । स्वतन्त्र पक्षमें भी कालका स्वरूप दोनों सप्रदायके ग्रन्थोंमें एकसा नहा है । पृ०-१५७ ।

किसी किसी गुणस्थानमें योगोंकी सझा गोम्मटसारमें कम प्रथकी अपेक्षा भिन्न है । पृ०-१६० नाट ।

दूसरे गुणस्थानके समय ज्ञान तथा अज्ञान माननेवाला उस नो पक्ष श्रुताम्बर ग्रन्थोंमें है, परन्तु गोम्मटसारमें सिर्फ दूसरा पक्ष है । पृ०-१६९, नोट ।

गुणस्थानोंमें लेझ्याकी सझाक सवन्धमें श्रुताम्बर-ग्रन्थोंमें दो पक्ष हैं और दिगम्बर ग्रन्थोंमें सिर्फ एक पक्ष है । पृ०-१७२, नोट ।

[ जीव सम्यक्त्वसहित मरकर स्त्रीरूपमें पैदा नहीं होता, यह बात दिगम्बर सप्रदायका मान्य है, परन्तु श्रुताम्बर सप्रदायको यह मन्तव्य इष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें भगवान् महिलाथका श्रीवेद तथा सम्यक्त्वसहित उत्पन्न होना माना गया है । ]

शब्द । शृष्ट । पश्चित् ।

औ ।

औपपातिकदारीर ९२ १३

औपशमिक १९८ १

औपशमिकचारित्र १९७ १४

क ।

करण ४१ १०

करण अपर्याप्त ४० ८

करणपर्याप्त ४० १३

[कायायिक परिणाम] २२३ १३

सापोपशम १३८ ५

सापोपशमिक १३८ १

ग ।

गन्धिभक्षजन्य औपश

मिकसम्यक्त्व ३५ १३

गतित्रस ८१ १०

घ ।

[घन] १२१ १

[घनीकृत लोक] ११८ ४

ङ ।

साद्यस्थिकयधारुपात ६१ १५

ज ।

अधन्य अनन्तानन्त २२० १८

अधन्य असख्याता-

२२०

शब्द । शृष्ट । पश्चित् ।

अधन्य परीतानन्त २२० ७

अधन्य परीतासख्यात २१८ ११

अधन्य युक्तानन्त २२० १३

अधन्य युक्तासख्यात २१८ १५

अधन्य सख्यात २०९ २४

[जातमन्य] ६५ २

[जीवसमाप्त] १३ ५

ज्ञानसहा ३८ ५

ल ।

तिर्यक्प्रचय १५८ २३

[तिर्यक्प्रचय] ३ १६

द ।

दीर्घकालोपदेशिणी

सहा ३८ २२

दृष्टिबाधोपदेशिणीसहा ३८ २६

द्रव्यप्राण ३ ४

द्रव्यमन १३५ १३

द्रव्यलोहया ३३ ४

३ १९

गुणस्थानोंमें बन्ध, उदय आदिका विचार पञ्चसग्रहमें है ।  
पृ०-१८७, नोट ।

गुणस्थानोंमें अस्प बहुत्वका विचार पञ्चसग्रहमें है । पृ०-  
१९०, नोट ।

कर्मके भाव पञ्चसग्रहमें हैं । पृ०-२०४, नोट ।

इतर प्रकृतिओंके मूल बन्ध हेतुका विचार कर्मग्रन्थ और  
पञ्चसग्रहमें भिन्न भिन्न शैलीका है । पृ०-२२७ ।

एक जीवाश्रित भावोंकी सख्या मूल कर्मग्रन्थ तथा मूल पञ्च-  
सग्रहमें भिन्न नहीं है, किन्तु दोनोंकी व्याख्याओंमें देखने योग्य  
योद्धाता विचार भेद है । पृ०-२२९ ।

शब्द । पृष्ठ । पङ्क्ति ।

न ।

[निगोदशरीर] २२३ २८

निरतिचारछेदोपस्था

पर्त्तायसयम ५८ २१

[निष्ठा] ६ ७

[निर्विभाग अद्य] २२२ २२

निर्विशमानकपरिहार

विशुद्धसयम ६० २०

निर्विष्टकायिकपरिहार

विशुद्धसयम ६० २१

निर्धृष्टि अपर्याप्त ४१ २

निर्धृष्टीन्द्रिय ३६ २४

निश्चयमरण ८९ १७

नोकपाय १७८ १७

प ।

पर्याप्ति ४१ २१

[पल्लोपम] २८ ६

[पूर्व] २९ ४

पूर्वप्रतिपन्न १९३ १३

[प्रतर] ११८ ४

प्रतिपद्यमान १९३ १२

[प्रत्येकशरीर] २० २

प्रथमोपशमसम्यक्त्व

शब्द । पृष्ठ । पङ्क्ति ।

प्रवेगोदय १३७ १६

व ।

[वचनकार] ६ ४

वन्धरयान २७ २४

म ।

भवप्रत्यय ११४ १७

भवस्य अगोर्गा १९४ २४

भाव १९६ ११

भावान्न ३ ५

भावट्टका ३३ १८

[मात्रे] ५ १

[मात्रेन्द्रिय] १३३ १७

मात्रेन्द्रिय ३६ २१

म ।

मप्यन धनन्दानन्द २२० २०

मप्यन धनन्दानन्द २२० २०

मप्यन धनन्दानन्द २२० २०

मप्यन धनन्दानन्द २२० २०

मप्यन धनन्दानन्द २२० २०

मप्यन धनन्दानन्द २२० २०

मप्यन धनन्दानन्द २२० २०

मप्यन धनन्दानन्द २२० २०

मप्यन धनन्दानन्द २२० २०

## परिशिष्ट न० ३ ।

## चौथा कर्मग्रन्थ तथा पञ्चसग्रह ।

जीवस्थानोंमें योगका विचार पञ्चसग्रहमें भी है । पृ०—  
१५, नोट ।

अपर्याप्त जीवस्थानके योगोंके सन्धका मत भेद जो इस कर्म  
ग्रन्थमें है, वह पञ्चसग्रहकी टीकामें विस्तारपूर्वक है । पृ०—१६ ।

जीवस्थानोंमें उपयोगका विचार पञ्चसग्रहमें भी है । पृ०—  
२०, नोट ।

कर्मग्रन्थकारने विभक्तज्ञानमें दो जीवस्थानोंका और पञ्चसग्रह-  
कारने एक जीवस्थानका उल्लेख किया है । पृ०—६८, नोट ।

अपर्याप्त अवस्थाम औपशमिकसम्यक्त्व पाया जा सकता है, यह  
बात पञ्चसग्रहमें भी है । पृ०—७० नोट ।

पुरुषासे स्त्रियोंकी सख्या अधिक होनेका वर्णन पञ्चसग्रहमें है ।  
पृ०—१२५, नोट ।

पञ्चसग्रहमें भी गुणस्थानोंको लेकर योगोंका विचार है ।  
पृ०—१६३, नोट ।

गुणस्थानमें उपयोगका वर्णन पञ्चसग्रहमें है । पृ -१६७, नोट ।

ग्रन्थ हेतुओंके उत्तर भेद तथा गुणस्थानोंमें मूल बन्ध हेतु  
ओंका विचार पञ्चसग्रहमें है । पृ०—१७५, नोट ।

सामान्य तथा विशेष बन्ध हेतुओंका वर्णन पञ्चसग्रहमें विस्तृत

१८१, नोट ।

शब्द । पृष्ठ । पक्ति ।

[रज्जु] ११८ ४

ला ।

छन्धि अपर्याप्त ४० ५

छन्धिप्रस ८१ १०

छन्धिपयाम ४० १०

छन्धिप्रत्ययशरीर ९२ १५

छन्धीन्द्रिय ३७ १४

[सवसत्तम देव] ७१ ११

लिङ्गशरीर ९४ ४

घ ।

बक्रगति १४४ १५

[यग] ११७ १

[वामूल] ११८ ६

विमह १४३ १०

विपाकादय १३७ १५

विशुद्ध्यमानसूक्ष्म ६१ ९

सपरायसयम ४ ९

[विशेष] १८१ १४

[विशेष बच हेतु] १२२ ६

[विशेषाधिक] ४ ९

[विस्तार] ६२ ३

[विस्था] ७ ५

बैभाविक ७९ १५

न्यावहारिकमरण १९ १५

शब्द । पृष्ठ । पक्ति ।

शतपृथक्त्व १९३ १६

शरीर १३५ २१

म ।

सत्कल्पना २१० १५

सत्तास्थान २७ २५

[समय] ४९ १

सरागमयम ८४ २४

[सागरोपम] १८ ६

सातिचारछदोपस्थाप ५८ १८

नीयसयम ४ १६

[सामा य] १८१ १३

[सामा य ब च हेतु] ९४ ४

सूक्ष्मशरीर ११८ ५

[सामान] ६ ८

[समम] ६ ५

[सममणकरण] ६१ ५

साहेद्वयमानकसूक्ष्म ४ १५

सपरायसयम ३८ ३

[मज्ज] ५८ २

सक्षा ११ ३

[स्थितकल्पा] १८ ११

[स्थितास्थितकल्पी] ३८ ११

ह ।

हेतुवादोपदेशिकीसक्षा ३८ ११

घोलने तथा सुननेकी शक्ति न होनेपर भी एकेन्द्रियमें श्रुत उप-  
योग स्वीकार किया जाता है, सो किस तरह ? इसपर विचार ।  
पृ०—४५ ।

पुरुष व्याक्तिमें स्त्री योग्य और स्त्री व्यक्तिमें पुरुष योग्य भाव  
पाये जाते हैं और कभी ता किसी एक ही व्यक्तिमें स्त्री पुरुष दोनोंके  
साक्षाद्भ्यन्तर लक्षण होते हैं । इसके विध्वस्त मधूत । पृ० ५३, नोट ।  
आचकौंकी दया जो सदा विद्वा कहां जाती है, उसका खुलासा ।  
पृ०—६१, नोट ।

मन पर्याय उपयोगको कोई आचार्य दर्शनरूप भी मानते हैं,  
इसका प्रमाण । पृ०—६२, नोट ।

जातिभ्रम्य किसको कहते हैं ? इसका खुलासा । पृ०—६५, नोट ।  
औपशमिः सम्यक्त्वम दो जीवस्थान माननेवाले और एक  
जीवस्थान माननेवाले आचार्य अपने अपने पक्षकी पुष्टिकेलिये  
अपर्याप्त अवस्थामे औपशमिकमस्यक्त्व पाये जाते और न पाये  
जानेक विषयम क्या क्या युक्त देते हैं ? इसका सविस्तर वर्णन ।  
पृ०—७०, नोट ।

समूच्छिष्ठमनुष्योंकी उत्पत्तिके क्षेत्र और स्थान तथा उनकी आयु  
और योग्यता जाननेकेलिये आगमिक प्रमाण । पृ०—७२, नोट ।

स्वर्गसे उद्युत होकर वेध किन स्थानोंमें पैदा होते हैं ? इसका  
कथन । पृ०—७३, नोट ।

बहुदर्शनमें कोई तीन ही जीवस्थान मानते हैं और कोई छह ।  
यह मत भेद इन्द्रियपर्याप्तिकी भिन्न भिन्न व्याख्याओंपर निर्भर है ।  
इसका सप्रमाण कथन । पृ०—७६, नोट ।

कर्मग्रन्थमें स्त्री और पुरुष, ये दो वेद



गाथादु ।	माकृत ।	अ ।	हिन्दी ।
७२—अओपर	सस्कृत ।	अव पर	इससे अगादी ।
४८—अतदुग	अन्तार्दिक	अन्तादिम	{ 'सयोगकेवली' और 'अयोग केवली' नामके अन्तके दो-तेर हवाँ और चौदहवाँ गुणस्थान ।
४७—अताइम	अन्तिम	अखीरका	अखीरका और शुरूका ।
२३, २८—अतिम	आख्या	नाम ।	अखीरका ।
७३—अकला	अग्नि	अग्निनायिक	नाम ।
३६, ३८—अग्निग	अचक्षुष	{ 'अचक्षुर्दर्शन' नामक दर्शन— विशेष [६२-६]	{ 'अचक्षुर्दर्शन' नामक दर्शन— विशेष [६२-६]
१०, २५, ३२, ४२ } —अचक्षु	अपट्टहास	छह हास्यादिको छोड़कर ।	छह हास्यादिको छोड़कर ।
५८—अछहास			

—[ ] इस ऋचि के अन्तरको मङ्ग, [ ] और पङ्क्तिको अङ्गु दे ताता ताता नन राब्दोना विरोध अथ उद्दिष्टित है ।

## परिशिष्ट नं० ४ ।

ध्यान देने योग्य कुछ विशेष विशेष स्थल ।

जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थानका पारस्परिक अन्तर ।

पृ०-५ ।

परमपत्नी आयु बाँधनेका समय विभाग अधिकारी भइके अनु-  
सार किस किस प्रकारका है ? इसका सुलासा । पृ०-२५, नोट ।

उद्धारणा किस प्रकारके कर्मकी हाँसी है और वह कप तक हो  
सकती है ? इन त्रिपयका नियम । पृ०-२६, नोट ।

द्रव्य लक्ष्याक स्वरूपके सम्बन्धमें कितने पक्ष हैं ? उन सबका  
आशय क्या है ? भावलेक्ष्या क्या वस्तु है और महाभारतमें, योग-  
दर्शनमें तथा गोशालकके मतमें लेक्ष्याके स्थानमें कैसी कल्पना है ?  
इत्यादिका विचार । पृ०-३३ ।

ज्ञातृमें चक्रेन्द्रिय, द्वान्द्विन्द्रिय आदि जो इन्द्रिय सोपेक्ष प्राणियोंका  
विभाग है वह किस अपेक्षासे ? तथा इन्द्रियके कितने भेद प्रभेद  
हैं और उनका क्या स्वरूप है ? इत्यादिका विचार । पृ०-३६ ।

सक्षाका तथा उसके भेद प्रभेदोंका स्वरूप और साक्षित्व तथा  
असाक्षित्वके व्यवहारका नियामक क्या है ? इत्यादिपर विचार ।  
पृ०-३८ ।

अपर्याप्त तथा पर्याप्त और उसके भेद आदिका स्वरूप तथा  
पर्याप्तिका स्वरूप । पृ०-४० ।

केवलज्ञान तथा केवलदर्शनके कमभावित्व, सहभावित्व और  
भेद, इन तीन पक्षोंकी मुख्य-मुख्य दलीलें तथा उक्त तीन पक्ष  
नयकी अपेक्षासे हैं ? इत्यादिका वर्णन । पृ०-४३ ।

शब्द ।

[रञ्जु]

छन्धि अपर्याप्त

छन्धिप्रस

छन्धिपयाम

छन्धिप्रत्ययशरीर

छत्पीन्द्रिय

[लवससम देव]

छिन्नशरीर

चक्रगति

[यग]

[च।मूल]

विमह

विपाकोदय

विशुद्धभ्यमानसूक्ष्म

सपरायसयम

[विशेष]

[विशेष वचन हेतु]

[विशेषाधिक]

[विस्तार]

[विस्वा]

विभाविक

न्यावहारिकमरण

बौधा कर्मग्रन्थ ।

'अप्रमत्त' नामक सातवों गुणधाना

'अप्रमत्त' नामक सातवें गुणस्थान

{ तह ।

'अपूर्वकरण' नामक आठवों गुण स्थान ।

'अपूर्वकरण' नामक आठवें गुण स्थान ।

च ।

अपर्याप्त

अप्रमत्त

अप्रमत्तान्त

अपूर्व

अपूर्वपञ्चक

अप्रमत्त

१३,७०—अष्टक

४६—अष्टकपण

सम्यक्त्व सहेतुक है या निहेतुक ? क्षायोपशमिक आदि भेदोंका आधार, औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका आपसमें अन्तर, क्षायिकसम्यक्त्वकी उन दोनोंसे विशेषता, कुछ शङ्का समाधान, विपाकोदय और प्रदेशोदयका स्वरूप, क्षयोपशम तथा उपशम शब्दोंकी व्याख्या, एवं अन्य प्रासादिक विचार । पृ०-१३६ ।

अपर्याप्त अवस्थामें इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके पहिले चक्षुर्दर्शन नहीं माने जान और चक्षुर्दर्शन मान जानेपर प्रमाणपूर्वक विचार । पृ०-१४१ ।

वक्रगतिके सम्बन्धमें तीन बातोंपर सविस्तर विचार -(१) वक्रगति के विप्रद्वोंकी सख्या, (२) वक्रगतिका काल मान और (३) वक्रगतिमें अनाहारकत्वका काल मान । पृ०-१४३ ।

अवधिदर्शनमें गुणस्थानोंकी सख्याक विषयमें पक्ष भेद तथा प्रत्येक पक्षका तात्पर्य अर्थात् त्रिभिन्नज्ञानसे अवधिदर्शनका भेदाभेद । पृ० १४६ ।

त्रैतान्त्र दिगम्बर संप्रदायमें केवलहार विषयक मत भेदका समन्वय । पृ०-१४८ ।

केवलज्ञान प्राप्त कर सकनेवाली स्त्रीजातिकेलिये श्रुतज्ञान-विशेषका अर्थात् दृष्टिवादके अध्ययनका निषेध करना, यह एक प्रकारसे विरोध है । इस सम्बन्धमें विचार तथा नय दृष्टिसे विरोधका परिहार । पृ०-१४९ ।

चक्षुर्दर्शनके योगोंमेंसे औदारिकमिश्रयोगका वर्जन किया है, सो किस तरह सम्भव है ? इस विषयपर विचार । पृ०-१५४ ।

केवलिसमुद्धातसम्बन्धी अनेक विषयोंका वर्णन उपनिषदोंमें तथा गीतामें जो आत्माकी व्यापकताका वर्णन है, उसका जैन दृष्टिसे मिलान और केवलिसमुद्धात जैसी क्रियाका वर्णन अन्य किस दर्शनमें है ? इसकी सूचना । पृ०-१५५ ।

गा० ।	प्रा० ।	सं० ।	वि० ।
१—अप्ययहू	अत्यबहु	कम और ज्यादा [७-४] ।	
५९—अवधम	अवन्धक	यन्धन करनेवाला जीव विशेष ।	
७८, ८३—अवभास	अव्यास	‘अभ्यास’-नामक गणितका संकेत विशेष [२१८ १८] ।	
१९, २६, ३२—अभव(त्व)	अभव्य	सिद्ध न होनेवाला जीव विशेष ।	
४३—अभविद्यर	अभव्येतर	{ ‘अभव्य’ और ‘भव्य’ नामक जीव विशेष ।	
८३—अभवत्रजिय	अभव्यजीव	‘अभव्य’ नामक जीव विशेष ।	
६६—अभवत्त	अभव्यत्व	‘अभव्यत्व’ नामक मार्गणा विशेष ।	
५१—अभिगदिय	आभिप्रदिक	{ ‘आभिप्रदिक’ नामक मिथ्यात्व विशेष [१७६-४] ।	
५१—अभिनिवेशिय	आभिनिवेशिक	{ आभिनिवेशिक’ नामक मिथ्यात्व-विशेष [१७६-७] ।	
८५—अलोगनह	अलोकनभम्	अलोकाकाश ।	
५८—अलोभ	अलोभ	लोभको छोड़कर ।	
५०—अलेशा	अलेश्य	छेड़या रहित ।	

माने हैं और सिद्धान्तमें एक नपुंसक, सो किस अपेक्षासे ? इसका प्रमाण । पृ०-७८, नोट ।

अज्ञान त्रिकमे दा गुणस्थान माननेवालोंका तथा तीन गुणस्थान माननेवालाका आशय क्या है ? इसका खुलासा । पृ०-८२ ।

कृष्ण आदि तीन अशुभ लक्ष्याओंमें छह गुणस्थान इस कर्म ग्रन्थमें माने हुए हैं और पञ्चसमूह आदि ग्रन्थोंमें एक तीन लक्ष्याओंमें चार गुणस्थान माने हैं । सो किस अपेक्षासे ? इसका प्रमाण पूर्वक खुलासा । पृ०-८८ ।

जब मरणके समय ग्यारह गुणस्थान पाये जानेका कथन है, वह विप्रहृतिमें तीन ही गुणस्थान कैसे माने गये ? इसका खुलासा । पृ०-८९ ।

श्रीवेदमें तेरह योगोंका तथा वेद सामान्यमें बारह उपयोगोंका और नौ गुणस्थानोंका जो कथन है, सो द्रव्य और भावमेंसे किस किस प्रकारके वेदको लेनेसे घट सकता है ? इसका खुलासा । पृ०-९७, नोट ।

उपशमसम्यक्स्वके योगोंमें औदारिकमिश्रयोगका परिगणन है, जो किस तरह सम्भव है ? इसका खुलासा । पृ०-९८ ।

मार्गणाओंमें आ अरुपाबहुत्वका विचार कर्मग्रन्थमें है, वह आगम आदि किन प्राचीन ग्रन्थोंमें है ? इसकी सूचना । पृ०-११५, नोट ।

कालकी अपेक्षा क्षेत्रकी सूक्ष्मताका सप्रमाण कथन । पृ०-१७७ नोट ।

शुद्ध, पद्म और तेजो लक्ष्यावालोंके सख्यातगुण अल्प बहुत्वपर शङ्का समाधान तथा उस विषयमें टिप्पणकारका मन्तव्य । नोट

तीन योगोंका स्वरूप तथा उनके बाह्य-आभ्यन्तर

दि० ।

{ 'अवधिज्ञात' नामक ज्ञान विशेष ।  
[५६-११]

भी ।

{ 'चैक्रिय' और 'आह्लाक' नामक  
काययोग विशेषको छोड़कर ।

पापों से विरक्त न होना ।

चौथे गुणस्थानवाला जीव ।

{ 'असत्यसृष' नामक मूल तथा  
वचनयोग विशेष [९१-३] ।

{ 'असिद्धत्व' नामक औद्ययिक  
भाव विशेष [१९९-१७] ।

मन्तरहित जीव [१०-१९] ।

'असक्य' नामक गणना विशेष ।

{ 'असक्यासक्य' नामक गणना-  
विशेष ।

ल० ।

मा० । प्रा० ।

अवधि

११—अवधि

अधि

३७, ८३—अधि

अचैक्रियाहार

५७—अचैक्रियाहार

अविरति

५०, ५१, ५६, ५७—अविरति

अविरत

६३—अविरत

असत्यसृष

२४—असत्यसृष

असिद्धत्व

६६—असिद्धत्व

असक्या

२, ३, १५, २, २२, } —अस(त्स)नि  
२७, ३२, ३६,

असक्य

३८, ४०, २, ४२, } —असक्य  
४४, ६३, ७१, ८०,

असक्यासक्य

८०—असक्यासक्य

सम्यक्त्व सहेतुक है या निहेतुक ? क्षायोपशमिक आदि भेदोंका आधार, औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका आपसमें अन्तर, क्षायिकसम्यक्त्वकी उन दोनोंसे विशेषता, कुछ शङ्का समाधान, विपाकोदय और प्रदेशोदयका स्वरूप, क्षयोपशम तथा उपशम शब्दकी व्याख्या, एवं अन्य प्रासङ्गिक विचार । पृ०-१३६ ।

अपर्याप्त अवस्थामें इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके पहिले चक्षुर्दर्शन नहीं माने जान और चक्षुर्दर्शन मान जानेपर प्रमाणपूर्वक विचार । पृ०-१४१ ।

वक्रगतिके सन्न्यधमें तीन बातोंपर सविस्तर विचार -(१) वक्रगति के विप्रहोंकी सख्या, (२) वक्रगति का काल मान और (३) वक्रगतिमें अनाहारकत्वका काल मान । पृ०-१४३ ।

अवधिदर्शनमें गुणस्थानोंकी सख्याके विषयमें पक्ष भेद तथा प्रत्येक पक्षका तात्पर्य अर्थात् विभङ्गज्ञानसे अवधिदर्शनका भेदाभेद । पृ० १४५ ।

श्वेताम्बर दिग्म्बर सप्रदायमें कवलाहार विषयक मत भेदका समन्वय । पृ०-१४८ ।

केवलज्ञान प्राप्त कर सकनेवाली स्त्रीजातिकेलिये श्रुतज्ञान-विशेषका अर्थात् दृष्टिवादके अभ्ययनका निषध करना, यह एक प्रकारसे विरोध है । इस सम्बन्धमें विचार तथा नय दृष्टिसे विरोधका परिहार । पृ०-१४९ ।

चक्षुर्दर्शनके योगोंमेंसे औदारिकमिश्रयोगका वर्जन किया है, सो किस तरह सम्भव है ? इस विषयपर विचार । पृ०-१५४ ।

केवलिसमुद्भातसम्बन्धी अनेक विषयोंका वर्णन उपनिषदोंमें तथा गीतामें जो आत्माकी व्यापकताका वर्णन है, — दृष्टिसे मिलान और — जैसी क्रियाका — दर्शनमें है ? इसकी —



गा०	प्रा०	स०	हि०
३७, ३९, ४०, ४१—असख्यगुण	असजम ६६— [२०० ?]	असरयगुण असयम	असख्यात गुना ।
१२, २०, २९, ३३, — अहस्वाय ३७, ४१, — [६१-१२,]	असभविन् ५५—अह	असभविन् अय	'असयम' नामक औदयिक भाव विशेष ।
३८, २, ४० ६२—अहिय	४९—अहियगय	यथाख्यात अधिकृत अधिक	न हो सकनेवाली बात । प्रारम्भमें ।
१, २१ २, ६१, } —आइ (ई) ६५, ७०	आइम ८१—आइम	आ आदि आदिम आदिमद्विक	'यथाख्यात'—नामक चरित्र विशेष । अधिकार में आया हुआ । उपादा ।
६१—आउ	७८—आवखिया	आयुप् आवलिका	प्रथम । प्राथमिक ।
			पहिले दो—पहिला और दूसरा गुणस्थान ।
			'आयुप्'—नामक कर्म-विशेष । 'आवलिका'—नामक कालका भाग विशेष ।

जैनदर्शनमें तथा जैनतर दर्शनमें कालका स्वरूप किस किस प्रकारका माना है ? तथा उसका वास्तविक स्वरूप कैसा मानना चाहिये ? इसका प्रमाणपूर्वक विचार । पृ०-१५७ ।

उह लेश्याका सम्बन्ध चार गुणस्थान तक मानना चाहिये या उह गुणस्थान तक ? इस सम्बन्धमें जा पक्ष हैं, उनका आशय तथा शुभ भावलेश्याके अशुभ द्रव्यलेश्या और अशुभ द्रव्यलेश्याके समय शुभ भावलेश्या, इस प्रकार लेश्याओंकी विषमता किन जीवोंमें होती है ? इत्यादि विचार । पृ०-१७२, नोट ।

कमबन्धक हेतुआसी भिन्नभिन्न सख्या तथा उसके सम्बन्धमें कुछ विशय ऊहापोह । पृ०-१७४, नोट ।

आभिप्रक्षिक, अनाभिप्रक्षिक और आभिनिवेशिक मिथ्यात्वका शास्त्राय खुलासा । पृ०-१७६, नोट ।

तार्थकरनामकर्म और आहारक द्विक, इन तीन प्रकृतियोंके बन्धको कहीं कपाय हेतुक कहा है और कहीं तार्थकरनामकर्मके बन्धको सम्यक्त्व हेतुक तथा आहारक द्विकके बन्धको समय हेतुक, सो किम अपेक्षासे ? इसका खुलासा । पृ० १८१, नोट ।

उह भाष और उनक भदोंका वर्णन अन्यत्र कहीं कहीं मिलवा है ? इसकी सूचना । पृ०-१९६, नोट ।

मति आदि अज्ञानोंको कहीं क्षायोपशमिक और कहीं औदयिक कहा है, सो किस अपेक्षासे ? इसका खुलासा । पृ० १९९, नोट ।

संख्याका विचार अन्य कहीं कहीं और किम किस प्रकार है ? इसका निर्देश । पृ०-२०८, नोट ।

६ तथा भिन्नभिन्न समयमें एक या अनेक जीवानिष्ठ भाव और उत्तर भेद । पृ०-२२५

गुणस्थानोंमें

हि०

सं०

प्र०

गा०

६०—आसुहम

आसुहम

१, १६, २२, २४, } आहार (ग)  
२५, ३१, ४९, ५३ } — [५०, ६, ९२, २५,]

आहार (क)

२६, ४६, ४७, } आहार (ग)  
५५, ५६, } — दु (ग)आहार (क)  
द्वि (क)

आहारकमिश्र

४७—आहारमसि

१४—आहारैवर  
[६८, १६]

आहारैवर

१—इन्द्रिय [४८, १]

इन्द्रिय

८०—इक्षसि

सकृत्

२२, ५७, —इक्षा (गा) र

एकादश

७४—इक्षि

एकैक

१०, १९, २७, } इग [५२, २]  
३२, ५०, }

एक

'सूक्ष्मसवण्य' नामक दमवै  
गुणस्थान तक ।'आहारक' नामक मार्गणा, शरीर  
तथा कर्म विशेष ।'आहारक' और 'आहारक मिश्र'  
नामक योग विशेष ।'आहारक मिश्र' नामक काययोग-  
विशेष ।'आहारक' और 'अनाहारक'  
नामक दो मार्गणा विशेष ।'इन्द्रिय' नामक मार्गणा विशेष ।  
एक बार ।

ग्यारह ।

एक एक ।

एक तथा 'एकैन्द्रिय' नामक  
जीवजाति विशेष ।

गा०	प्र०	सं०	हि०
५१—इगगुण	एकगुण	पहिला गुणस्थान ।	
५२—इगपञ्च	एकप्रत्ययक	एक कारणसे होनेवाला मन्ध- विशेष ।	
६४—इगकीस	एकविंशति	इक्कीस ।	
१८—इत्तो	इन	यहाँसे ।	
११, २६, ३९—इत्थि [५३ ११]	स्त्री	‘स्त्रीवेद’ नामक वेद विशेष ।	
७२—	इदम्	यह	
८१, ८४—	इमान्	इनको	
७८—	अस्य	इसका	
४—	एषु	इनमें	
२४, ५२, ६८, }—इय	इति	समाप्त और इस प्रकार ।	
७५, ८०, ८६ }	इतर	दुलटा प्रतिपक्षी ।	
४४, ४७, ६३, }—इयर	इह	यहाँ ।	
२, ४९—इए	उ		
२९, ३६, ४६, ५२, }—उ	उ		
५४, ६०, }			

मा०	प्रा०	सं०	हि०
७४, ८४—नह	तथा	तथा	वसी प्रकार ।
७४—ता	तावत्	तावत्	तवत्क ।
२, ७, २०, २१, ३०, ३२, ३३, ३८, ४८, ५२, ५७, ७०, ७७, ७९, ३४, ३५, ३६ ३८, ७०	त्रि ( ग )	त्रि ( क )	तीन ।
३२, ३३ ४८—तिथनाण	अज्ञान		'कुमति', 'कुशुत' और 'विमङ्ग'- नामक अज्ञान ।
८४—तिक्खुत्तो	त्रिकृत्व		तीन बार ।
५५—तिचत्त	त्रिचत्वारिंशत्		तेत्तालीस ।
५०, ५३—तिपव्वअ	त्रिप्रत्ययक		तीन कारणोंसे होनेवाला बन्ध विशेष ।
१०, १७, ६४—तिय( गइ ) [ ५० ६ ]	त्रिक		तीन, तीन इन्द्रियोंवाला जीव- विशेष ।
५४—तियदियच्च	त्रिकाधिकत्वा रिंशत्		सैंतालीस ।

गा०

प्रा०

६१—उद्धारि

७१—उद्धारस

५२—उत्तर

७, ८, ९, १०, २, ६, ७, २, } उद्धार्य (इण)

६९, } [६१, ११७, ६,

२०५३]

७, ८, —उद्धारिणा [६५]

७१, ७७—उद्धारिण

४, ५, २४, २९, } —उद्धार [९३-८]

४९, ४७, }

२६, २७, २८—उद्धारिण

४, २८, ३९, } —उद्धारिण (मिस्)

४९, ५६, } (जोग)

१, ५, ३०, ३५, ६५, —उद्धारिण [५८]

१ क्रियापद शब्द विभक्ति-मणित रक्ते गये हैं ।

सं०

उद्धारयति

उत्कृष्ट

उत्तर

उद्धार्य

उद्धारिणा

उद्धारित

औद्धारिक

औद्धारिक द्विक

औद्धारिकमिश्र

(योग)

उद्धारयोग

हि०

उद्धारित होते हैं ।

सबसे बड़ा ।

अवान्तर विशेष तथा 'औद्धारिक'-

नामक भाव विशेष ।

'उद्धार्य' नामक कर्मोंकी अवस्था

विशेष ।

'उद्धारिणा' नामक कर्मोंकी अव

स्था विशेष ।

निकाल लेना ।

'औद्धारिक' नामक काय याग

विशेष ।

'औद्धारिक' और 'औद्धारिकमिश्र'-

नामक काययोग विशेष ।

'औद्धारिकमिश्रयोग' नामक काय

योग विशेष ।

'उद्धारयोग' नामक भार्गवा विशेष

११, २६, १ — तिरि (य) (गई)  
३०, ३७ [१११७]

८१ ८५—तिवगिग

८३—तिवगिग

७१—तिविह

७१—तिहा

७२, ८० ८६—तु

६६, ७६—तुरिय

४१—तुळ

५०—तेउतिग

१३, १५—तेऊ [६४ १२]

२६, ३५ २, ७, ३२—तेर (स)

११, ५०—सि

१५ २७, ३२—यावर

१८—यी

तिर्यञ्च (गति)

त्रिवर्गितुम्

त्रिवर्गित

त्रिविष

त्रिया

तु

तुरीय

तुह्य

वज्रसिक्क

तेज

त्रयोदशन्

इति

थ

स्थावर

स्त्री

‘तिर्यग्गति’ नामक गति विशेष ।

तीन बार वर्ग करनेके लिये ।

तीन बार वर्ग किया हुआ ।

तीन प्रकार ।

तीन प्रकार ।

तो ।

चौथा ।

बराबर ।

‘तेज’, ‘पद्म’ और ‘शुद्ध’ ये

तीन लक्ष्याएँ ।

‘तेज’ नामक लक्ष्या विशेष ।

तेरह ।

समाप्त तथा इस प्रकार ।

‘स्थावर’ नामक जीवोष्ठी जाति विशेष

‘स्त्री वद’ नामक मार्गणा विशेष ।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
५९, ७०—उपरिम	उपरिम	उपर का ।	उपर का ।
१३, २२, २६, ३४, } उपसम [६५ ५, ४३, ६४, ६७, } — १९६ २४, २०५ १]	उपशम	उपशम	उपशम नामक सम्यक्त्व तथा प्राप्त विशेष ।
६८—उवसमसेतो	उपशम श्रेणि	उपशम श्रेणि	'उपशम श्रेणि' नामक श्रेणि विशेष ।
७०—उवसामग	उपशमक	उपशमक	नौवौं और दसवौं गुणस्थान ।
५८, ६०, ६१, } —उवसत ६२, ७०, }	उपशान्त	उपशान्त	'उपशान्त मोह' नामक ग्यारहवौं गुणस्थान ।
१२, २७, ३१, ४६, } —ऊण ५५, ७७, ७९, ८१	ऊ	ऊ	
५९, ७०, ७१, ७५—एग	ए	ए	एक ।
८१—एगजियदेस	एकजीविदेस	एक जीविके प्रवेश ।	एक ।
७७—एगरासी	एकराशि	एक समुदाय ।	एक ।
१५, ३६, ३८, ४९, } —ए(द)गिदि १० ११]	एकेन्द्रिय	एक इन्द्रियबाला जीव विशेष ।	एक इन्द्रियबाला जीव विशेष ।
६९, ८५—एव	एव	ही ।	ही ।
७१, ७६—एव	एवम्	इस प्रकार ।	इस प्रकार ।



गा०	भा०	सं०	हि०
३७, ३८, ३९ २, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६ } —थोव		स्तोक	थोव ।
१९, ३६—दग		द	
६, १६, २०, ३१, } —दस ५४, ५८, ८१		दक	'सलकाय' नामक स्थावरजीव विशेष ।
६५—दाणाइलखि ७४, ७५—दीबुवही		दश	दस ।
१२, ८, १५, २, १८ १९, २, २०, २१, २३, २, ३५, २, ३७, ३८, ४२, ४४, ४७, ६२, २, ६४, ८२ } —डु(ग)		दानादिलखि दीपोदधि	दान आदि पाँच लब्धियों । द्वीप और समुद्र ।
१६, ३२—डुअनाण		द्वि	दो ।
		अज्ञान	'भृत्यज्ञान' और 'श्रुताज्ञान' नामक दो अज्ञान ।

७३—ओगाढ

१४, २१, २५—ओदिगुग

३४—ओदिदस

१२ ४०, ४२—ओही [६३ १]

१, ३५, ७९—कम

१, २४ २, २७, २८ २,

२९, ४७, ५५,

५६ २

}—कम्म (अ)

९, ११, १६, २५,

१, ५०, २०, ५७,

५२, ६६

}—कसाय [४९ १२]

१३—काऊ [६४ ६]

९, ३५, ३९—काय [४९ ३]

ओ

अवगाढ

अवधिद्विक

अवधिदर्शन

अवधि

क

कम

कर्मण

कषाय

कापोत

काय

गहराई ।

'अवधिज्ञान' और 'अवधिदर्शन'

नामक को सपमार्गणा विशेष ।

'अवधिदर्शन' नामक दर्शन-विशेष ।

'अवधिदर्शन' तथा 'अवधिज्ञान' ।

बारी बारी ।

'कर्मणशरीर'-नामक योग तथा  
शरीर विशेष ।'कषाय' नामक मार्गणा विशेष तथा  
कषाय ।

'कापोत' नामक लेइया विशेष ।

'काय' नामक मार्गणा तथा योग  
विशेष ।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
५७—दुपञ्चभ	द्विप्रत्ययक	दा शरणोत् होनवाला ग्रन्थ	विशेष
३०—दुक्कल	द्विकल	'कुक्कल' और 'कुक्कल' नामक वपयोग विशेष ।	'कुक्कल' और 'कुक्कल' नामक वपयोग विशेष ।
५४, ५७—दु( ग)वीस	द्वाविंशति	दाईस ।	दाईस ।
७२—दुबिय	द्वावय	दो ही ।	दो ही ।
५६—दुमिरस	द्विमिश्र	'औदारिकमिश्र' और 'वैक्रियमिश्र' नामक याम विशेष ।	'औदारिकमिश्र' और 'वैक्रियमिश्र' नामक याम विशेष ।
४५—दुविह	द्विविध	दो घरहसे ।	दो घरहसे ।
३२, ४८—दुदस( ण)	द्विदश( न)	'चक्षुर्वेशन' और 'अचक्षुर्वेशन' नामक दर्शन विशेष ।	'चक्षुर्वेशन' और 'अचक्षुर्वेशन' नामक दर्शन विशेष ।
३७—देव	देव	देवगति ।	देवगति ।
८६—देविदसूरि	देवेन्द्रसूरि	देवेन्द्रसूरि (इस ग्रन्थके कर्ता) ।	देवेन्द्रसूरि (इस ग्रन्थके कर्ता) ।
१२, १७, २२, २९, ३३, ४७, ४६, ४८, ५६, ६२, } [६१-२३]	देस( जय)	'दशविरति' नामक पौचवों गुण स्थान ।	'दशविरति' नामक पौचवों गुण स्थान ।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
८५—काल	काल		'काल' नामक द्रव्य विशेष ।
१३—किण्हा [६३ १९]	कृष्णा		'कृष्णा' नामक लेश्या विशेष ।
१—किम्	किम्		कुछ ।
७६—किर	किल		पादपूर्त्यर्थ ।
३९—कीध	छीध		'नपुसकवेद' नामक उपमार्गणा- विशेष ।
११, ४२—केवल [५६ १६]	केवल		'केवलज्ञान' नामक ज्ञान विशेष तथा 'केवलदर्शन' नामक दर्शन विशेष ।
६५—केवल जुयल	केवल युगल		"
६, १७, २१, २८, ११, ३३, ३७, ४८, ८५	केवलद्विक		"
१२—केवलदसण [६३ ३]	केवलदर्शन		'केवलदर्शन' नामक दर्शन विशेष ।
४१, ६७—केवलिन्	केवलिन		केवलज्ञानी भगवान् ।
११—कोह [५५ २]	क्रोध		'क्रोध' नामक कषाय विशेष ।
४०—कोहिन्	क्रोधिन्		क्रोधवाला जीव ।

गा०	मा०	सं०	हि०
२१, ३५, ४३, २, ६२—दो	४२—नयन	नयन	'चक्षुर्दर्शन' नामक उपयोग विशेष । दो ।
२० ३० ३४, ४८-२—रस (ण) [४९ २०]	द्वि	द्वि	'दर्शन' नामक उपयोग विशेष ।
३२—दसणदुग	दर्शन	दर्शन	'चक्षुर्दर्शन' और 'अचक्षुर्दर्शन'- नामक दर्शन विशेष ।
३३ ४८—दस (ण) तिग	दर्शन	दर्शन	'चक्षुर्दर्शन' और 'अचक्षुर्दर्शन' और 'अवधिदर्शन' नामक दर्शन- विशेष ।
८१—धम्मदेस	धर्मदेश	धर्मदेश	'धर्म'-नामक द्रव्यके प्रवेश ।
४७, ४९-२, ५४, ८४—७	धर्मोदि	धर्मोदि	'धर्म' नामक सर्जीव द्रव्य विशेष ।
११, १६, २५—नपु (स)	न	न	नहीं ।
[५३ १६]	नपुसक	नपुसक	नपुसक ।
७४-२, ७६, ७७, ७९)	नरवा	नरवा	नमस्कार करके ।

२२, २३, ४४, ६७ २, } १२—खड्ग [६६ १२]

६४, ६८ } —ख(ड)य[१९६

१६, २०५ २]

७५—खड्ग

८६—खिच

७५—खिच्यइ

७४—खिविच

८२, ८४—खिचसु

५८, ६०, ६२ २, } —खीण

७०, ७४, ७५, ७६ }

८१, ८४—खे(क्ले)व

६९—खघ

९, ६६—गइ [४७ ११]

१९—गइतम

आयिक

आयिक

क्षपण

क्षिम

क्षियते

क्षित्वा

क्षिप

क्षीण

क्षेप

स्कन्ध

ग

गति

गतियस

'शायिक' नामक सम्यक्तर विशेष्य ।

'आयिक' नामक सम्यक्तर तथा भाव विशेष्य ।

डालना ।

डाला हुआ ।

डाला जाना है ।

डालकर ।

डालो ।

'क्षीणमोह'-नामक चारहवों गुण स्थान तथा नष्ट ।

'क्षेप'-नामक सत्त्वा विशेष्य ।

पुत्रलोक का समूह ।

'गति' नामक मार्गणा विशेष्य ।  
'तज काय' और 'आयुकाय' नामक स्थानवर विशेष्य ।

गा०	श्री०	सं०	दि०
३१—नयनेपर		नयनेतर	'वस्तुवर्षेन' और 'अवधुर्वर्षेन' नामक उपयोग विशेष ।
११, १५, १८, १९, } २५, ३१, ३७, ६८	—नर [५३ १५]	नर	'पुरुषवत्' और 'मनुष्यगति'- नामक मार्गणा विशेष तथा मनुष्य ।
१०, २५—नरनाइ [५१ १५]		नरगति	'मनुष्यगति' नामक उपमार्गणा विशेष ।
१४, १९, २६—नरय		नरक	'नरकगति' नामक उपमार्गणा विशेष ।
२०, २१, २९, ३०, ३३, ५२, ५४ २, } ६४	—मव	नव	नौ ।
९, ३०, ३४— ३, ४९,	—नाण [४९ १६]	ज्ञान	ज्ञान और सम्यग्ज्ञान ।
३३, ४८—नाणतिग		ज्ञानत्रिक	'मतिज्ञान', 'श्रुतज्ञान' और 'अवधि ज्ञान' नामक तीन ज्ञान विशेष ।
८५—निगोयर्जव		निगोयर्जीव	'निगाद्' नामक जीव विशेष ।
७४—निद्विय		निष्ठिव	पूरा हो जाना ।

गा०	मा०	सं०	हि०
३, १८, २३, ३५, ५२—गुण	गुण	गुणस्थान ।	
५४, ५६—गुणचत्त	एकोनचत्वारिंशत्	सन्तालीस ।	
१, ७०—गुणठा(द्वा)ण( ग) [४७]	गुणस्थान( क)	गुणस्थान ।	
७९—गुणण	गुणन	गुणा करना ।	
७२, ७९, ८१—गुरु( अ)	गुरु( क)	चक्रष्ट ।	
२३, १९, ८४, ८५—च	न	और, फिर ।	
३५, ७, १०, १५, १८, १९, २० २, २१, २७, ३०, ३४— २, ३५ ३, ३८, ५० ५२, ६०, ६७ ३, ७० ४, ७७, ७९ २ }	चतुर	चार ।	
६६—चउगइ	चतुर्गति	'मनुष्यगति', 'देवगति', 'तिर्य गति' और 'नरकगति' नामक चार गतियाँ ।	



गा०	भा०	सं०	हि०
३३—नियदुग	निजद्विक	अपने दो ।	अपने दो ।
७१—नियपययुय	निजपययुत	अपने पदसे युक्त ।	अपने पदसे युक्त ।
१०, ३०, ३६, ३७—नि(ना)रय(नह)	निरयगति	‘नरकगति’ नामक गति विशेष ।	‘नरकगति’ नामक गति विशेष ।
[५१ १८]			
१३—नीला [६४ १]	नीला	‘नीला’ नामक छेदया विशेष ।	‘नीला’ नामक छेदया विशेष ।
	प		
७९—पच्छा	पश्चात्	फिर ।	फिर ।
४३—पच्छाणुपुब्धि	पश्चात्पूर्वो	पीछेके क्रमस ।	पीछेके क्रमस ।
२, ३, ५-२, ६, ८, } १७ २, ४५ } [११-३]	पर्याप्त	‘पर्याप्त’ नामक जीव विशेष ।	‘पर्याप्त’ नामक जीव विशेष ।
१७—पल्लियर	पर्याप्तेतर	पर्याप्त’ और ‘अपर्याप्त’-नामक जीव विशेष ।	पर्याप्त’ और ‘अपर्याप्त’-नामक जीव विशेष ।
७३—पडिसलागा [२१२ १६]	प्रतिशलाका	‘प्रतिशलाका’ नामक पस्य विशेष ।	‘प्रतिशलाका’ नामक पस्य विशेष ।
३, ७, १५, २०, २३-२, २८, ३६, ४ २, ७६, ७७, ७९ } ---पढम	प्रथम	पहिला ।	पहिला ।

गा०	प्रा०	स०	हि०
६९—चउपाइन	चतुर्पातिन्		‘ज्ञानावरण’, ‘दर्शनावरण’, ‘मोह नीय’ और ‘अन्तराय’-नामक चार कर्म ।
८०—चउरयय	चतुयक		चीया ।
२—चउदस	चतुर्दश		चौदह ।
५२, ५३—चउपबध	चतु प्रत्ययक		चार कारणोंसे होनेवाला बन्ध विशेष ।
७२—चउपल्लपकवणा	चतुःपल्लयप्ररूपणा		चार ‘पल्लो’ का वर्णन ।
८, ३६, ६३, ७६—चउर्	चतुर्		चार ।
६, ३२—चतुर्दि	चतुर्दिन्द्रिय		चार इन्द्रियोंवाला जीव विशेष ।
५४, ५७—चउवीस	चतुर्विंशति		चौबीस ।
६२, १२, १७, } २०, २८, ३४ } — चकलु [६२ ४]	चतुर्		‘चतुर्दर्शन’ नामक दर्शन विशेष ।
६४ ६५—चरण	चारित्र		‘चारित्र’ ।
१६, १७, १८, २०, } २१, २२, २७ } — चरम	चरिम		अखीरका ।

प्र०	सं०	हि०
१६, २३—पटमलिङ्गसा	प्रथमप्रलिङ्गसा	पहिली तीन (कृष्ण, नील और काशेव) छेदयाएँ ।
१७, १९, २०, ३१, ३५, ३८, ४५, ५१, ५२, ६१, ६२, ६५, ६६, ७०	प्रथमभाव	पहिला (औपशमिक) भाव ।
५३—पणतीस	पञ्च	पाँच ।
५४, ५५—पणपन्न	पञ्चत्रिंशत्	पैंतीस ।
१०, १८, १९, ३१—पणिदि [५२ १०]	पञ्चपञ्चाशत्	पचपन्न ।
८२—पत्तेयमिगोयञ	पञ्चद्वय	पाँच इन्द्रियोवाला जीव ।
५२, ६८—पनर	प्रत्यकनिगोदक	‘प्रत्यकनिगोद’ नामक जीव विशेष ।
५४—पन्न	पञ्चदश	पन्द्रह ।
४७, ५६—पमत्त	पञ्चाशत्	पचास ।
६१—पमत्तत	प्रमत्त	‘प्रमत्त’ नामक छठा गुणस्थान ।
८३—प्रमाण	प्रमत्तान्त	‘प्रमत्त’ नामक छठे गुणस्थान तक ।
१३, १४—पम्हा [६४ १७]	प्रमाण	प्रमाण ।
	पष्ठा	‘पष्ठा’ नामक छेदया विशय ।

गा०	मा०	सं	हि०
६०—घरिमदुग	घरिमदिक	अन्तके दो (तेरहवों और चौदहवों गुणस्थान ।)	ही ।
७४—विय	पव	छह ।	छह ।
४, ८, २, १७, १८, २३, २७, ३६, ३७, ५९, ६१, ५०, २, ६१	पद ( क )	पौच 'स्यावर' और एक 'त्रस', इस तरह छह काय ।	छह ।
१०—छकाय [५१ ९]	पदकाय	छयालीस ।	छयालीस ।
५५—छचत्त	पदचत्वारिंशत्	पौच 'स्यावर' और एक 'त्रस' इस तरह छह प्रकारके जीवोंका वध ।	छह ।
५१—छजियवह [१७७ १०]	पवजीववध	कृष्ण, नील, काशेत, पीत, पद्म और शुक्ल नामक छह लेश्याएँ ।	छह ।
७, २५—छलेस	पहलेश्या	छन्नीस ।	छन्नीस ।
५४, ५६—छर्वीस	पर्विशति	छयालीस ।	छयालीस ।
५४ छद्विअषच	पद्विकथत्वारिंशत्		



गा०	प्रा०	स०	हि०
६५, ७६ २—तद्वय	तृतीय	तृतीय	तृतीय ।
७४, ७५, ८३—तस्मिन्	तस्मिन्	तस्मिन्	तस्मिन् ।
८३—तस्स	तस्य	तस्य	तस्य ।
१८, २६, २७ २, } —तद् ते	ते	ते	ते ।
२९, ४७, ४८, ७९, }	तै	तै	उनके द्वारा ।
७६ २—तेहि (हि)	तत्	तत्	वह ।
५, ३३, ८०, ८१, } —त	तत्	तत्	तस्से ।
६१, ७५—तस्मै	तदन्त	तदन्त	तस्यके अस्तीरमें ।
७४—तद्वत्	तनु (-योग)	तनु (-योग)	'काय योग' नामक योग विशेष ।
१०, १६, २५—तनु (ओग)	तनुपर्याप्त	तनुपर्याप्त	'पर्याप्त' शरीर ।
[५३ ४, १३४ १४,]	तद्वर्ग	तद्वर्ग	तस्यका वर्ग ।
४—तनुपञ्च	अस	अस	'अस' नामक जीव विशेष ।
८४—तद्वग			
१०, १६, १९, २५, } —तस्य [५२ २०]			
३१, ३८			

मा०	भा०	सं०	दि०
७४--पुन	पूर्ण	पूर	पूर ।
३९--युरिस	पुरुष		'पुरुषेदे' नामक उपसार्गणा विशय
७५--पुर्वि	पूर्व		पदिता ।
५८--पुष्टुस	पूर्वोक्त		पदिते करि हुआ ।
८, २७, ६१--पय	पय		पौष ।
७९--पयस	पयस		पौषर्षौ ।
२--पयिदि [१० १७]	पयन्त्रिय		पौष इन्त्रियोवाला जीव ।
	फ		
७६--कुष्ठ	कुष्ठ		स्पष्ट ।
	य		
२, ३, ५, ७, १५, } ५८, ५९	बादर		स्थूल और 'अग्निपृथिव्यादेर' नामक
५, १५, २०, ३०, } ३५, ५१	द्राक्ष		नौवौ गुणस्थान ।
७, १०, ३२, ७९--वि(य)	द्रि, द्वितीय		बारह ।
			वो (द्वितीय जीव) और दूसरा ।











७७, ७८, ७९, ८०, ८१ } -- रूप(प) [२१८ १६]

६५--लखी

७८, ८०, ८१, ८२ } --लहु

७२--लहुसतिम्न

[२०९ २४]

८६--लिखि

८९, ९०, ९१, ९२ } --लेस [५१३ ४९, ५०, ५१, ५२]

८१--लोगागासपस

११, २०--लोम [५६-२]

४०--लोभिन्

६१, ६६ ।

७१--वेदयत

ल

लभि

पाँच लभियौ ।

लघु

अपन्य ।

लघुसरयेय

‘अपन्य सख्यात’ नामक सरया विशेष ।

लिखित

लिखा ।

लेखा

छह लेखापै ।

लोकाकाशप्रदश

लोक-भाकाशके प्रदेश ।

लोभ

‘लोभकथाय’ ।

लोभिन्

लोभकपायवाले जीव ।

वेदिकान्त

वेदिका तत्त ।







गा०	मा०	सं०	वि०
११, २२, ३४, ४४	गा०	सं०	वि०
५८--वेयति	वेयग [६६ १०]	वदक	५८--वेयति
२१, ४५, ५८, ६१--सग	सग	स	५८--वेयति
५२--सगवम	सग	स	५२--सगवम
७९--सगासल	सगपथाशत्	स	७९--सगासल
२४--सवेयर [९० १४, १७, ९१ १६, १९]	सगमासरय	स	२४--सवेयर [९० १४, १७, ९१ १६, १९]
१२, ३६--सठाण	सत्येतर	स	१२, ३६--सठाण
७, ८, ३, २३, ५५, ५९, ६०, २, ७९ } --सत	स्यस्थान	स	७, ८, ३, २३, ५५, ५९, ६०, २, ७९ } --सत
२, ३, ३, ४, ५, ६, ८, ९, १४, १७, १८, १९, २५, ३१, ४५, २ } --समि [१० १९, ५० ४]	समन्	स	२, ३, ३, ४, ५, ६, ८, ९, १४, १७, १८, १९, २५, ३१, ४५, २ } --समि [१० १९, ५० ४]
७, १४, ४५--समि	समिन्	स	७, १४, ४५--समि

अयापसमसम्यगृष्टि जीव ।  
स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ।

साण ।  
सत्तावन ।  
सातबौ असख्यात ।  
सत्य और असत्य ।

अपना अपना गुणस्थान ।  
सात ।

मनवाला प्राणी ।

चाया कमग्रन्थ



गा०	पा०	स०	हि०
१३, ४५—सत्रियर [६७ १६]	सखीतर	मनवाला और वे मन प्राणी ।	
६४, ६८—सन्निवाइय	सन्निपातिक	‘सन्निपातिक’ नामक एक भाव विशेष ।	
४०, ६२, ६९, ८२—सम	सम	बराबर ।	
२१, २८, ४२—समइ(ई)य	सामायिक	‘सामायिक’ नामक समय विशेष ।	
८२—समय	समय	कालका निर्विभागी अंश ।	
७८—समयपरिमाण	समयपरिमाण	समयोंकी मिकदार ।	
९, ४५, ६४, ६५, २, ७०—सम्म [४९ २५]	सम्यग्	‘सम्यग्दर्शन’ ।	
१४—सम्मत्ततिग	सम्यक्त्वत्रिक	‘औपशमिक’, ‘क्षायिक’ और ‘क्षायोपशमिक’ नामक तीन सम्यक्त्व विशेष ।	
२५—सम्भट्टग	सम्यक्त्वद्विक	‘क्षायिक’ और ‘क्षायोपशमिक’ ।	
४७, ५८—सयो(जो)गि	सयोगिन्	‘सयोगी’ नामक तेरहवों गुणस्थान ।	
४ ७१, ७७—सरिसव	सर्पप	सरसों ।	
३, ७१, ७६—सलाग [२१२ १२]	शलाका	‘शलाका’ नामक पत्य विशेष ।	
७१—सलागपल	शलाकापत्य	शलाकापत्य ।	

पा०

३६, ३९, ३०, }  
 ४०, ४०, ३६, } --सत्त्व  
 ४३, ४१ }

मं०

दि०

सप

सप ।

३१--सविहमरिय

सतिसयुत

११--सागर [५७८]

साकार

१२--सामाहय [५७२०]

सामायिक

५१--साय

सात

४३, }  
 ४६, } --सासा(म)न  
 ४७, } [६७१]

सासादर

४९--सासनभाव

सासादरभाव

८५--मिह

सिह

--सुअ(य) [५६६]

भुत

३, ३१, }  
 ४०, ५० } --सुका [६४२०]

शुका

८०--समय

शिया उपर तक भरा हुआ ।  
 आकारवाले विशेष उपयोग ।  
 'सामायिक' नामक संयम विशेष ।  
 सातपेदनीय कर्म ।  
 'सासादर' नामक दूसरा गुणस्थान ।

'सासादन' की अवस्था ।  
 मुक्त जीव ।

शास्त्र ।

'शुका' नामक छेदया विशेष ।

गुणयोग कहेत प्रमाण ।

कीया कर्मप्रप ।

गा०	प्रा०	स०	पि०
४१--सुयअज्ञाण	श्रुताज्ञान	'असाक्षान' नामक	मि०याज्ञान
१०, १४, १८, २६, ३०--सुरगण [५१ १३]	सुरगति	विशेष ।	देवगति ।
२, ५, १३, १८, २२, २९, ३७, ४१, ५८, ५९, ६१, ६२ } --सुदुम [९ १८, ६० २३]	सूक्ष्म	'सूक्ष्म' नामक	वनस्पतिकार्यके
८१--सुदुमत्यविचार	सूक्ष्मार्थविचार	जाव विशेष ।	
३, ७, २७, ४५, ५३, ६५, ६९, ७० } --सेस	शेष	'सूक्ष्मार्थविचार' अपर नामक यह	ग्रन्थ ।
५२, ५३, ५४, ५८--सोल ( स )	पोदश	वार्की ।	
४१, ४२, ४३, ४४--सख	सख्य	सोलह ।	
३९, ४१, ६२, ६३--सखगुण	सख्यगुण	सख्यातगुना ।	
१, ७१--सखिज्ज	सख्येय	सख्या ।	
९, ३४--सजम [४९ १८]	सयम	'सयम' ।	
५८--सजलणति	सजलननिक	सजलन क्रोध, मान और गाय ।	

गा०

भा०

७,८,६०—सत [६८]

६०—तनुदय

५१—ससदय [१७६९]

स०

सत्ता

सत्तोदय

सात्तायिक

हि०

‘सत्ता’ ।

‘सत्ता’ और ‘उदय’ ।

‘सात्तायिक’ नामक मिथ्यात्व  
विशय ।

कृ०

८६--इतर

१०,१४--इत

८०,८४--इतर

भवति

हेतु

भवति

हावा दे ।

सबब ।

होवा दे ।

चौथा कर्मप्रथ ।



५५